

॥ नामूलं लिख्यते किञ्चित् ॥

# इतिहास दर्पण ITIHAS DARPAN

अंक 20 ( 1 ) ( वर्ष प्रतिपदा )

Volume XX (1) (Varṣa Pratipadā)

कलियुगाब्द 5117, विक्रम संवत् 2072, ईसवी सन् 2015  
Kali Yugābda 5117, Vikrama Saṁvat 2072, i.e. CE 2015

*Editors :*

**T.P. Verma • Ravindra Kumar**



## अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना

बाबा साहेब आपटे स्मृति-भवन, 'केशव-कुञ्ज', झण्डेवाला, नयी दिल्ली-110 055

**AKHILA BHĀRATĪYA ITIHĀSA SAṅKALANA YOJANĀ**

Baba Sahib Apte Smriti Bhawan, 'Keshav Kunj', Jhandewalan, New Dehi-110 055

# ITIHAS DARPAN

Volume XX (1) (Varṣa Pratipadā)

Kali Yugābda 5117, Vikrama Saṁvat 2072, i.e. CE 2015

*Published by:*

## AKHILA BHĀRATĪYA ITIHĀSA SĀṆKALANA YOJANĀ

Baba Sahib Apte Smriti Bhawan, 'Keshav Kunj',

Jhandewalan, New Dehi-110 055

**Ph.:** 011-23675667

**e-mail:** abisy84@gmail.com

**Visit us at :** [www.itihassankalan.org](http://www.itihassankalan.org)



[www.facebook.com/akhilabharatiyaitihassankalanayojana](http://www.facebook.com/akhilabharatiyaitihassankalanayojana)

[www.facebook.com/itihasdarpan](http://www.facebook.com/itihasdarpan)

© **Copyright : Publisher**

### **Subscription:**

Institutions : ₹ 5,000.00 (Fifteen years)

Individual : ₹ 3,000.00 (Fifteen years)

Subscription be sent by D.D. or cheque in favour of '**Itihas Darpan**', to

### **Sri Balmukund Pandey**

Akhil Bharatiya Itihas Sankalan Yojana,

Baba Sahib Apte Smriti Bhavan, 'Keshav Kunj',

Desh Bandhu Gupta Marg, Jhandewalan, New Delhi -110 055

**This Journal is a referral volume.**

Typescripts whether in the form of articles or notes or book reviews, offered for publication, should be sent to the editors at

**Prof. Thakur Prasad Verma**

397-A, Ganga Pradushan Niyantran Marg, Bhagwanpur, Varanasi-221 005 (U.P.)

or

**Dr. Ravindra Kumar**

29E/B (UG-4), Forest View Apartments, DESU Road, Ward No. 1, Mehrauli, New Delhi-110030

We prefer CD/DVD of the article with details, including illustrations, preferably in MS Word or e-mail ([darpan.itihasa@gmail.com](mailto:darpan.itihasa@gmail.com); [tpverma2003@yahoo.co.in](mailto:tpverma2003@yahoo.co.in); [ravindrakumar1101@gmail.com](mailto:ravindrakumar1101@gmail.com)) with illustrations and tables, etc.

The editors are not responsible for the opinions expressed by the contributors.



# ITIHAS DARPAN

Volume XX (1) (Varṣa Pratipadā)

Kali Yugābda 5117, Vikrama Saṁvat 2072, i.e. CE 2015

## CONTENTS

●	भारत रत्न श्री अटल बिहारी वाजपेयी एवं भारत रत्न महामना पं० मदनमोहन मालवीय का अभिनन्दन	5
●	श्रद्धा-सुमन : श्री शरद अग्रवाल एवं श्री नरेन्द्र कुमार सिंह	9
1.	ऋग्वैदिक सरमा एवं पणि आख्यान का प्राचीन ग्रीक-पुराकथाओं में रूपान्तरण राजीव रंजन उपाध्याय	11
2.	भरहुत-स्तूप की बौद्ध कला का सामाजिक परिप्रेक्ष्य : एक विश्लेषण रुचि श्रीवास्तव	17
3.	Characteristics of Akhnur Terracotta : A probe Arjun Singh	24
4.	Reinvestigating Archaeology and History of the Harappan culture Ashwani Asthana	29
5.	धातु एवं पाषाण-आधारित औद्योगिक विकास का राज्य और सामाजिक संरचना पर प्रभाव : मौर्य काल के विशेष सन्दर्भ में सुबोध कुमार मिश्र	53
6.	गोपालकृष्ण का प्रतिमाविज्ञान प्रज्ञा चतुर्वेदी	57
7.	प्राचीन भारत का प्रमुख शिक्षा-केन्द्र नालन्दा अजय कुमार मिश्र एवं राखी रावत	63
8.	Three Glorious centuries of Hindu History : Early Indo-Islamic History (c. CE 640-1000) of Afghanistan and North-West India R.T. Mohan	70
9.	Ṭoṭeśvara Mahādeva Temple of Kadawāhā and its Inscriptions Arvind K. Singh	80
10.	चन्देलों के नवीन अभिलेख आशीष कुमार दुबे	93
11.	Raktamālā Copper-plate Grant of [the Gupta] Era 180 D.P. Dubey and S.K. Acharya	96
12.	जयचन्द्र का अयोध्या ताम्रपत्राभिलेख : संवत् 1243 ठाकुर प्रसाद वर्मा	102
13.	सिरवन्त ताम्रपत्राभिलेख (सिद्धार्थनगर, उत्तरप्रदेश) वि०सं० 1417 (ई० 1360) ठाकुर प्रसाद वर्मा	109
14.	Metaphysical Basis of Jain Ethical Tradition John Mohammad Paul	117
15.	Indo-Japan Common Social Customs : A Review G.K. Lama	120
16.	Role of Women in Ancient Indian Temples Pravin Kumar Sharma	132
17.	Ancient Indian Women and Their Activities Babita Kumari	135
18.	झालावाड़ के ऐतिहासिक एवं दर्शनीय स्थल ललित शर्मा	140
●	पुस्तक-समीक्षा	
1	प्राच्यबोध (संपादकत्रय : बी०आर० मणि, अरविन्द के० सिंह एवं रवीन्द्र कुमार)	बालमुकुन्द पाण्डेय 157
2.	मनु का दण्ड-विधान (ले०: डॉ० हर्षवर्धन सिंह तोमर, सं० अभिषेक कुमार मिश्र)	रत्नेश कुमार त्रिपाठी 160

# Contributors of this Volume

- **Dr. Ajay Kumar Mishra**  
Associate Professor, Dept. of Ancient History, Archeology and Culture, B.R.D.B.D. Post Graduate College, Ashram, Barhaj, Deoria (U.P.)
- **Dr. Arjun Singh**  
Assistant Professor, Chanderprabhu Jain College of Higher Studies & School of Law, Narella, Delhi (Affiliated to Guru Govind Singh Indraprastha University, Delhi)
- **Prof. Arvind K. Singh**  
Professor, A.I.H.C. & Archæology, Jiwaji Univerity, Gwalior-474011
- **Dr. Ashish Kumar Dubey**  
4A/2/1, Myorabad, Allahabad-211002 (UP)
- **Dr. Ashwani Asthana**  
Delhi Institute of Heritage Research and Management, 18-A, Satsang Vihar Marg, Qutub Institutional Area, New Delhi-110067
- **Dr. Babita Kumari**  
C/o Er. Gangadhar Jha, (Om Colony), North to M.R.D. Girls High School, At+PO (BAZAR) Sitamarhi-843302, Dist. Sitamarhi (Bihar)
- **Dr. Balmukund Pandey**  
Organising Secretary, Akhila Bhāratīya Itihāsa Saṅkalana Yojanā; Baba Sahib Apte Smriti Bhawan, 'Keshav Kunj, Jhandewalan, New Delhi-110055
- **Prof. D.P. Dubey**  
Dept. of A.I.H.C. & Archæology, Allahabad University, Allahabad-211002
- **Dr. G.K. Lama**  
Asst. Prof. (Archæology), Dept. of A.I.H.C. & Archæology, Centre of Advanced Study, Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi-221 005 (U.P.)
- **Shree John Mohammad Paul**  
Research Scholar, Vikram University, Ujjain (M.P.)
- **Shree Lalit Sharma**  
M/s Jacky Studio, 13 Mangalpura Street, Jhalawar-326001 (Rajasthan)
- **Dr. Pragya Chaturvedi**  
Senior Lecturer, Dept. of Ancient History, Archeology and Culture, Deendayal Upadhyay Gorakhpur University, Gorakhpur (U.P.)
- **Shree Pravin Kumar Sharma**  
Senior Research Fellow, Dept. of Ancient History, Archæology & Culture, Deendayal Upadhyay Gorakhpur University, Gorakhpur (U.P.)
- **Prof. Rajiv Ranjan Upadhyay**  
Retd. Professor, Cancer Research, Tabriz University, Iraq; Editor, '*Vijñāna-Kathā*', Res.: 'Vijñāna', Parisar Kothi, Kake Babu, Devkali Raod, Faizabad-224001 (UP)
- **Dr. Rakhi Rawat**  
Ranju Singh Collge, Sonari, Deoria (UP)
- **Dr. Ratnesh Kumar Tripathi**  
Research Associate, Indian Institute for Puraṇa Studies, Akhila Bhāratīya Itihāsa Saṅkalana Yojanā; Baba Sahib Apte Smriti Bhawan, 'Keshav Kunj, Jhandewalan, New Delhi-110055
- **Shree R.T. Mohan**  
Flat No. 401, Daffodil Block, Amaravati Enclave, Panchkula-Kalka Highway, Panchkula-134107 (Haryana)
- **Dr. Ruchi Srivastava**  
D/o Shree Jagannath Lal Srivastava, Rudrapur Road, Ward No. 8, Gauri Bazar, Deoria-274202 (U.P.)
- **Prof. S.K. Acharya**  
Dept. of History, Ravenshaw University, Cuttack, Odisha
- **Shree Subodh Kumr Mishra**  
Lecturer, Ancient History, Maharana Pratap Post Graduate College, Jungle Dhusad, Gorakhpur (U.P.)
- **Prof. Thakur Prasad Verma**  
Professor (Retd.), Deptt. of A.I.H.C. & Archæology, Banaras Hindu University; Residence : 397-A, Ganga Pradushan Niyantaran Marg, Bhagwanpur, Varanasi-221 005 (U.P.)

## भारत रत्न



मेरी कविता जंग का ऐलान है,  
पराजय की प्रस्तावना नहीं।  
वह हारे हुए सिपाही का नैराश्य-निनाद नहीं,  
जूझते योद्धा का जय-संकल्प है।  
वह निराशा का स्वर नहीं,  
आत्मविश्वास का जयघोष है।



—श्री अटल बिहारी वाजपेयी

—Bhagwat S. Goyal,  
*Values, Vision & Verses of Vajpayee :*  
*India's Man of Destiny*, p. iii



भारत रत्न

# श्री अटल बिहारी वाजपेयी

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक, प्रखर वक्ता, हिंदी के सिद्धस्त कवि, साहित्यकार, आलोचक, संपादकाचार्य, महान् राजनीतिज्ञ और भारतीय गणराज्य के पूर्व प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी (जन्म : 25 दिसम्बर, 1924 ई०, ग्वालियर) अपना 90 वसन्त देख चुके हैं। उनके 90वें जन्मदिवस पर भारत सरकार ने उन्हें देश के सर्वोच्च नागरिक अलंकरण 'भारत रत्न' दिए जाने की घोषणा की।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के मुखपत्र और देश के प्रमुख हिंदी-साप्ताहिक 'पाञ्चजन्य' के प्रवेशांक (मकर संक्रान्ति, 14 जनवरी, 1948 ई०) में उसके प्रथम संपादक श्री अटल बिहारी वाजपेयी की वीररस की विश्वप्रसिद्ध कविता 'हिंदू तन मन हिंदू जीवन, रग रग हिंदू मेरा परिचय' छपी थी। यह कविता उन्होंने कलकत्ता के श्रीबड़ाबाज़ार कुमारसभा पुस्तकालय के कौस्तुभ जयन्ती वर्ष समारोह (1994) में आयोजित एकल काव्य-पाठ के दौरान पढ़ी थी।

हिंदू तन मन हिंदू जीवन, रग रग हिंदू मेरा परिचय।  
मैं शंकर का वह क्रोधानल, कर सकता जगती क्षार क्षार,  
डमरू की वह प्रलयध्वनि हूँ, जिसमें नचता भीषण संहार।  
रणचण्डी की अतृप्त प्यास, मैं दुर्गा का उन्मत्त हास,  
मैं यम की प्रलयंकर पुकार, जलते मरघट का धुआँधार।  
फिर अन्तरतम की ज्वाला से, जगती में आग लगा दूँ मैं,  
यदि धधक उठे जल थल अम्बर, जड़ चेतन तो कैसा विस्मय !  
हिंदू तन मन हिंदू जीवन, रग रग हिंदू मेरा परिचय ॥ 1 ॥

# भारत रत्न

मैं आदिपुरुष निर्भयता का, वरदान लिए आया भू पर,  
पय पीकर सब मरते आए, लो अमर हुआ मैं विष पीकर ।  
अधरोंकी प्यास बुझाई है, मैंने पीकर वह आग प्रखर,  
हो जाती दुनिया भस्मसात, जिसको पल भर ही छूकर ।  
भय से व्याकुल फिर दुनिया ने, प्रारम्भ किया मेरा पूजन,  
मैं नर नारायण नीलकण्ठ, बन गया न इसमें कुछ संशय ।  
हिंदू तन मन हिंदू जीवन, रग रग हिंदू मेरा परिचय ॥ 2 ॥

मैं अखिल विश्व का गुरु महान्, देता विद्या का अमर दान,  
मैंने दिखलाया मुक्तिमार्ग, मैंने सिखलाया ब्रह्म ज्ञान ।  
मेरे वेदों का ज्ञान अमर, मेरे वेदों की ज्योति प्रखर,  
मानव के मन का अंधकार, क्या कभी सामने सका ठहर ।  
मेरा स्वर्ण नभ में गहर गहर, सागर के जल में क्षहर क्षहर,  
इस कोने से उस कोने तक, कर सकता जगती सौरभमय ।  
हिंदू तन मन हिंदू जीवन, रग रग हिंदू मेरा परिचय ॥ 3 ॥

मैं तेजपुञ्ज तम लीन जगत् में फैलाया मैंने प्रकाश,  
जगती का रच करके विनाश, कब चाहा है निज का विकास ।  
शरणागत की रक्षा की है, मैंने अपना जीवन देकर,  
विश्वास नहीं यदि आता तो, साक्षी है इतिहास अमर ।  
यदि आज देहली के खण्डहर, सदियोंकी निद्रा से जगकर,  
गुँजार उठें ऊँचे स्वर से, हिंदू की जय तो क्या विस्मय !!  
हिंदू तन मन हिंदू जीवन, रग रग हिंदू मेरा परिचय ॥ 4 ॥

दुनिया के वीराने पथ पर, जब जब नर ने खाई ठोकर,  
दो आँसू शेष बचा पाया, जब जब मानव सब कुछ खोकर ।  
मैं आया तभी द्रवित होकर, मैं आया ज्ञान दीप लेकर,  
भूला भटका मानव पथ पर, चल निकला सोते से जगकर ।  
पथ के आवर्तों से थककर, जो बैठ गया आधे पथ पर,  
उस नर को राह दिखाना ही, मेरा सदैव का दृढ़ निश्चय ।  
हिंदू तन मन हिंदू जीवन, रग रग हिंदू मेरा परिचय ॥ 5 ॥

मैंने छाती का लहू पिला, पाले विदेश के क्षुधित लाल,  
मुझको मानव में भेद नहीं, मेरा अंतस्थल वर विशाल ।  
जग से ठुकराए लोगों को लो मेरे घर का खुला द्वार,  
अपना सब कुछ हूँ लुटा चुका, पर अक्षय है धनागार ।  
मेरा हीरा पाकर ज्योतित, परकीयों का वह राजमुकुट,

यदि इन चरणों पर झुक जाए, कल वह किरीट तो क्या विस्मय !  
हिंदू तन मन हिंदू जीवन, रग रग हिंदू मेरा परिचय ॥ 6 ॥

मैं वीरपुत्र मेरी जननी के, जगती में जौहर अपार,  
अकबर के पुत्रों से पूछो, क्या याद उन्हें मीना बजार ।  
क्या याद उन्हें चित्तौड़ दुर्ग में जलनेवाली आग प्रखर,  
जब हाथ सहस्रों माताएँ, तिल-तिल जलकर हो गई अमर ।  
वह बुझनेवाली आग नहीं, रग रग में उसे समाए हूँ,  
यदि कभी अचानक फूट पड़े, विप्लव लेकर तो क्या विस्मय !  
हिंदू तन मन हिंदू जीवन, रग रग हिंदू मेरा परिचय ॥ 7 ॥

होकर स्वतन्त्र मैंने कब चाहा है, कर लूँ जग को गुलाम,  
मैंने तो सदा सिखाया है, करना अपने मन को गुलाम ।  
गोपाल राम के नामों पर, कब मैंने अत्याचार किया ?  
कब दुनिया को हिंदू करने, घर घर में नरसंहार किया ?  
कोई बतलाए काबुल में, जाकर कितनी मस्जिद तोड़ी ?  
भूभाग नहीं, शत शत मानव के, हृदय जीतने का दृढ़ निश्चय ।  
हिंदू तन मन हिंदू जीवन, रग रग हिंदू मेरा परिचय ॥ 8 ॥

मैं एक बिन्दु परिपूर्ण सिंधु है, यह मेरा हिंदू समाज,  
मेरा इसका संबंध अमर, मैं व्यक्ति और यह है समाज ।  
इससे मैंने पाया तन मन, इससे मैंने पाया जीवन,  
मेरा तो बस कर्तव्य यही, कर दूँ सब कुछ इसके अर्पण ।  
मैं तो समाज की थाती हूँ, मैं तो समाज का हूँ सेवक,  
मैं तो समष्टि के लिए व्यष्टि का, कर सकता बलिदान अभय ।  
हिंदू तन मन हिंदू जीवन, रग रग हिंदू मेरा परिचय ॥ 9 ॥





भारत रत्न

“

मुझे इत्र की गंध पसन्द नहीं, मुझे शील की गंध, चरित्र की गंध, धर्म की गंध और सबसे अधिक विश्वविद्यालय की सुगंध पसन्द है।

—पं० मदनमोहन मालवीय  
महामना की सचित्र जीवन-झाँकी,  
पृ० 98

”

# महामना पं. मदनमोहन मालवीय

(25 दिसम्बर, 1861–12 नवम्बर, 1946)

श्रीविश्वनाथ मन्दिर ( काशी हिंदू विश्वविद्यालय ) की आधारशिला पर उत्कीर्ण महामनाविरचित श्लोक

प्रसादाद्विश्वनाथस्य काश्यां भागीरथे तटे ।  
विश्वविद्यालयः श्रेष्ठो, हिंदूनां मानवर्द्धनः ॥  
हिंदूरान्याधिपतिभिर्धनिकैर्धार्मिकैस्तथा ।  
मिलित्वा स्थापितः सद्भिर्विद्याधर्मविवृद्धये ॥  
यत्र वेदाः सवेदाङ्गाः धर्मशास्त्रं च पावनम् ।  
इतिहास पुराणं च मीमांसा न्यायविस्तरः ॥  
सांख्ययोगौ च वेदान्तः आयुर्वेदः सुखावहः ।  
गान्धर्ववेदो मधुरो धनुर्वेदश्च नूतनः ॥  
आङ्गलं दण्डविधानञ्च दायभागादिसंयुतम् ।  
पाश्चात्याः विविधा विद्यास्तथा लोकहिताः कलाः ॥  
पाठ्यन्ते विधिवत्प्रेम्णा विज्ञानानि बहूनि च ।

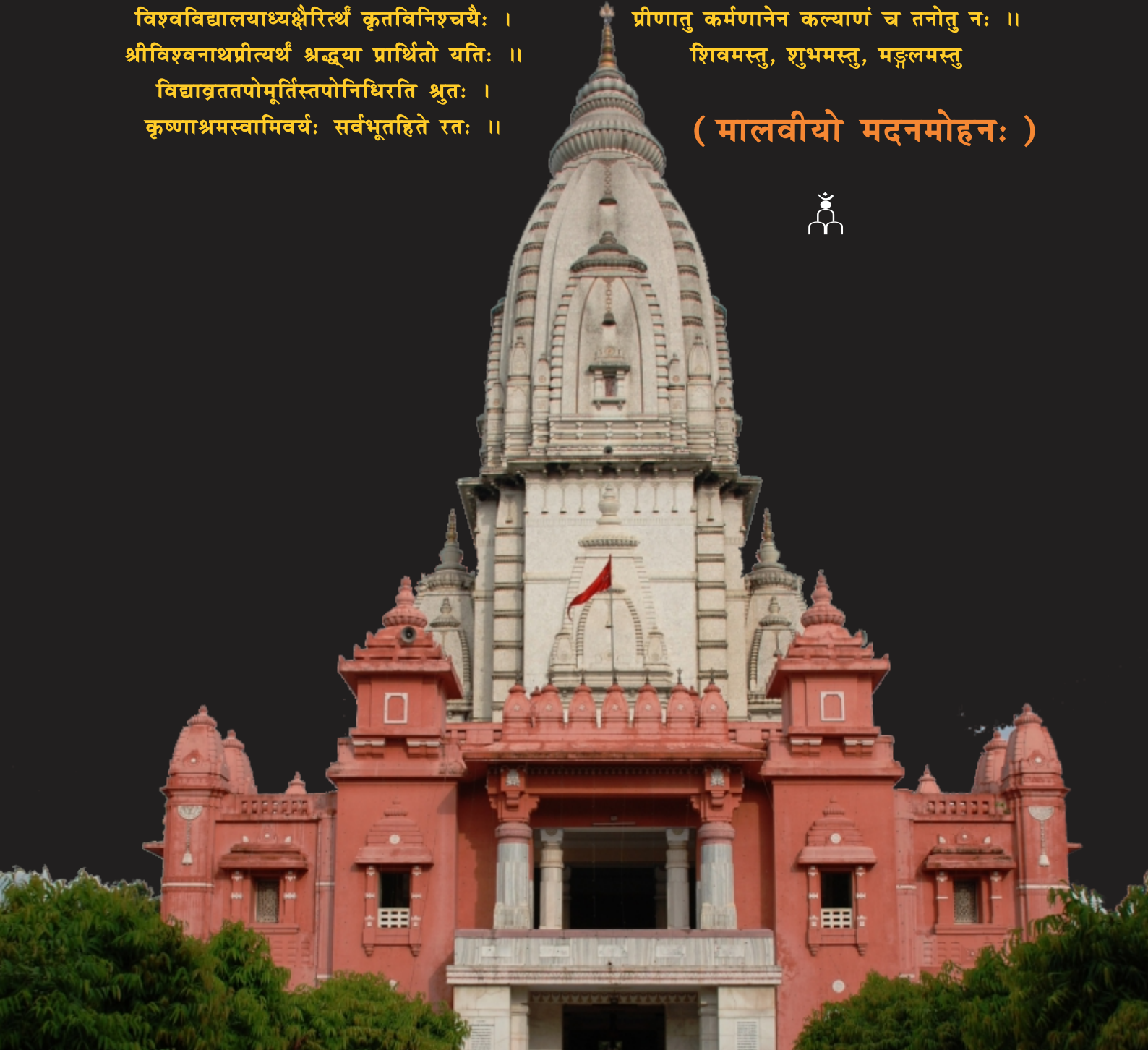


# भारत रत्न

साहाय्यार्थं च छात्राणां दीयन्ते वृत्तयस्तथा ॥  
सर्वप्रान्तसमायाताश्छात्राः विद्याभिलाषिणः ।  
वसन्ति सुखिनो यत्र पुरा गुरुकुले यथा ॥  
नित्यं निषेव्यते यत्र व्यायामः शक्तिवर्धनः ।  
व्याख्यानैश्च कथाभिश्च धर्मो यत्रोपदिश्यते ॥  
तस्मिन् विद्यालये स्फीते विद्यार्थिजनसङ्कुले ।  
स्थाप्यो देवालयो दिव्यः लोकमङ्गलकाम्यया ॥  
दर्शनं यत्र सम्प्राप्य विश्वनाथस्य मानवाः ।  
श्रुत्वा पुण्यां कथां धर्मे श्रद्धां भक्तिमवाप्नुयुः ॥  
विश्वविद्यालयाध्यक्षैरित्थं कृतविनिश्चयैः ।  
श्रीविश्वनाथप्रीत्यर्थं श्रद्धया प्रार्थितो यतिः ॥  
विद्याव्रततपोमूर्तिस्तपोनिधिरति श्रुतः ।  
कृष्णाश्रमस्वामिवर्यः सर्वभूतहिते रतः ॥

यो वै पुण्ये हिमगिरौ देशे गङ्गोत्तरीयके ।  
सेविते द्विजशार्दूलैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ॥  
वसन् द्वादशवर्षाणि, जटी मौनी दिगम्बरः ।  
भगवद्ध्याननिष्ठात्मा ह्यचरहुश्चरं तपः ॥  
विश्वनाथपुरीमत्य दर्शनात्पावयन् जनान् ।  
तरङ्गजरत्नेन्दुमितेब्दे वैक्रमे शुभे ।  
चैत्रमास्यसिते पक्षे चतुर्थ्यां शनिवासरे ॥  
प्राप्यानुज्ञां भगवतः शिलामेतां न्यवेशयत् ।  
सर्वदोषहरः शम्भुर्वरदो भक्तवत्सलः ।  
प्रीणातु कर्मणानेन कल्याणं च तनोतु नः ॥  
शिवमस्तु, शुभमस्तु, मङ्गलमस्तु

( मालवीयो मदनमोहनः )



## श्री शरद अग्रवाल

अ

खिल भारतीय इतिहास संकलन योजना के पश्चिम क्षेत्र के संगठन-सचिव स्व० शरद अग्रवाल से मेरी मुलाकात सात वर्ष पूर्व मुम्बई के चिन्तन-बैठक में हुई थी। पूर्ण आत्मविश्वास से परिपूर्ण मुस्कुराता हुआ एक युवा, जिसकी संगठन-क्षमता, दक्षता और

समर्पण से प्रभावित हुए बिना मैं नहीं रह सका था। स्व० श्यामलाल अग्रवाल और श्रीमती रामावती अग्रवाल के प्रथम पुत्र के रूप में शरद अग्रवाल का जन्म दिनांक 12 अक्टूबर, 1958 को बम्बई महानगर के बोरीवली में हुआ था। व्यवसायी परिवार में जन्म होने के कारण इन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी व्यवसाय करने का निर्णय लिया। बाल्यकाल से ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक होने के कारण व्यावसायिक शुचिता लाभ के सिद्धान्त से अधिक आवश्यक थी। उन्होंने सूखी मिठाई सोहनपापड़ी का निर्माण और वितरण का कार्य प्रारम्भ किया। कुछ ही दिन में गुणवत्ता के आधार पर बाज़ार में इनकी मिठाई प्रसिद्ध हो गयी। लेकिन अन्य व्यापारियों की अपेक्षा इनकी मिठाई महंगी होने के कारण इनके उत्पाद की मांग कम होती गई। जब इन्होंने पता किया कि अन्य निर्माताओं की मिठाई सस्ती क्यों है, तब पता चला कि अन्य निर्माता निम्न स्तर का पदार्थों का प्रयोग करते हैं। सबसे बुरी बात यह थी कि वे लोग वनस्पति तेल के स्थान पर जानवरों की चर्बी का प्रयोग करते थे। इसलिए उन्होंने उस व्यापार को तत्काल प्रभाव से बंद कर दिया। अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् के क्रियाशील कार्यकर्ता के रूप में वह विद्यार्थी जीवन में कार्यरत रहे। सन् 1992 में विश्व हिंदू परिषद् के आह्वान पर श्रीरामजन्मभूमि मुक्तियज्ञ के समय अयोध्या में उपस्थित होनेवाले तीन कार्यकर्ताओं में एक श्री शरद अग्रवाल भी थे। अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना के मार्गदर्शक मा० मोरोपन्त पिंगळे जी ने शरद जी को देखते ही उनमें इतिहास संकलन के लिए असीम सम्भावनाएँ दिखीं। इसी प्रकार दक्षिण के कार्यकर्ता और इतिहासकार श्रीराम साठे जी ने भी शरद जी को इतिहास संकलन के कार्य में लगाया। तब से वह अनवरत रूप से बाबा साहेब आपटे स्मारक समिति, महाराष्ट्र; भारतीय इतिहास संकलन समिति, कोंकण प्रांत आदि का कार्य करते रहे। 2007 में मेरे सम्पर्क में आने के पश्चात् शरद जी को 2009 में पश्चिम क्षेत्र के क्षेत्रीय संगठन-सचिव का दायित्व मिला, जिसका निर्वाह वह अबतक कर रहे



श्री शरद अग्रवाल

12 अक्टूबर, 1958-09 फरवरी, 2015

थे। विजिगीषु वृत्ति होने के कारण चुनौतीपूर्ण कार्य करने का उनका स्वभाव था। बोरिवली के पास मण्डकेश्वर गुफा, जो प्राचीन शिव मन्दिर है, पर ईसाई-मिशनरियों और असमाजिक तत्त्वों का आधिपत्य हो गया था। उस स्थान को पुनर्प्रतिष्ठित करना दुरूह कार्य था। किन्तु शरद जी ने सब प्रकार की शक्तियों का प्रयोग करके और स्वयं जोखिम उठाकर उस स्थान को मुक्त कराया। आज वह स्थान एक विशाल शिव-मन्दिर के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहा है तथा प्रतिवर्ष एक बड़े कार्यक्रम का आयोजन उस स्थान पर होता है। शरद जी एक बैंक-अधिकारी थे, लेकिन 'समय का अभाव है'— ऐसी बातें उनसे सुनने को नहीं मिलीं। अहर्निश प्रवास करके उन्होंने पश्चिम क्षेत्र में योजना का कार्य खड़ा किया और पूरे क्षेत्र में प्रतिष्ठा बनायी। दो वर्ष पहले पक्षाघात हो गया। मुम्बई के हिंदुजा अस्पताल में भर्ती थे। जब मैं

गया तो वह होश में थे लेकिन बोलने में कठिनाई थी। मैंने हनुमानचालीसा की एक चौपाई 'राम रसायन तुम्हरे पास सदा रहो रघुपति के दासा' बताई जिसे उन्होंने गुरुमंत्र के रूप में स्वीकार किया। मैं जब उनसे मिला तो उन्होंने यही कहा कि सभी प्रकार की 'पैथी' का उपयोग कर रहा हूँ, किन्तु मेरा स्वास्थ्य 'राम रसायन' से ही ठीक हुआ है। यह उनकी सात्त्विक प्रवृत्ति का उदाहरण है। रुग्णावस्था में भी अपनी पत्नी को साथ लेकर जब वह अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना की राष्ट्रीय कार्यकारी समिति की बैठक में दिल्ली पहुँचे, तब उनका अदम्य साहस, संगठन के प्रति समर्पण और विजिगीषु वृत्ति को देखकर सम्पूर्ण सभा भावविभोर हो गयी। बीमारी से लड़ते हुए भी वह संगठन के हितविस्तार तथा कार्यकर्ताओं के कुशलक्षेम के प्रति सदैव सावधान रहे। एक वर्ष पूर्व उन्होंने शारीरिक अक्षमता के कारण बैंक से अनिवार्य अवकाश तो लिया, लेकिन मुझसे दूरभाष पर बताया कि मैंने अब नौकरी से छुट्टी ले ली है और पूरा समय लगाकर संगठन का ही कार्य करूँगा। पालनपुर (गुजरात) में आयोजित 'चिन्तन बैठक' में उन्होंने अपने भाइयों को भी इतिहास संकलन से जोड़कर साथ-साथ कार्य करने की अनुमति मांगी थी।

जिस प्रकार शरीर पुराने कपड़े को अनुपयोगी समझकर छोड़ देता है और नया धारण कर लेता है, उसी प्रकार शरद जी अपने जीर्ण शरीर को छोड़कर नूतन शरीर धारण करने के ही उद्देश्य से शायद अपने ही घर में पुनः पक्षाघात के शिकार हो गये। 09 फरवरी, 2015 को वह प्रातःकाल गोलोकवासी हो गए। वह अपने पीछे अध्यापिका पत्नी श्रीमती रजनी अग्रवाल, चार पुत्रियों— सुश्री शिल्पा, मेघा, हर्षिता और अदिति को छोड़ गए हैं। इसके अतिरिक्त भाई भारतभूषण अग्रवाल, बहिन बिरमती अग्रवाल, शान्ती जैन एवं कंचना अग्रवाल हैं। योजना परिवार सम्पूर्ण रूप से इस परिवार के साथ है तथा सभी प्रकार के योगक्षेम में सहयोगी है। ईश्वर से प्रार्थना है कि जो कार्य शरद जी ने सोचा था, उसे पूरा करने में हम सभी सक्षम हों। संघ के विचार के अनुसार शरद जी पुनः स्वयंसेवक के रूप में भारतमाता के सेवा में लगे, इस विश्वास के साथ....

—बालमुकुन्द पाण्डेय

संगठन-सचिव,

अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना



### श्री नरेन्द्र कुमार सिंह

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वरिष्ठ प्रचारक, बिहार के पूर्व प्रान्त प्रचारक, पूर्व सैनिक सेवा परिषद् के राष्ट्रीय सह-संगठन मंत्री एवं अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना के राष्ट्रीय सह-संगठन मंत्री माननीय नरेन्द्र कुमार सिंह नहीं रहे। गत 06 फरवरी, 2015 को 65 वर्ष की आयु में पटना में उनका निधन हो गया। बाल्यकाल से ही कुश्ती के शौकीन नरेन्द्र जी ने संघ के विभिन्न दायित्वों का निर्वहन किया था। बी० एससी० एवं विधि की पढ़ाई पूरी करने के बाद वह 1975 में संघ के प्रचारक बने। आपातकाल के समय वह सीवान के जिला प्रचारक थे। उसके बाद मुजफ्फरपुर के जिला प्रचारक बनाए गये। 1980 में दरभंगा के विभाग प्रचारक तथा 1989 में उत्तर बिहार के सह-प्रान्त प्रचारक बनाए गये। सन् 1990 से 1994 तक उन्हें उत्तर बिहार के प्रान्त प्रचारक का दायित्व दिया गया। 1994 में जब संघ की योजनानुसार बिहार के तीन हिस्से हुए, तब वह दक्षिण बिहार के प्रथम प्रान्त प्रचारक नियुक्त हुए। 1999 तक वह इस दायित्व पर रहे। संघ की मीडिया के क्षेत्र में बढ़ती आवश्यकता को देखते हुए उन्हें 1999 में क्षेत्रीय प्रचार प्रमुख बनाया गया। 2001 में वह अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना के राष्ट्रीय सह-संगठन मंत्री बनाए गये। बाद में उन्हें पूर्व-सैनिक सेवा परिषद् का दायित्व दिया गया। दो भाइयों में ज्येष्ठ श्री नरेन्द्र जी सिवान जिलांतर्गत सिसवन प्रखण्ड के रामगढ़ गाँव के निवासी थे। अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना परिवार श्री नरेन्द्र जी के निधन पर उन्हें श्रद्धांजलि समर्पित करता है।

—संपादकद्वय

## ऋग्वैदिक सरमा एवं पनि आख्यान का प्राचीन ग्रीक-पुराकथाओं में रूपान्तरण

राजीव रंजन उपाध्याय \*

वर्णित है कि सर्वतोमुखी प्रजापति ब्रह्मा आदि वेदाचार्य थे। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय तथा संस्कृत साहित्य में समस्त विद्याओं के आगमभूत पद-प्रवक्ता ब्रह्मा ही थे। ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, आदि आद्य ऋषियों को वेदों का ज्ञान उपलब्ध किया। उसी के आधार पर लोकोपकारक समस्त विद्याओं का प्रवचन किया। यही भारतीय वाङ्मय में आदि वेदाचार्य कहलाए।<sup>1</sup>

महाभारत में वर्णित है कि अपान्तरतमा, जो 'प्राचीनगर्भ' के नाम से संबोधित हैं, ने कपिल और हिरण्यगर्भ आदि ऋषियों के साथ ऋग्वेदादि का सर्वप्रथम विभाग किया था—

‘अपान्तरतमा नाम सूतो वाक्संभवो विभो ।

भूतभव्यभविष्यज्ञः सत्यवादी दृढव्रतः ॥

अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्यः स उच्यते ।

प्राचीनगर्भ तमृषि प्रवदन्तीह केचन ॥’<sup>1</sup>

परन्तु ऋग्वेद कितना प्राचीन है, इस प्रश्न पर आधुनिक विद्वानों के मत भिन्न-भिन्न हैं। डेविड फ्राउले के अनुसार यह समय आज से 6,000 वर्ष पूर्व का हो सकता है। उन्होंने यह परिणाम वैदिक ग्रन्थों से वर्णित नक्षत्रों की स्थिति तथा अन्य साक्ष्यों के आधार पर निकाला है।<sup>2</sup> तिलक की भाँति वे भी इस पक्ष में हैं कि ऋग्वेद और अन्य वेदों

की रचना की समाप्ति आज से 4000 से लेकर 2000 वर्षों के अन्तराल में हुई होगी।<sup>3,4</sup> राजाराम का मत है कि वैदिक सूत्र-युग, सुमेरियन-अक्काडियन, मिस्र की सभ्यता तथा सिंधु घाटी की सभ्यता का समकालीन है। इस कारण ऋग्वेद में विद्यमान आन्तरिक साक्ष्यों के आधार पर यह माना जा सकता है कि ऋग्वेद के कुछ मंत्र अति प्राचीन हैं।<sup>5</sup> सम्भव है प्राचीन मंत्र, मण्डल में उस अन्तिम दिन युग की समाप्ति के उपरान्त प्रकट हुए होंगे, जब उत्तर भारतवर्ष की नदियाँ हिमयुग से मुक्त होने का प्रयास कर रही थीं,<sup>6</sup> जो अनुमानतः 20000-16000 ई०पू०, 4000 वर्ष के लघु हिमयुग की समाप्ति के उपरान्त प्रारम्भ हुआ होगा।

परन्तु इतना ही नहीं, ऋग्वेद के दशम मण्डल के 85वें सूक्त का 13वाँ मंत्र कहता है—

‘सूर्याया वहतुः प्रागात सविता यमवासृजत् ।

अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥’

सूर्य ने अपनी पुत्री सूर्या को जो सामग्री विवाह में दी, वह आगे चली। अघा (मघा) नक्षत्र में तो उसको ले चलनेवाले बैलों को पीटना पड़ता है, अर्जुनी (फाल्गुनी) नक्षत्र में गाड़ी वेग से चलती है।

आजकल 23 दिसम्बर साल का सबसे छोटा दिन होता है। उस दिन सूर्य मूल नक्षत्र में होता है। उसके बाद उसकी उत्तरायण गति प्रारम्भ हो जाती है। किसी समय अयन-परिवर्तन उस समय होता था जब सूर्य मघा में होता था। पूर्वी उत्तरा-फाल्गुनी में गति बदल जाती थी। मघा में सूर्य अगस्त में होता है मघा के बाद उत्तरायण का होना, यह आज से 17,000 वर्ष पहले होता था। यह पुरानी स्मृति इस मंत्र में विद्यमान है।<sup>7</sup>

यह सर्वविदित तथ्य है कि पुराकाल में उत्तर भारतीय क्षेत्र में

\* पूर्व प्रोफेसर, कैसर-शोध, तबरीज़ विश्वविद्यालय, तबरीज़, ईरान; संपादक, ‘विज्ञान-कथा’, आवास : ‘विज्ञान’, परिसर कोठी काके बाबू, देवकाली मार्ग, फैज़ाबाद-224 001 (उ०प्र०); दूरभाष : 05278-240176; सचलभाष : 09838382420; ई-मेल : rajeevranjan.fzd@gmail.com

भूगर्भिक परिवर्तन हुए थे। हिमालय समुद्र में जलमग्न था, विन्ध्य गिरि बहुत ऊँचा था। हिमालय क्रमशः समुद्र से बाहर निकला, समुद्र हटा, भूमि ऊपर आयी, भूकम्प आये, शनैः-शनैः पृथिवी स्थिर हुई, पर्वत स्थिर हुए— यह संकेत ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के 12वें सूक्त के दूसरे मंत्र में निहित है—

**‘यः पृथिवीं व्यथमानाभदृहद् यः पर्वतान् प्रकुयितां अरम्णात् ।  
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः ॥’**

वैदिक जनों के निवास स्थान के समीप समुद्र था। इसी का उल्लेख करते हुए करिक्रतु नामक ऋषि के सन्दर्भ में कहा गया है—

**‘उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः’**

—वही, 10.136.5

वे (ऋषि) पूर्व और पश्चिम दोनों समुद्रों तक जाते हैं। स्वाभाविक है कि यह मंत्र उत्तर स्थित थार-सागर की ओर संकेत करता है जो अति प्राचीन काल में उत्तर भारत में विद्यमान था<sup>7</sup> जहाँ आज थार की मरुभूमि है।<sup>8</sup>

महाभारत में वर्णित है कि गंगा बेसिन पूर्व में समुद्र था तथा यह ‘नदीसूक्त’ के काल तक विद्यमान था इसी कारण भारत के इस उत्तरी क्षेत्र का वर्णन ऋग्वेद में नहीं है।<sup>9</sup>

इसी प्रकार ऋग्वेद (3.33.2) में उल्लेख है कि पुराकाल में शुतुद्रि और विपाशा नदियाँ समुद्र में मिलती थीं, तथा सरस्वती पर्वत से निकलकर सागर में मिलती थी, (7.95.2) जो अब एक सत्यापित भूगर्भीय तथ्य है।<sup>10</sup> संक्षेप में, इन कुछ उपर्युक्त साक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए ऋग्वेद की ऋचाओं का सृजन-फलक मात्र दस-बीस हजार वर्षों में समेटने का प्रयास मात्र दुःसाहस है, जो न्यायोचित नहीं है।

ऋग्वेद के अन्य मण्डलों की भाँति, इसका दशम मण्डल अपेक्षाकृत नवीन प्रतीत होता है।<sup>11</sup> पुरुषसूक्त (मण्डल 10, सूक्त 90) नारायण को समर्पित है, जो स्वतः श्रीकृष्ण हैं और शान्तनु देवापि के कनिष्ठ भ्राता तथा महाभारत के कुरुवंश से संबंधित हैं।

ऋग्वेद के 10वें मण्डल के 98वें सूक्त के मंत्रदृष्टा देवापि अष्टिषेण हैं। इनके पिता का नाम ऋष्टिषेण था। निरुक्त (2.10) के अनुसार देवापि और शान्तनु कुरु वंश के दो राजा थे। देवापि बड़े थे, परन्तु अभिषेक शान्तनु का हुआ था, फलस्वरूप उनके राज्य में 12 वर्ष तक वर्षा नहीं हुई थी। फिर उन्होंने देवापि को राज्य देना चाहा, पर उन्होंने अस्वीकार कर दिया। देवापि ने स्वयं पौरोहित्य कर यज्ञ कराया, जिससे वर्षा हुई।

**यदेवापिः शंतन्वे पुरोहितो होत्राय वृत कृपयन्नदीधेत् ।  
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत् ॥**

—ऋग्वेद, 10.98.7

महाभारत के अनुसार राजा प्रतीक के तीन पुत्र थे— देवापि, शान्तनु एवं वाहलीक। देवापि ने तपोव्रत से ब्राह्मणत्व प्राप्त किया। आचार्य सायण ने इन्हें ‘ऋष्टिषेण पुत्रो देवापि नमिषि’ ऋष्टिषेण का पुत्र कहकर निरूपित किया है। सम्भव है प्रतीक का दूसरा नाम ऋष्टिषेण रहा हो। देवापि ने बृहस्पति की प्रेरणा से नये स्तोत्रों को उदित किया।

इनके विषय में आचार्य शौनक ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बृहदेवता में लिखा है कि ऋग्वेद के देवापि, महाभारत के देवापि हैं।<sup>12</sup>

यह तथ्य स्पष्ट रूप से इंगित करता है कि महर्षि व्यास के महाभारत-युद्ध की समाप्ति के उपरान्त, इस ग्रन्थ के त्रिवर्षीय प्रणयन काल में, पुरुषसूक्त के उक्त प्रगट हुए मंत्र ऋग्वेद के दशम मण्डल का अंश बन गए। इस प्रकार ऋग्वेद के प्रणयन की अन्तिम सीमा महाभारत के प्रणयन की अन्तिम सीमा 3700 ई०पू० से पूर्व की प्रतीत होती है।<sup>13</sup>

सम्भवतः इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते ऋग्वेद का कोई ऋषि यह नहीं कहता कि मंत्र पूर्व में विद्यमान नहीं थे। वह उद्घोष करता है— ‘पूर्ववेभिः ऋषिभिः..... नूतनाहि’। यह पुराकालीन वैदिक सम्यता आध्यात्म से ओतप्रोत थी।<sup>14</sup>

ऋग्वेद के 10वें मण्डल के 108वें सूक्त में सरमा और पणियों का संवाद वर्णित है।<sup>15</sup>

ग्रिफिथ<sup>16</sup> के अनुसार यह वार्तालाप देवदूती सरमा, इन्द्र की संदेशवाहिका और असुर-सम पणियों के मध्य देव-गो अथवा सूर्य-रश्मियों, जिनका हरण पणियों ने कर लिया था, उन्हें वापस देने के सन्दर्भ में वर्णित है। परन्तु मैकडॉनल<sup>17</sup> इससे भिन्न अर्थ करते हैं। पणियों और सरमा के संवाद को विद्वानों ने अपनी दृष्टि से देखा है, उसी भाँति यह आख्यान बहुआयामी भी है।

सूर्य के उदय और अस्त होने के शाश्वत चक्र ने, प्रारम्भ में वैदिक जनों को सोचने पर बाध्य किया होगा कि निश्चय ही कोई शक्ति सूर्य-रश्मियों का हरण कर रात्रि और उससे प्रबल शक्ति इन रश्मियों का उद्धार करके उस शक्ति को पराजित कर करती है।

प्रारम्भ में इन शक्तियों का कोई नाम नहीं रहा होगा। परन्तु वैदिक सभ्यता के क्रमिक विकास के परिणामस्वरूप ऋषियों को यह दृग्निषय व्यापार लगे होंगे, जो कालान्तर में कृपण पणियों से, कृपण वणिकों से तथा सूर्य रश्मियों-गो से संबद्ध होकर, देवदूती सरमा के स्वरूप में आख्यान बनकर मंत्रों के रूप में प्रगट हुए।

सरमा, इस प्रकार देवदूती बनकर अपहृत सूर्य-रश्मियों को

उषा के रूप में धरा पर ले आती है। वैदिक वाङ्मय में सरमा देवशुनी कही गयी है जिसके दो पुत्र श्याम और शावाल (चितकबरे) वर्ण के हैं, यह यम के श्वान हैं, जो देवयान और पितृयान मार्गों के रक्षक हैं।<sup>12</sup>

तथ्यतः देवयान एवं पितृयान की अवधारणा का विकास मृगशिरा नक्षत्र में बसंत निपात के उपरान्त प्रारम्भ हुआ होगा, क्योंकि पुराकालीन आर्यजनों का जीवन यज्ञादि के चतुर्दिक, शुभकर्मों के चारों ओर चक्रित रहता था। देवयान और पितृयान के द्वारों को सदा खुला रखने की प्रार्थना ऋग्वेद में की गई है। प्राचीन यूनानी-ग्रीक परम्परा में भी प्रचलित था कि सदकर्मा व्यक्ति कर्क और वृश्चिक राशि के मार्ग से चलकर स्वर्ग-द्वार तक पहुँचते हैं।<sup>12,3</sup>

इसी सन्दर्भ में यह चर्चा करना समीचीन होगा कि प्राचीन ईरानी आर्यों, जो कि वैदिक अनु एवं द्रुह्यु जनों के वंशज थे<sup>5</sup>, की अवधारणा थी कि अन्तरिक्ष-स्थित ऋतु-परिवर्तन बिन्दु एक सेतु है, जो स्वर्ग और नर्क के मार्ग को जोड़ता है। इस चिन्वास सेतु के रक्षक दो श्वान हैं, जो इस के दोनों सिरों पर रहते हैं तथा मृतात्मा को उस लोक में प्रवेश करने में सहायता करते हैं। यह चार आँखोंवाले श्वान यमलोक के रक्षक हैं।<sup>12</sup>

देवयान और पितृयान के इन रक्षक श्वानों को ऋग्वेद 'चतुर्क्षम्' और अवेस्ता 'चहार-चश्मन्' (चार आँखोंवाला कहता है।<sup>13</sup>

सरमा इन्द्र दूती के रूप में वर्णित है-

**‘इन्द्रस्य दूतीरिषता चरामि मह इच्छन्ति पणयो निधीन् वः ।  
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत् तथा रसाया अतरं पयांसि ॥’**  
—वही, 10.108.2

इसी भाँति पणि व्यापारी अथवा वणिक् के रूप में वर्णित हैं—

**‘अधि बृबुः पणीनां वर्षिष्ठे मूर्धन्नस्थात् ।  
उरुः कक्षो न गाङ्ग्यः ॥’**

—वही, 2.45.31

वे प्रतिस्पर्धी असुर हैं जो अपने धन की रक्षा करते हैं—

**‘दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्न निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।  
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जधन्वाँ अप् तद् ववार ॥’**  
—वही, 1.32.11.

वे गायों का हरण कर उन्हें गुफा में बन्द कर देते हैं (वही, 1. 32.11)। गायें प्रमुखतः प्रकाश की किरणें हैं जो अंधकाररूपी असुरों-द्वारा-पणियों द्वारा अपहृत कर ली जाती हैं। (वही, 11.111.2)।

वे जलद के समान हैं जो पणियों द्वारा छिपा दी जाती हैं। पणिजन गोधन, अश्वों को धन के रूप में एकत्र करते हैं। (वही, 1.83.

4)।

उपर्युक्त तथ्यों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि असुरसम पणि रात्रि में सूर्य-रश्मियों का हरण कर लेते हैं जिन्हें सरमा-रूपी उषा प्रतिदिन छीन लाती है। यही सरमा और पणियों की कथा का प्रस्थान बिन्दु है-उद्भव बिन्दु है। यही कथ्य तथ्य का रूप धारण कर मानव चेतना में सुदीर्घ काल तक वास करता रहा है।

सरमा आख्यान का परिवर्तित रूप ग्रीक एवं ट्यूटानिक (Teutonic) मिथकों में विद्यमान है। परन्तु ग्रीक-मिथकों में यह वैदिक देव पूषन से संयुक्त होकर सर्वथा एक नवीन चरित्र में परिवर्तित हो जाता है। इस कारण देव पूषन के वैदिक पक्ष पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

ऋग्वेद में पूषा देवता को प्रमुख देव के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। पूषन शब्द पुष् धातु से बना है, जिसका अर्थ है पोषक, पुष्ट करनेवाला। ऋग्वेद में पूषा देवता सूर्य की कल्याणकारी एवं मानवों को पुष्टि प्रदान करनेवाली शक्ति के रूप में वर्णित हैं। सूर्य देवता की भाँति ही वे सभी को स्पष्ट रूप से देखते हैं तथा विश्व का अवलोकन करते हैं।<sup>14</sup> वे सविता देवता की प्रेरणा से विचरण करते हैं।<sup>15</sup> उनसे दीर्घायु एवं वर्चस् की अभिवृद्धि हेतु प्रार्थना की गई है।<sup>16</sup> पूषा देव मार्ग के विघ्नों, वृकों, दस्युओं से रक्षा करते हैं।<sup>17</sup> उनकी स्तुति ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के 16-19 सूक्तों में विद्यमान है। उनसे एक सूक्त में ‘काकम्बीर’ वनस्पति को नष्ट न होने देने की प्रार्थना की गई है।<sup>18</sup>

मूलभूत रूप से पूषण आदित्य हैं। वे उदीयमान सूर्य का स्वरूप हैं। सायणाचार्य के अनुसार पूषन की भगिनी उषा है। ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में अश्विन को पूषन कहा गया है, परन्तु पूषन मुख्य रूप से मार्गदर्शक तथा मार्ग सुरक्षा प्रदाता हैं जिसकी चर्चा ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में की गई है।<sup>19</sup> पूषन भटकते हुए पशुओं के खोजने में भी सहायक हैं, इसी कारण वे ‘पशुपा’ हैं।<sup>20</sup>

पूषन के रथ को अज-छाग-बकरे-खींचते हैं,<sup>21</sup> वे अज के संरक्षक हैं तथा उनके कर्ण अजाश्व की भाँति हैं। यह तथ्य ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में प्रतिध्वनित होता है।<sup>22</sup>

पूषण मृतकों को उनके पूर्वजों द्वारा गए मार्ग पर ले जाने में सहायक हैं।<sup>23</sup>

वैदिक काल की समाप्ति के उपरान्त पूषन की चर्चा-उपासना क्यों अवरुद्ध हो गई, यह स्पष्ट नहीं है; क्योंकि प्राचीन पुराणों में भी उनकी चर्चा नहीं है। इसके ठीक विपरीत पणि और उसका किञ्चित् परिवर्तित रूप वणि जिससे वाणिज्य, पण्य, आपण्य, आपणियका पण, आदि शब्द उद्भूत हुए हैं, आज भी प्रचलित हैं।<sup>24</sup>

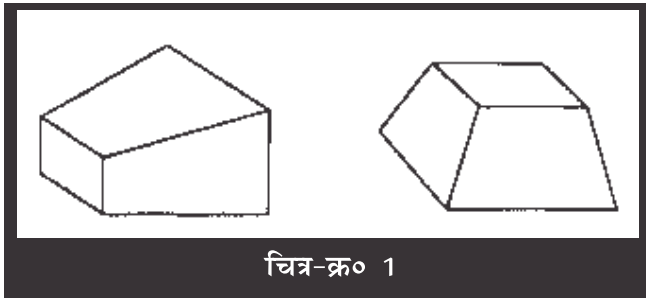
### प्राचीन ग्रीक-आख्यानो में सरमा और पणि

सरमा और पणि प्राचीन आख्यानो में हरमेस (Hermes) और उसके पुत्र पान में परिवर्तित हो जाते हैं। उनमें वैदिक देव पूषन के चरित्र तथा छाग-बकरी के गुणों का मिश्रण भी विद्यमान है। दूसरे शब्दों में हरमेस (Hermes) वैदिक सरमा, सरमेय, पणियों और पूषन के गुणों का मिश्रित प्रारूप है। तथ्यतः हरमेस स्वतः सारमेय का परिवर्तित उच्चारण है। हरमेस के पुत्र पान का उद्भव कारक शब्द 'पणि' है। सरमा देव दूती है, विशेषकर इन्द्र की, उसी भाँति हरमेस ग्रीक देव जीयस (Zeus) का दूत है।<sup>25</sup>

वैदिक 'द्यौः' शब्द से जीयस-ग्रीक देव उद्भूत है। यह ग्रीकजनों का देवराज है। यही द्यौःध्यतः (ऋग्वेद, 6.51.5)। 'द्यौः पितर' रोमन जनों का जूपिटर हो गया है।<sup>6</sup>

सारमेय मृत आत्माओं के मार्गदर्शक हैं, वे उन्हें यम तक ले जाते हैं<sup>12</sup> यही कार्य पूषन भी संपादित करते हैं, वे मृतात्माओं को उनके पूर्वजों के मार्ग पर ले जाते हैं।<sup>11</sup>

हरमेस 'अंडरवर्ल्ड' से संबंधित है, वह मृतात्माओं को वहाँ ले जाता है। यहाँ पर यह उल्लेख करना रोचक होगा कि यम-हर्म्य, जो अथर्ववेद में वर्णित है, तथ्यतः शवाधान का द्योतक है। यही वैदिक कल्पसूत्र युग (2700 ई०पू०) की श्मशान चिन्ता है, जिसके प्रतिपादक महान् भारतीय गणितज्ञ महर्षि बोधायन हैं (3000 ई०पू०)<sup>9</sup> और इसी का परिवर्तित स्वरूप प्राचीन मिस्र की तृतीय सत्ता-डायनेस्टी द्वारा निर्मित मस्तावा है।<sup>1</sup> (चित्र-क्र० 1)। यही अंडरवर्ल्ड है।



चित्र-क्र० 1

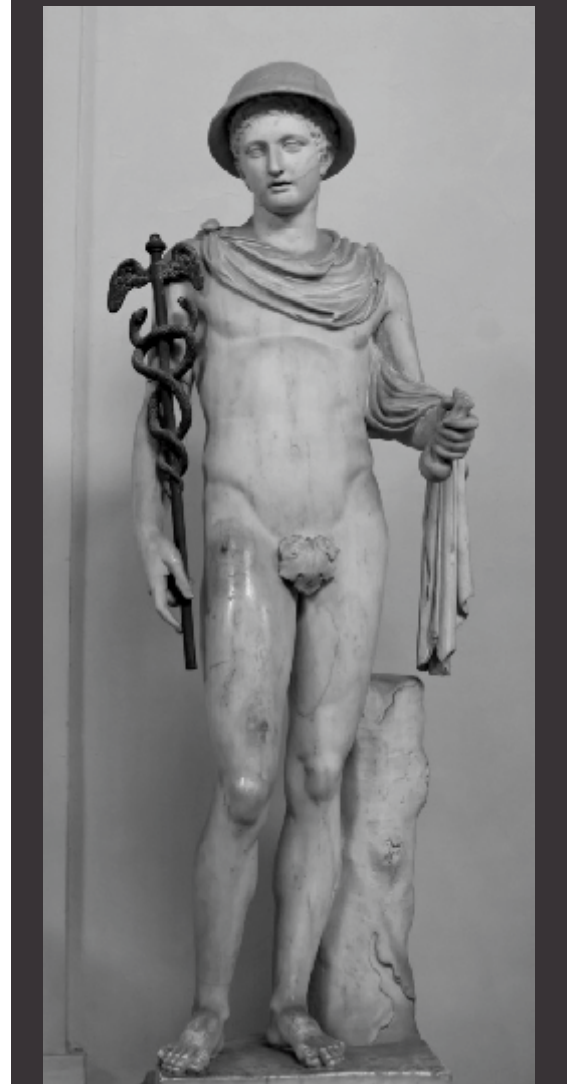
पणि-वणिक हैं, व्यापारी हैं तथा 'पान' शब्द का अर्थ है दाँव लगाना, गिरवी रखना-जो व्यापार में समान्यतः प्रचलित था और आज भी है।<sup>26</sup>

इसी भाँति हरमेस-व्यापार का देवता है, लाभप्रदाता है जो क्रीड़ा और दाँव लगाने से भी जुड़ा है।<sup>25</sup> कालान्तर में ग्रीक-देवपरिवार एवं ग्रीक-पुराख्यानो का रोमनों द्वारा स्वीकृत किए जाने के उपरान्त हरमेस का स्वरूप परिवर्तन मरकरी (Mercury) में हो गया, जो उनके पूर्ववर्ती इत्रुस्कन जनों का व्यापार का देवता था।<sup>27</sup>

ग्रीक-पुराख्यानो की रोमनों द्वारा स्वीकार्यता उनके मूलभूत रूप से वैदिक द्रुह्य-शाखा के होने के कारण हो सकती है। क्योंकि वे श्रेष्ठ हेप्लो ग्रुप क्रोमोसोमधारी भारतीय उद्ब के जन थे<sup>28</sup> तथा इनके द्वारा भारतीय-वैदिक संस्कृति का विस्तार इटली एवं समीपवर्ती सभी क्षेत्रों में प्रारम्भ हो गया। इसके साक्ष्य उन सम्यताओं से प्राप्त अवशेषों में निहित हैं।<sup>27</sup>

'मरकरी' शब्द मेरेक्स (Merx) धातु से बना है जिसका अर्थ मर्चेन्डाइज व्यापार की वस्तुएँ होता है तथा 'मरकरी' शब्द दाम और व्यापार के अर्थ में भी व्यवहृत होता है। इस प्रकार मरकरी पूर्णरूपेण व्यापारिक देवता है।<sup>25</sup>

क्लासिकल-ग्रीक मूर्तिकला में हरमेस एक स्वरूपवान, पंखयुक्त सैडिल, हेलमेट-शिरस्त्राण और दण्ड, जिसपर दो सर्प लिपटे रहते हैं, युक्त दिखाया जाता है (चित्र-क्र० 2)।



चित्र-क्र० 2

परन्तु हरमेस के कार्य और उसके गुण इस स्वरूपवान मूर्ति की अवधारणा के विकसित होने के पूर्व आवश्य ही श्वान के रहे होंगे; क्योंकि पुराकालीन ग्रीस में हरमेस पशुपालकों-गड़ेरियों द्वारा पूजित था। यह उनके पशुधन और झोपड़ियों का रक्षक था। इसी हेतु ग्रीकजन अपने द्वार के सम्मुख हरमेस की एक अपरिष्कृत-अनगढ़ प्रतिमा रखते थे।<sup>25</sup>

हरमेस का दूसरा दायित्व मृतात्माओं को अंडरवर्ल्ड तक ले जाना था। यह कार्य विश्व के विविध पुराध्यानों में श्वान द्वारा संपादित किया जाता है। यह ऋग्वेद और आवेस्ता ही नहीं, वरन इजिप्शियन-मिस्र के मिथकों में-शृगाल सर युक्त अनुबिस (Anubis) देव के रूप में चित्रित है।<sup>29</sup> अनुबिस-रक्षक है और श्वानों का संरक्षक है।<sup>30</sup> यह उपान्त (Upuant) के साथ मृतक स्थलों-शवाधानों का रक्षक है और उनको अन्तिम निर्णय कक्ष (judgement-chamber) जो प्रारम्भिक मस्तावा और कालान्तर का विरामिड है, तक ले जानेवाला देव भी है।<sup>29</sup>

पुराकालीन ग्रीक-कथाओं में पान (Pan) की गुफाओं का वर्णन है। इसमें पशुपालक, प्रतिकूल परिस्थिति में अपने गोधन-पशुओं को रखते थे, ठीक पणियों की भाँति जो इन्द्र की गायों को गुफा में छिपा देते थे।

ग्रीक-मिथकों में पान जंगल, पशुओं, शिकार और ग्रामीण संगीत का देवता माना जाता है। यह परियों का साथी है, मित्र है। यह अवधारणा है कि इसके पिछले पैर, पृष्ठभाग तथा सर अज-बकरी के हैं भाँति (चित्र-क्र० 3), जो वैदिक देव पूषन के स्वरूप का प्रतिबिम्ब है तथा यह प्रजनन से संबंधित है।<sup>31</sup>

पुनः यहाँ पर वैदिक देव पूषन का रथ खींचनेवाला छाग-बकरा वैदिक पणि-पान के स्वरूप में परिवर्तित हो जाता है जो एक रोचक कथा-परिवर्तन है।

प्राचीन ग्रीक-कथाओं में जीयस के श्वान को पानडेरुस (Pan-dareus) नामक व्यक्ति चुरा लेता है। यही जीयस वैदिक इन्द्र का समकक्ष है तथा इस मिथक में पणि-पानडेरुस (Pan-dareus) गायों के स्थान पर श्वान को ही चुरा लेता है जिसको हरमेस और आइसिस छुड़ाते हैं। यहाँ पर ध्यान देने योग्य तथ्य है कि एक नवीन चरित्र आइसिस सरमा का स्थान ले लेती है।<sup>25</sup>

एक अन्य ग्रीक-पुराकथा में Hermes, सरमा और पणि का एकीकृत स्वरूप बन जाता है। वह अपने जन्म के तत्काल बाद अपोलो की गायों (वैदिक-सूर्य रश्मियों) को चुरा लेता है। अंधकार में वह 50 गायों को सरिता अलफेनस (Alphenus) के तट पर बन्द कर देता है। बाद में जीयस हरमेस को उन्हें लाने का निर्देश देता है।



चित्र-क्र० 3

इस रोचक आख्यान में वैदिक सरिता रसा (Rasa)<sup>11</sup> ग्रीक अलफेपस में परिवर्तित हो जाती है। इसी कारण लारुस विश्वकोश में वर्णित है कि यह ग्रीक आख्यान वैदिक सरमा के बिम्बों से युक्त हैं।<sup>25</sup>

#### सन्दर्भ :

1. महाभारत, शान्तिपर्व
2. नवरत्न एस० राजाराम एवं डेविड फ्राउले : वैदिक आर्यन्स एण्ड द ओरीजिन ऑफ सिविलाइजेशन, चतुर्थ संस्करण, वायस ऑफ इण्डिया, 2/18 अंसारी रोड, नयी दिल्ली-110 002, 2014 पृ० 220, 228, 226, 244, 184, 290
3. बालगंगाधर तिलक : ओरीयन : ए सर्व इन टू एन्शियन्टनेस ऑफ आर्यन

- वैदिक कल्चर, विजय गोयल, 16, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032, 2010
4. भगवान सिंह : द वैदिक हडप्पन्स, आदित्य प्रकाशन, एफ 14/15, मॉडल टाउन 2, नयी दिल्ली-110 009
5. श्रीकान्त तलागिरी : द ऋग्वेद : ए हिस्टोरिकल एनालिसिस, आदित्य प्रकाशन, एफ 14/65, मॉडल टाउन-2, दिल्ली-110 009, 2004, पृ० 93, 260, 482, 483
6. डॉ० सम्पूर्णानन्द : हिंदू देवपरिवार का विकास, मित्र प्रकाशन प्रा० लि०, इलाहाबाद, 1964, पृ० 41-45, 19
7. ठाकुर प्रसार वर्मा : 'सरस्वती : द सिविलाइजेशन एण्ड द रिवर', इतिहास दर्पण, 18 (2), 2013, पृ० 233-266
8. ठाकुर प्रसाद वर्मा : ऋग्वेद के सात सूक्तों का वैज्ञानिक विवेचन, बी०आर० पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन, दिल्ली-110 052, 2014, पृ० 4
9. ऋग्वेद, प्रकाशक: युगनिर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा-281 003, पृ० 203, 10: 98.7,
10. ग्रिफिथ, राल्फ, टी०एच० : हाइम्स ऑफ ऋग्वेद, मुंशीराम मनोहरलाल, प्रा०लि०, नयी दिल्ली-110 009
11. मैकडोनाल्ड, ए०ए० : द वैदिक माइथोलॉजी, इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, वाराणसी, 1963, अध्याय 3:56, 4: 14-19, 7:30, 8:49, 173-174
12. राजीव रंजन उपाध्याय : 'ऋग्वैदिक ग्रह-नक्षत्रों से संबंधित कुछ तथ्य एवं मिथक', इतिहास दर्पण, 17 (1), 2012, पृ० 4-9
13. ऋग्वेद, 10, 14, 11. एवं आवेस्ता-वेन्दीदाद, 3, 16, तथा मिल्स, एच०एच० : सेक्रेड बुक्स लिटुर्गी एण्ड गाथाज़, हाइम्स ऑफ जरशेस्ट-आवेस्ता-यसना
14. ऋग्वेद: विश्वो मन्यो अभिचक्षाण एति 12, 40, 5
15. यजुर्वेद: तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान-17,58
16. तैत्तिरीयब्राह्मण : पूषण : पोषेण मह्यं दीर्घयुत्वाय शतशरदाय शत शरदभ्या : आयुषे वर्चसे- 1,2 1, 19
17. ऋग्वेद : योनः पूषन्नद्यो वृको दुःशेव आदि देशाति । अप स्मत्तं पथो जाहि । 1, 42, 2.
18. वही : मण्डल 6, सूक्त 48, 16-19
19. वही : 1,42, 1-3, :6,54,9, : 10, 59, 7.
20. वही : अजाश्व पशुपा वाजस्तयो धियजिन्वो भुवने विश्वेअर्पित : 6, 58, 2.
21. वही : अजा अन्यस्य वहयोहरि अन्यस्य सम्भृता । 6,58.3
22. वही : मण्डल- 1, 138, 4, 162, 2-4, मण्डल-6, 55, 3, 4, 6, 57, 3, 58, 2, मण्डल-9, 67, 10, मण्डल-10, 26, 8,
23. वही : मण्डल-10 17, 3, आयुर्वितश्वायः परिपासति त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात 10, 17, 4,
24. वही : मण्डल-1, 122, 11, मण्डल-5, 45, 6.
25. लारुस इनसाइक्लोपीडिया ऑफ मायथोलॉजी : रिचर्ड एडलिंगटन एवं डिलानो एम्स द्वारा अनुदित, वैचवर्थ प्रेस लि०, 1959, पृ० 133, 136, 220, 157
26. मालती, जे० शेन्डगे : द सिविलाइज्ड डेमन्स, द हडप्पन्स इन ऋग्वेद, अभिनव प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1977, पृ० 46
27. राजीव रंजन उपाध्याय : 'इटली की प्राचीन इन्नुस्कन सभ्यता में निहित वैदिक तथ्य एवं शवाधानों की भित्तियों एवं पात्रों पर उत्कीर्ण रामायण-चित्र', इतिहास दर्पण, 18 (2), 2013, पृ० 215-232

28. राजीव रंजन उपाध्याय : 'ग्रीस और पश्चिमोत्तर भारत के स्थानवाची नामों की उभयनिष्ठता एवं भारतीयों का उन क्षेत्रों के विकास में अवदान', इतिहास दर्पण, 19 (1), 2014, पृ० 38-54, 2014 एवं सन्दर्भ 2 तथा 27.
29. साइम्स, एर्गटन एवं डेन्टर, जे०एम० द्वारा प्रकाशित एब्री मैन्स डिक्शनरी ऑफ नान क्लासिकल मायथोलॉजी, अध्याय-10, पृ० 54-61.
30. राजीव रंजन उपाध्याय : 'कुशद्वीप और मित्र का वैदिक अतीत', इतिहास दर्पण, 18 (1), 2013, पृ० 75-87
31. पान : विकिपीडिया



### भूल-सुधार

‘इतिहास दर्पण’ के गतांक ( 19.2 ) में प्रकाशित राजीव रंजन उपाध्याय के शोध-पत्र ( प्राचीन ग्रीस के एटिका-एथेंस के कुरु एवं भरतजन तथा उमासूना-आमेजंस ) ( पृ० 207 ) में सन्दर्भ से पूर्व छूटी पंक्तियाँ

यहाँ पर यह इंगित करना समीचीन होगा कि मध्य एशिया, यूरोप<sup>8,5</sup> तुर्की<sup>25</sup> इराक, पैलेस्टाइन, मित्र<sup>12</sup> आदि देश पुराकाल से ही भारतीय वैदिक संस्कृति से प्रभावित रहे हैं<sup>17</sup> इस कारण अधिक सम्भव लगता है कि ये पार्वतीपुत्रियाँ-रणचण्डियाँ, जो ‘उमासूना’ कही जाती रही हों, ग्रीक भाषा के प्रभाव से ‘आमेजन’ नाम से सम्बोधित की जाने लगी हों; क्योंकि उनकी चर्चा करते हुए जूलियस सीजर ने कहा था, ‘आमेजनों ने एशिया के बृहत् भूभाग पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था ।’

—संपादकद्वय

## भरहुत-स्तूप की बौद्ध कला का सामाजिक परिप्रेक्ष्य : एक विश्लेषण

रुचि श्रीवास्तव \*

**भा**रतीय संस्कृति के वास्तु-इतिहास में भरहुत स्तूप (चित्र-सं० 1) का अद्वितीय स्थान है। प्रयाग से 120 मील दक्षिण-पश्चिम में भरहुत नामक ग्राम में यह स्तूप स्थित था। सर्वप्रथम 1873 ई० में कनिंघम ने इस स्तूप की खुदाई की और 1874 ई० में इसको पूर्णतया उद्घाटित किया। तत्पश्चात् इसकी अवशिष्ट वेदिकाएँ और प्रवेश-द्वार कलकत्ता ले जाये गये जहाँ यह राष्ट्रीय संग्रहालय में 'भरहुत वीथि' के नाम से विख्यात है।<sup>1</sup>

भरहुत-स्तूप के तोरणों और वेदिकाओं पर अंकित सामाजिक जीवन के विविध स्वरूपों को दर्शाने का श्लाघनीय प्रयास शिल्पियों द्वारा किया गया है। यद्यपि बुद्ध की पूजा को लक्ष्य बनाकर इसमें मूर्ति सज्जा की गयी है तथापि तत्कालीन जीवन के विविध पक्ष अनायास ही भरहुत की कला में समाहित हो गये। यहाँ वर्णाश्रम-व्यवस्था, पारिवारिक जीवन, शिल्प एवं व्यवसाय, तत्कालीन लोक परम्पराएँ, धार्मिक विश्वास, उत्सव आदि का विस्तृत रूपांकन किया गया है।

वैदिक धर्म की सामाजिक व्यवस्था के आधार पर इसमें चातुर्वर्ण्य की मान्यता स्पष्ट होती है। यद्यपि बौद्ध सम्प्रदाय में वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई स्थान नहीं है। इस सम्बन्ध में रमानाथ मिश्र का विचार है कि 'ईसा पूर्व द्वितीय शती में वर्णाश्रम धर्म की स्थापना हो चुकी थी, परन्तु भरहुत के विषयों का मूल परिवेश बौद्ध विचाराधारा से प्रभावित है। अतः भरहुत में अंकित समाज का वर्गीकरण वर्णाश्रम-व्यवस्था के आधार पर करना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता'।<sup>2</sup>

ब्राह्मणों से संबंधित अनेक दृश्य भरहुत-शिल्पांकनों में प्राप्त

होते हैं। इन्हें राजकीय संरक्षण भी प्राप्त था।<sup>3</sup> जातकों में ब्राह्मणों के चरित्र-संबंधी विभिन्न गुण-दोषों का उल्लेख मिलता है। दम्पसाटक<sup>4</sup> जातक का ब्राह्मण अपने वेदज्ञान से भ्रमित था किंतु विधुरपण्डितजातक का विधुर पण्डित अपने ज्ञान के कारण सम्मानित था।<sup>4a</sup> भिसजातक<sup>5</sup> (चित्र-सं० 2) में ब्राह्मण तपस्वियों का उल्लेख है, जो धर्म में निरत थे। इस कथा का मूल रूप ऐतरेयब्राह्मण<sup>6</sup> तथा महाभारत<sup>7</sup> में प्राप्त होता है।

राजाओं से संबंधित विभिन्न दृश्यों में उनके जीवन के विविध पक्षों का निरूपण मिलता है। कोसल के राजा प्रसेनजित बुद्ध के दर्शनार्थ आए (चित्र-सं० 3) और उनकी वन्दना करते हुए दिखाए गए हैं।<sup>8</sup> एक अन्य दृश्य में हाथी पर सवार राजा अजातशत्रु लम्बे जुलूस के आगे आते हुए दिखाया गया है (चित्र-सं० 4)।<sup>9</sup> इन दृश्यों के द्वारा शिल्पियों ने बुद्ध के जीवन की ऐतिहासिक घटनाओं की ओर संकेत किया है।

क्षत्रिय वर्ग में राजा सदैव कुलीन तथा पुण्य के पुतले नहीं हैं वरन् साधारण मनुष्यों की भाँति चारित्रिक दोषों से भी ग्रस्त हैं। एक वेदिका स्तम्भ पर अडण्भूतजातक<sup>10</sup> का अंकन है जिसमें घृतव्यसनी राजा का वर्णन प्राप्त होता है। यह राजा अपने पुरोहित के साथ घृत-क्रीड़ा में रत है। इससे स्पष्ट है कि पुरोहित-जैसा धार्मिक कर्मकाण्ड से संबंधित व्यक्ति भी अपने व्यसन पर नियन्त्रण नहीं रख पाते। सम्भवतः मर्यादा के बंधन सामान्यतया जटिल नहीं थे। अथवा यह उस काल में समाज-स्वीकृत मनोरंजन था।

बौद्ध सम्प्रदाय में वैदिक धर्म की जाति-व्यवस्था का अनुमोदन नहीं किया गया है। यद्यपि विद्वानों<sup>11</sup> का मत है कि क्षत्रियों को अन्य वर्ग की तुलना में अधिक महत्त्व मिला हुआ था तथापि भरहुत के कला जगत् में ब्राह्मणों, वैश्यों (श्रेष्ठियों), अमात्यों, पुरोहितों तथा

\* पुत्री श्री जगन्नाथलाल श्रीवास्तव, रुद्रपुर रोड, वार्ड नं० 8, गौरी बाज़ार, देवरिया-274202 (उत्तरप्रदेश)

व्यवसाय में रत निम्न वर्ग के लोगों को सहज रूप में अंकित किया गया है। धनिक वर्ग में श्रेष्ठियों की प्राचीन समाज में विशेष स्थिति थी। अपने धन के कारण ये प्रायः राजाओं के दरबार में उच्च पद प्राप्त करते थे। भरहुत के एक दृश्य<sup>12</sup> (चित्र-सं० 5) में अनाथपिण्डक द्वारा जेतवन विहार को बुद्ध को दान करने की रोचक घटना का वर्णन प्राप्त है। इस दृश्य में स्पष्ट होता है कि धनिक श्रेष्ठियों में बुद्ध के प्रति अपार श्रद्धा थी। इस कथा की पुष्टि *चुल्लवग्ग* तथा *निदानकथा* से भी होती है।<sup>13</sup> इसी प्रकार *रुरुजातक*<sup>14</sup> के दृश्य में महाधनिक का अंकन है जिसे मृगराज ने डूबने से बचाया था। उल्लिखित है कि यह व्यक्ति अपार धन का स्वामी था किन्तु इसने अपना सारा धन कुटेवों में गवाँ दिया था। श्रेष्ठी का एक अन्य अंकन *सुजाताजातक*<sup>15</sup> के दृश्य में प्राप्त होता है जिसमें बनारस के एक गृहपति की कथा का अंकन है।

भरहुत के शिल्पांकनों से जनसामान्य के जीवन पर भी उचित प्रकाश पड़ता है। भरहुत स्तूप का निर्माण केवल धनिकों के ही सहयोग से नहीं हुआ वरन् सामान्य वर्ग ने भी यथाशक्ति सहयोग किया था। भरहुत के अभिलेखों में अनेक व्यवसायों एवं पदों का उल्लेख मिलता है, उदाहरणार्थ, 'भतुदेसक'<sup>16</sup> विहार में भोजन-वितरण का अधिकारी होता था। बुद्धरक्षित नामक 'रूपकारक' (मूर्तिकार), सुलब्ध नामक असवारक (अश्वारोही), वेडुक नाम के आरामक (वनरक्षक) का उल्लेख भी भरहुत के अभिलेखों से प्राप्त होता है।<sup>17</sup> अभिलेखों के अतिरिक्त, दृश्यों द्वारा अन्य व्यवसायों में संलग्न व्यक्तियों के विषय में सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, जैसे *मघादेवजातक* के दृश्य में नापित, *मृगपक्खजातक* के दृश्य में राजा का सारथी, *सूचिजातक* के दृश्य में कर्मकार, *आरामदूसकजातक* के दृश्य में आरामक, *छदन्तजातक* के दृश्य में राजा का शिकारी और *निग्रोधमिगजातक* के दृश्य में राजा का रसोइया अंकित किए गए हैं।<sup>18</sup> धर्म के चाक्षुष प्रस्तुतीकरण के लिए उत्तरदायी तथा इस प्रकार उसे आम जनता तक पहुँचानेवाले कलाकार और शिल्पी भी शिल्प संघों या श्रेष्ठियों में संगठित थे। रंगकर्मी, थपति या स्थपति, तच्छक या शिल्पी, वर्द्धकी या बढई और पाषाण-कोट्टक—सभी ने सम्भवतः अपने संघ बनाए हुए थे जिससे सामाजिक संगठनों के विकसित होने का बोध होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन कलाकारों और शिल्पियों ने एक तरफ उच्च वर्गों तथा नागरिक जीवन की सामाजिक विचारधारा के विचार और अनुभव को, दूसरी ओर निम्न और तिरस्कृत जातियों तथा वर्गों और आदिम लोकजीवन की सामाजिक विचारधारा के विचार और अनुभव को एक में मिला दिया था।<sup>19</sup>

आश्रम-व्यवस्था भारतीय समाज का मूलाधार है। आश्रम-व्यवस्था की इस सांस्कृतिक परम्परा का निर्वहन भी भरहुत के अंकनों में देखने को मिलता है। वल्कलधारी जटिल परिव्राजक अपनी

पर्णशालाओं के आगे बैठे हुए और अग्निहोत्र करते हुए दिखाए गए हैं।<sup>20</sup> स्पष्ट है कि ये लोग अग्निहोत्र द्वारा अग्निपूजन और यज्ञ करते थे।<sup>21</sup> दीर्घतपसी नामक एक परिव्राजक, जिसके मस्तक पर जटाजूट है, स्थिर आसन में बैठा हुआ अपने शिष्यों को वेदाध्ययन करा रहा है। उसकी हस्तमुद्राओं से ज्ञात होता है कि वह वेदाध्ययन करानेवाला श्रोत्रिय अध्यापक था (चित्र-सं० 6)।<sup>22</sup> इस प्रकार स्पष्ट है कि छन्दोध्यायी आचार्यों की प्रथा वैदिक युग से आज तक चली आई है।

गृहस्थाश्रम की नींव विवाह होती है, जिसके संकेत हमें अनेक स्थलों पर प्राप्त होते हैं। गृहस्थाश्रम में प्रवेशर व्यक्ति अपने पारिवारिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का निर्वहन करता है। स्तूप की वेदिकाओं एवं तोरणों पर अनेक चित्रों में दम्पति, माता-शिशु, पिता-पुत्रादि के अंकन मिलते हैं। राजा को परिवार के सदस्यों सहित अनेक दृश्यों में अंकित किया गया है। महाजनक तथा महाबोधिजातकों<sup>23</sup> में राजा को उनकी पत्नी के साथ अंकित किया गया है। मृगपक्ख<sup>24</sup> और मघादेव<sup>25</sup> जातक के अंकन में राजा पुत्र के साथ दिखाए गए हैं। *कण्डरीजातक*<sup>26</sup> में राजा की एक चरित्रहीन पत्नी का विवरण प्राप्त होता है किन्तु महाजनक<sup>27</sup> जातक में राजा जनक की पतिपरायणा पत्नी का भी वर्णन है जो बराबर उनका अनुसरण करती हुई उन्हें संन्यास लेने से विमुख करने का प्रयत्न करती हैं। इससे स्पष्ट होता है समाज में पति-पत्नी के सम्बन्ध मधुर थे।

गृहस्थाश्रमों के लिए निर्धारित कार्यों की समाप्ति पर व्यक्ति वानप्रस्थ, तत्पश्चात् संन्यासाश्रम में प्रवेश करता है। बौद्ध-युग में वानप्रस्थी वृत्ति के विकास की जिस पराकाष्ठा का विवरण तत्कालीन वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है उसी वृत्ति के सर्वव्यापी प्रभाव की पुष्टि भरहुत में अंकित उक्त दृश्य से होती है। विकास के सभी उपकरणों के होते हुए भी उस युग का शासक वर्ग इस त्यागवृत्ति के प्रभाव से अछूता नहीं था। बोधिसत्त्व सिद्धार्थ ने राजपाट छोड़कर जैसे उनके लिए उदाहरण प्रस्तुत किया था, जिसका निर्वाह करना तत्कालीन परम्परा में अनुमोदित था।<sup>28</sup> भरहुत में ऐसे रागातीत तपस्वियों का अंकन है, जिन्हें उपदेश देते, गुत्थियों को सुलझाते हुए प्रदर्शित किया गया है। तपस्वी वनों में पर्णशालाएँ बनाकर रहते थे जो सामान्यतया वन-उपवनों में होती थीं।<sup>29</sup> ये कंदमूल, फल, बेर, पर्ण, कमलनाल<sup>30</sup> आदि खाते थे। उनके लिए नमक, मसाले, दुग्ध आदि वर्जित थे।<sup>31</sup> तपस्वी जीवन में प्रवेश करने के पूर्व जनकराज द्वारा पीत काषाय ग्रहण करने का उल्लेख है।<sup>32</sup> इन सब सूचनाओं से तपस्वी जीवन से संबंधित विश्वास स्पष्ट होते हैं तथा कला में इनके रूपों से इन विश्वासों की सत्यता सिद्ध होती है।

भरहुत के शिलांकनों के माध्यम से नारी जीवन की स्पष्ट अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। भरहुत के वस्त्राभूषणों की अभिव्यक्ति से

नारी-शृंगार की दशा का प्रतिबिम्बन होता है। भरहुत की यक्षिणियों स्त्रियों के आंतरिक प्रणयी भाव को अभिव्यक्त करती हैं। अप्सराएँ एवं सुंदरियों का अंकन मानवीय सौन्दर्य का सहज रूप प्रस्तुत करता है। उन्हें सामान्य मनोभाव एवं क्रियाकलाप करते हुए प्रस्तुत किया गया है। एक ओर सती साध्वी, कुशल दक्ष स्त्रियों का वर्णन है तो दूसरी ओर चरित्रहीन एवं कुटिल स्त्रियों का विवरण भी प्राप्त होता है। अण्डभूत तथा कण्डरिकी<sup>33</sup> जातक दृश्यों में कुटिल स्त्रियों के वर्णन प्राप्त होते हैं। भरहुत की कथालोक में स्त्रियों का केवल भ्रष्ट रूप ही नहीं दिखाया गया है। धर्मनिष्ठ राजा जनक की पत्नी, सीवल देवी तथा तत्कारियाजातक की किन्नरी, जो अपने किन्नर पति के कल्याण की कामना में सदैव रत रहती थी, जो नारी-सम्बन्धी प्रशस्त विचारधारा की ओर संकेत करते हैं।

वेशभूषा-अलंकरण सांस्कृतिक जीवन का अभिन्न अंग है। किसी भी संस्कृति तथा उसके समाज का परिज्ञान उसके वस्त्रों तथा आभूषणों से होता है। सामाजिक अभिव्यक्ति की इस परम्परा का निर्वाह भरहुत में दर्शनीय है।<sup>34</sup> भरहुत-शिल्प में राजाओं की वेश-भूषा कुलीन व्यक्तियों जैसी अंकित है। साधारणतया राजाओं को अन्तरवासक (धोती), उत्तरासंग (दुपट्टा) तथा उष्णीष (पगड़ी) धारण किए हुए दिखाया गया है। रानियों की वेश-भूषा अन्य स्त्रियों के समान ही है। तापसों के एक उल्लेख में उनके वस्त्रों के लिए वृक्षों की छाल एवं त्रिचीवर अर्थात् अन्तरवासक, उत्तरासंग एवं सघांटि का उल्लेख किया गया है। साथ ही कंधे के लिए एक काला मृगचर्म कंधे पर विहंगिका में बँधे भिक्षापात्र आदि का अंकन भरहुत में प्राप्त होता है।<sup>34a</sup> निम्न वर्ग के व्यक्तियों का वेश अन्य आकृतियों से भिन्न अंकित है। ऐसा प्रतीत होता है कि सामान्य एवं निम्न वर्ग के व्यक्ति धन की कमी अथवा अपनी निम्न सामाजिक स्थिति के कारण एक शाकट ही धारण करते थे। उत्तरीय का प्रचलन इनमें नहीं था। अनाथपिण्डक के सेवक भी इसी प्रकार शरीर के अधोभाग को वस्त्रान्वित किये, सिर पर पगड़ी पहने, दिखलाए गए हैं, उत्तरीय इन आकृतियों में परिलक्षित नहीं है।<sup>35</sup>

अलंकारों में सिर पर मौक्तिक जाल, मस्तक पर ललाटिका, ग्रीवा स्थित गैवेयक छत्रवीर, कानों में कुण्डल, बाहों में भुजबन्ध, कलाई पर कटक, कटि प्रदेश पर अनेक लरोवाली मेखला, छुद्रघंटिका, पैरों में पाजेब नारी वेश के सन्दर्भ में उल्लेखनीय है।<sup>36</sup> इस प्रकार के अवलोकन सामाजिक समृद्धि को अभिव्यक्त करते हैं।

समाज में उत्सवों का विशेष महत्त्व था। उत्सवों में नृत्य, गायन आदि का विशेष महत्त्व था। देवताओं की सभा<sup>37</sup> (चित्र-सं० 7) के उत्सव में विभिन्न अप्सराओं का उल्लास और नृत्य-मण्डली की मनोहर नृत्य-मुद्राओं का अंकन है। इस सम्बन्ध में निहार रंजन राय<sup>38</sup> का मत है कि 'भरहुत के चित्रों में ऐसे दृश्य हैं जिनमें नृत्य, गीत तथा वादन

अपनी तमाम मादक प्रसन्नता में प्रस्तुत है और जहाँ जीवन के सभी प्रकार और सभी वर्गों के लोग भाग लेते हैं तथा उन्हें अपना, रूप प्रदान करते हैं।'

भरहुत की मूर्तियों में उत्कीर्ण पशु-पक्षी<sup>39</sup> तथा प्राकृतिक दृश्य तत्कालीन समाज के प्रति मानवीय प्रेम भावनाओं का प्रदर्शित करते हैं, तथा जातककथाओं से समाज में प्रचलित उच्च नैतिक आदर्शों पर प्रकाश पड़ता है। भरहुत में स्त्री और पुरुष स्वयं प्रकृति के ही अंग हैं जो वृक्षों, पौधों, पक्षियों तथा पशुओं के साथ सामान्य जीवन जीते हैं। भरहुत-स्तूप के वास्तुगत भागों में उपलब्ध सतहें अधिकाधिक वृक्ष, वनस्पति, बेलबूटे, पट्टलताएँ (चित्र-सं० 8अ-स) आदि उर्वरता के प्रतीक के रूप में अनगिनत स्वरूपों में सजी हुई हैं, जिसे सजीव प्रकृति के अनिवार्य पृष्ठभूमि के रूप में भी कल्पित किया गया है जिससे मनुष्य का प्रकृति-प्रेम स्वाभाविक रूप से प्रस्फुटित होता दिखाई पड़ता है।

अस्तु ! स्पष्ट है कि भरहुत-कला तत्कालीन समाज का सरल एवं सहज रूप प्रस्तुत करता है जो जीवन के विविध पक्षों से परिपूर्ण है। ईसा पूर्व दूसरी शती में बौद्ध सम्प्रदाय अपने जीवन के ऐसे दौर में पहुँच गया था, जब यह अपने शिक्षक और शिष्यों के युग से आगे बढ़ गया था। बौद्ध संघ फैलते जा रहे थे और संघाराम तेजी से उच्च और मध्यमवर्गीय जनता के बड़े हिस्से की धार्मिक और सांस्कृतिक गतिविधियों के केन्द्र होते जा रहे थे। यह ऐसी परम्परा के तारतम्य का प्रतिनिधित्व करती है जो सदियों से चली आ रही थी। यह जातीय सम्मिश्रण को प्रतिबिम्बित करती है तथा जीवन के प्रति एक सरल जागरूकता को जन्म देती है। बौद्ध सम्प्रदाय की दार्शनिकता के पूर्ण प्रभाव में होते हुए भी इनमें भौतिक जीवन के विविध आयामों का सरल निरूपण मिलता है। भरहुत की कला में क्षणभंगुरता और उसके कारण व्याप्त दुःख तथा तज्जन्य पीड़ा के विश्लेषण के बजाय बौद्ध सम्प्रदाय द्वारा अभिसञ्चित लोकमानस का स्वरूप प्राप्त होता है। इस समन्वित रूप के आधार पर ही भरहुत की कला को बौद्धकला नहीं अपितु लोकमानस की एक सर्जना माना जा सकता है। इसमें जीवन के प्रति निस्संगता नहीं वरन् एक प्रगाढ़ अनुराग के दर्शन होते हैं।

#### सन्दर्भ :

1. कनिंघम, भरहुत स्तूप, (अनु०) डॉ० तुलसीराम शर्मा, भारतीय पब्लिशिंग हाउस, वाराणसी 1975, पृ० भूमिका, IX.
2. रमानाथ मिश्र, भरहुत, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1971, पृ० 46
3. जातक, (कावेल), जिल्द 4, पृ० 195
4. कनिंघम, पूर्वोद्धृत, फलक 41, 1-3
- 4अ. रमानाथ मिश्र, तत्रैव, पृ० 50
5. कनिंघम, पूर्वोद्धृत, पृ० 73

6. ऐतरेयब्राह्मण, पृ० 5,3,10 तथा आगे
7. महाभारत, 13.9.3.1 तथा आगे
8. कनिंघम, पूर्वोद्धृत, पृ० 83
9. तत्रैव, पृ० 82, 'अजातशत्रु भगवतो वन्दे', वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला (पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी, पु.मु. 2004) चित्र सं० 212
10. रमानाथ मिश्र, पूर्वोद्धृत, पृ० 48
11. तत्रैव, पृ० 46
12. कनिंघम, पूर्वोद्धृत, पृ० 78, 'जेतवन अनाधपेड़िकों देति कोटिसन्थतेन केटा' ।
13. जातक, फासबल, 1.92
14. जातक, कावेल, जिल्द 4, पृ० 161
15. कनिंघम, पूर्वोद्धृत, पृ० 70, फलक 47, चित्र, 3
16. काप्रस, अभिलेख सं० ए. 17
17. तत्रैव, ए. 55, ए. 22, बी. 72-73
18. रमानाथ मिश्र, पूर्वोद्धृत, पृ० 53
19. निहाररंजन राय, मौर्य तथा मौर्योत्तर कला, (दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लि०, दिल्ली), पृ० 52
20. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, (पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी), पृ० 148
21. कनिंघम, पूर्वोद्धृत, फलक 42.1, 43.8, 26.7
22. वासुदेव शरण अग्रवाल, पूर्वोद्धृत, पृ० 148, 'दीघतपसि सिसे अनुसासति'
23. रमानाथ मिश्र, पूर्वोद्धृत, पृ० 49
24. कनिंघम, पूर्वोद्धृत, पृ० 54
25. तत्रैव, पृ० 72, फलक, 4
26. कनिंघम, पूर्वोद्धृत, फलक 14, (मध्य)
27. काप्रस, पृ० 148, कनिंघम, पूर्वोद्धृत, पृ० 95,
28. रमानाथ, पूर्वोद्धृत, पृ० 49
29. कनिंघम, पूर्वोद्धृत, पृ० 72, मखादेवजातक, कावेल, जिल्द 1, पृ० 32
30. तत्रैव, जिल्द 4 पृ० 193, 1, 32, 5-79
31. तत्रैव, जिल्द 6, 13.14
32. तत्रैव, जिल्द 6, 20
33. कनिंघम, पूर्वोद्धृत, फलक 14 (मध्य)
34. विस्तृत अध्ययन के लिए द्रष्टव्य, मोती चंद्र, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, (इलाहाबाद, वि०सं० 2007), पृ० 63-74
- 34अ. रमानाथ मिश्र, पूर्वोद्धृत, पृ० 56
35. कनिंघम, पूर्वोद्धृत, फलक, 34.3
36. रमानाथ मिश्र, पूर्वोद्धृत, पृ० 59
37. वासुदेव शरण अग्रवाल, पूर्वोद्धृत पृ० 148
38. तत्रैव, पृ० 149
39. निहार रंजन राय, पूर्वोद्धृत, पृ० 41





चित्र-सं० 1 : भरहुत स्तूप



चित्र-सं० 2 : भिस जातक



चित्र-सं० 3 : प्रसेनजित् स्तम्भ (भरहुत वेदिका)



चित्र-सं० 4 : बुद्ध-वन्दना हेतु अजातशत्रु का आगमन  
(भरहुत वेदिका)



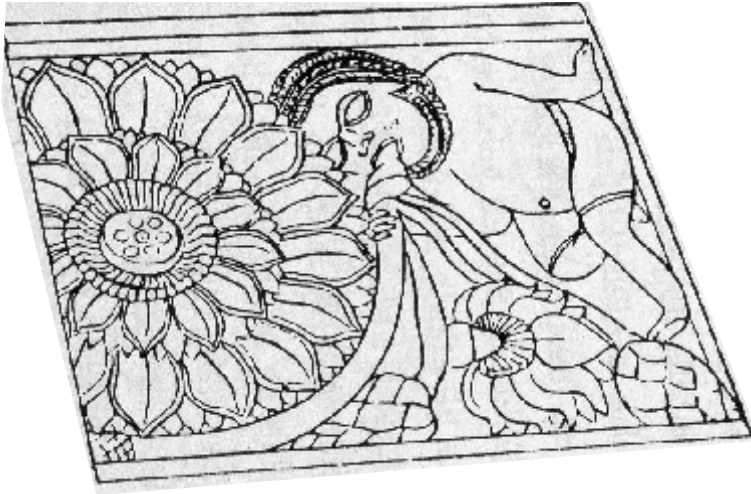
चित्र-सं० 5 : जेतवन-क्रय



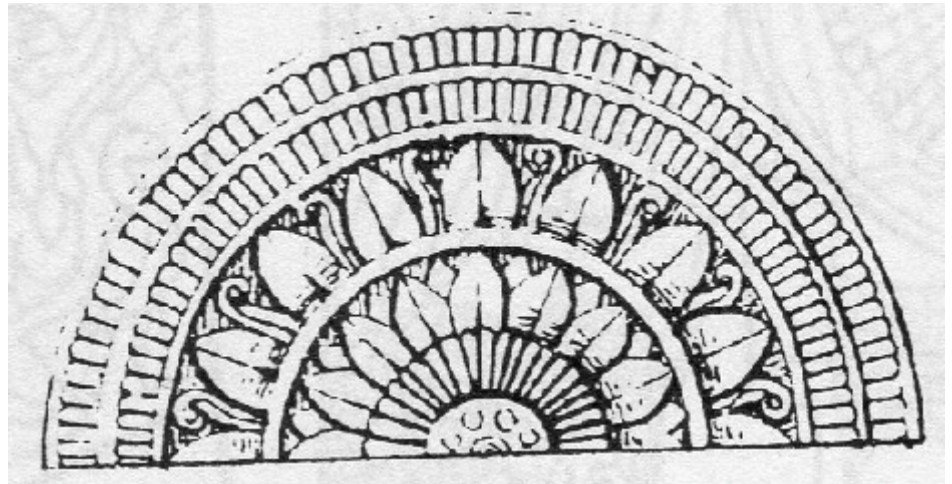
चित्र-सं० 6 : शिक्षाश्रम (भरहुत वेदिका)



चित्र-सं० 7 : उत्सव-दृश्य (भरहुत वेदिका)



चित्र-सं० 8अ : यक्ष मुख से निःसृत पङ्कलता (भरहुत वेदिका)



चित्र-सं० 8ब : पङ्क अलंकरण (भरहुत वेदिका)



चित्र-सं० 8स : यक्ष-मुख से उद्गत पद्मलता

## Characteristics of Akhnur Terracotta : A probe

Arjun Singh \*

### Introduction



enerally, the fire baked earthen clay figurines are called terracotta figurines. Terracotta, which was the medium of the artistic expression for the common people, occupied a prominent place in the art history of Kuṣāṇa period. In the preparation of terracotta

figurines perhaps the clay was levigated carefully with an admixture of mica so that it may not crack during its baking. Beginning with the Kuṣāṇa period the material appeared to be coarse containing a mixture of chopped husk, etc. The major portion of the post-Kuṣāṇa terracotta was produced in different shades of ochre and red colours. These shades were mainly dependent on the chemical composition of the material, firing temperature and the method of firing. The red colour was produced because of the iron in the clay being oxidized and the air passing at the time of baking. However, if the combustion was not perfect the colour became grey or black. Generally, the latter method was in vogue. An earthen vessel containing the clay objects and covered with husk was kept concealed in the midst of glowing charcoal. For intensifying the colour of the terracotta red or black slip, as the case may be, was applied to the unbaked figurines.<sup>1</sup> During Kuṣāṇa period, clay was used on large scale for

making the sculptures and other artefacts. Being one of the oldest crafts, more than 10,000 years old,<sup>2</sup> man has expressed his feelings and his aesthetics in clay, in toys and in primitive deities, and in various vessel made for the storage of water and grain. When man came to know about the beauty of a pot thrown on the wheel and its decoration, pottery became a new meaning for him. History came to be depicted on it.<sup>3</sup>

In the beginning, pottery was made with the hand, as sun-dried bricks and containers. It was some accidental fire, which produced the knowledge that clay hardened on firing, and this shape stayed for all time. Of all the material which mother earth has in store, clay is the most abundant. Clay in the beginning of the plastic arts.<sup>4</sup> The intimacy between clay and man has been very profound. The Bible says that god made the first man out of clay. An old plaster bears the inscription:

**Earth I am, it is most true,**

**Distain me not for so are you.<sup>5</sup>**

The Indian mystics gave clay great importance. Do not scorn clay; it surpasses all things in humility. Living it is under your feet and death it covers you.

Dhavlikar rightly observed that “The terracotta art has often been described as the Poor man's art.” Our ancient potter-artists have produced a prolific amount of clay figurines through the millennia and a casual glance at the entire range of terracotta will be enough to convince anyone here that it was not a poor man's art at all.<sup>6</sup> The ancient Indian potter-artist had to cater to one and all, the

\* Assistant Professor, Chandrababhu Jain College of Higher Studies & School of Law, Narella. (Affiliated to Guru Govind Singh Indraprastha University, Delhi); e-mail: veerarjunjmu@gmail.com

prince and pauper, the merchant and the priest, and men and women from every strata of society. Clay as a medium of art-expression is generally easily available everywhere and can be modelled or pressed into any shape, thus satisfying the artistic urge of the common person. The earliest specimen of sculpture found in Jammu region are the very fine terracotta-pieces discovered in the Akhnur-Ambaran locality in Akhnur tehsil.

As far as the terracotta art of Akhnur is concerned, a large number of terracotta figurines were manufactured in Akhnur area. They comprise human and animal figures, toys of various kinds, figures of gods and goddesses and other related cult objects. The distribution of find spots amply bear out the fact that terracotta's followed dynastic power; but culture transcends all political barriers and terracotta's therefore also occur in area which were situated outside the jurisdiction of particular ruling and dynasty. Akhnur-Ambaran was exceptional, because, it was out of the jurisdiction of the ruling dynasty, but highly influenced by business transaction point of view, situated on the trade route of the region, i.e., *Sakala* (Modern Sialkot).

The village Ambaran is situated in Akhnur tehsil 28 km west of Jammu district. The site of Ambaran had come into lime light in 1930's when an English art historian Charles Fabri, the curator of Lahore Museum, found a basket lying terracotta figurines, Buddha's heads, female torso with draperies of life-size and terracotta Buddha figures or monks in the corner of Lahore Museum. He was anxious to know about their origin, so he visited Harwan, Srinagar and Baramulla to find its origin and finally traced the place from where these terracottas originated. This place was the desolation of the hamlet of Pamberwan near Akhnur, close to the northern bank of river Chenab. Twenty pieces of recognizable fragments, parts of bodies of figures of the Buddha, female devotees, fragments of drapery, jewellery and hands, and crowing proof of all, one lovely little head of a woman, almost complete and identical in style with many heads kept in the Lahore Museum and also under the private collections in Lahore. Most of these were found near the lost remnant of what must have been once the monastery wall.<sup>7</sup>

However, the individuality, variety, novelty, and inventive ideas of the master artist of Akhnur are evident from one and all terracotta pieces

discovered there<sup>8</sup>. The following are the representative terracottas of Akhnur.

#### (i) The Great Buddha of Akhnur

The head of great Buddha (**Plate I-A**) of Akhnur is unique in the modelling of eyes, nose, lips and hair which are treated in a different fashion. The two eyes are marked different, the lips and the hair are treated in a novel fashion. On closer inspection, one finds in this masterpiece of Akhnur a good and kindly prince<sup>9</sup>, a human of great dignity and natural nobility, of whom one can expect nothing but refinement and goodwill.

#### (ii) Half Buddha

On of the largest fragments produced here showing the torso of a draped Buddha has a necklace; has a bejewelled filled in his hair and earrings. This "Half Buddha" (**Plate I-B**) is equally crowned with a fillet and is ornamented with heavy earnings<sup>10</sup>. The artist's delight in ornamentation was so great that he could not resist the temptation of putting a jewel even on the Buddha. Half Buddha is shown in enlightened mood.

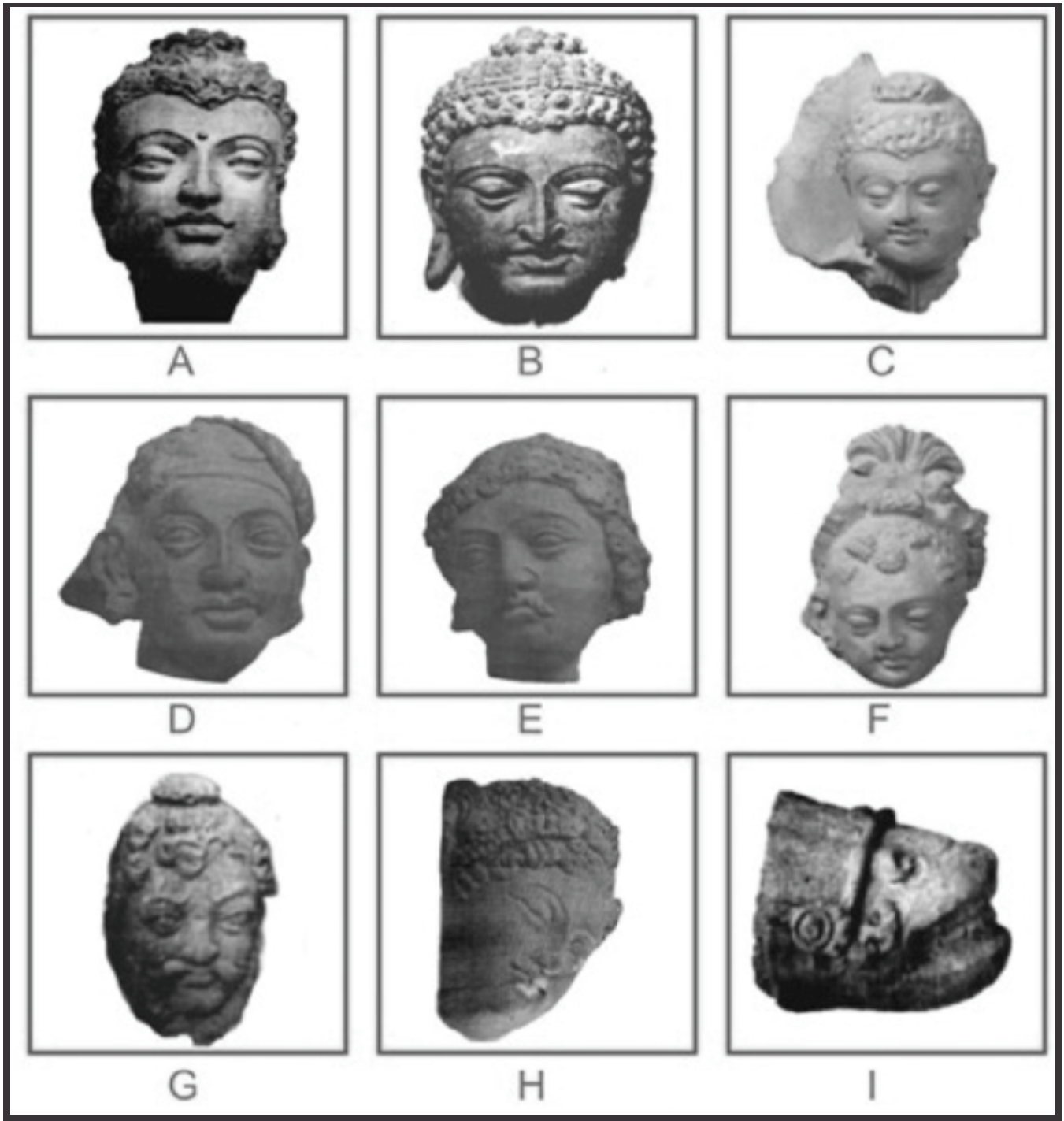
The **other Buddha head** exhibits the same natural nobility, grace and inner peace. (**Plate I-C**) According to Charles Fabri the creation of these beautifully made human and Buddha heads, "must be counted among the greatest and most sensitive sculptures that India had produced, whose love for charm and grace", allowed them to create the most enchanted pieces of terracotta sculptures.<sup>11</sup>

#### (iii) The Lady with the Dreaming Eyes

The inherent romanticism of those days with the classic feeling of the Gupta times has been shown in almost in every piece. For instance, lady with the dreaming eyes<sup>12</sup> (**Plate I-D**). The lips and the eyes of the lady are entirely individualistic, in fact, they suggest portraiture. Her hairstyle is without a single parallel in the whole of Indian art<sup>13</sup> also, every other female head in this collection has a different coiffure.

#### (iv). The Prince of the Sad Countenance

The terracotta of Prince of the sad countenance<sup>14</sup> has a strange headdress, a kind of knitted pet cap, through which some of his curls escape in a romantic fashion. There is no other piece of known sculpture in the entire history of Indian art with a net cap like this; originality, novelty, surprising effects are the most typical form in which the baroque artist



express his ideal. At the same time, the artistic skill is superb and both heads are works of art of an exquisite, if romantic, excellence<sup>15</sup> (**Plate I-E**).

**(v) Gentleman-in-waiting**

Other terracotta, the 'Gentleman-in-waiting', with its striking realism, the demoniac, with a bejewelled and beribboned headdress, furrowed heavy eyebrows and with bared teeth is noteworthy.

**(vi) The Lady with Jewelled Turban**

The lady with jewelled turban is the work of an artist of high caliber, whose aim was not only to show dignified idealization but also to provide variety and a sensitive rendering of individual elements in each head (**Plate I-F**).

**(vii) Bearded Brahmin's terracotta piece**

Among the terracotta piece, one Brahmin's face is

crooked (right centre) and the moustaches are differently trimmed. Jewels and nets, helmets and turbans, ribbons and flowers make headdress ornate<sup>16</sup> (Plate I-G).

#### (viii) Lady-in-waiting

The terracotta head-ornament of a lady-in-waiting<sup>17</sup> (Plate I-H) well fed and contentedly asleep in the bedchamber of Queen Maya is noteworthy. Here is the dream of elephant descending in a cloud; eyes of all the female are shown closed, for they do not see the apparition. The story of elephant in dream is related to the birth of Lord Buddha. Queen Maya was the wife of king Suddhodan of Nepal and mother of Gautama Buddha. On one full moon night, sleeping in the palace, the queen had a vivid dream. She felt herself being carried away by four *devas* (spirits) to Lake Anotatta in the Himalayas. After bathing her in the lake, the *devas* clothed her in heavenly cloths and ornamented her with divine flowers. Soon after a white elephant, holding a white lotus flower in trunk, appeared and went round her three times, entering her womb through her right side. Finally, the elephant disappeared and the queen awoke, knowing she had been delivered an important message, as the elephant is a symbol of greatness in Nepal.

The only person who could see this dream was the queen, and the artist, visualizing situation and in order to provide realistic approach to terracotta modelling, showed her with one eye closed but the other open.

#### (ix) Horse's head

The superb little fragment found from Ambaran is a magnificent head of excited and neighing horse, baring its teeth, with tensely inflated nostrils. It is probably the Prince Siddhartha's horse, *Kantaka*, crying after loosing his master<sup>18</sup> (Plate I-I).

#### View of different archaeologist and scholars about the date of Akhnur terracotta.

Dayaram Sahni<sup>19</sup> concluded that this terracotta belonged to the Kuṣāṇa, more positively to the late Kuṣāṇa period. Pandit Ram Chandra Kak<sup>20</sup> also supports this view. Both these scholars thus assigned the baroque terracotta's to about CE 2nd-3rd century. However, Charles Fabri dated the Akhnur pieces to just about CE 700. The rich and varied content of the Akhnur terracotta should convince us that this art was not the monopoly of the poor man only but was the medium of art expression of all

classes of society including royalty, and the art, therefore, can rightly be called the people's art. Another important factor, which contributed to its rapid development, was the use of terracotta sculpture on architectural edifices as a means of ornamentation.

#### Conclusion

The reflection of emotions and romanticism are additional characteristic of Akhnoor School. Almost every image from Akhnur has been richly endowed with these. Most of the terracotta heads here exhibit a greater tranquillity and less exaggeration, and show a great variety and fancy. Every head is differently treated, differently coiffured showing different expressions and emotional flare.

The moustaches of every male image are differently trimmed and worn. Jewels and nets, turbans and headdresses, ribbon and flowers make every head ornate. Some Greco-Roman influence may be suspected but there is great variety, inventiveness, elegance along with local or *desi* touch.<sup>21</sup> The spirit of inquisitiveness, inventiveness and search for unusual element are shown in a few examples like the fragments of a lady with bared breasts, a man with a nude member. These are surely extraordinary and unusual.

There are no two heads with the same headdress in the entire lot of over twenty terracotta images which are of unidentical infinite variety, the search for novel effects, the love of unusual, spectacular inventiveness, coupled with a wealth of ornament and over elaboration are characteristics of this school.

The sculptures from other centres of the region show beauty and variety, no doubt, but they do not demonstrate the excellence, which is demonstrated by the sculptures of Akhnur. The later remain unsurpassed.<sup>22</sup> The other art centres of the region were altogether insignificant in comparison with Akhnur from the point of view of trade.

#### References:

1. Dhavalikar, M.K., *Masterpieces of Indian Terracottas*, Delhi, 1977, p. 47.
2. Singh, Gurcharan. *Pottery in India*, Vikas Publishing House Pvt. Ltd. New Delhi, 1979, p. 1.
3. *Ibid.*
4. *Ibid.* p. 40.
5. *Ibid.*

6. Dhavalikar, M.K., *op.cit.*, p.49.
7. Fabri Charles, *Akhnur Terracotta*, Marg, Vol. VIII, No. 2, March 1955, p. 61.
8. Fabri Charles, *Discovering Indian Sculpture. A brief History*. Affiliated East-west Press Pvt. Ltd, New Delhi, 1970, p. 50.
9. Fabri Charles, *Akhnoor Terracotta*, *op.cit.* . 62.
10. *Ibid.*
11. Charak S.D.S. and Billawaria Anita, *History and Culture of Himalayan States. Vol. VIII*, Jammu, 1997, p.106.
12. Fabri Charles, *Akhnoor Terracotta op.cit.* p. 62.
13. Fabri, Charles. *Discovering Indian Sculpture. op.cit.* p. 51.
14. *Ibid.*
15. *Ibid.*
16. Fabri Charles, *Akhnoor Terracotta, op.cit.* p.63.
17. *Ibid.*
18. *Ibid*
19. Sahni Rai Bahadur Day Ram, *Annual Report of Archaeological Survey*, Delhi, 1915-16, p. 62.
20. Kak Ram Chandra, *Ancient Monuments of Kashmir*, Indian Society, London, 1933, p.56.
21. Charak S.D.S. and Billawaria Anita, Vol. VIII. *op.cit.* p. 105.
22. Singh Y.B. *Essays on the Culture and Art of Northern India (up to C. 1200 A.D.)*. Jay Kay Book House, Jammu, 1999, p. 119.



## Reinvestigating Archæology and History of the Harappan culture

Ashwani Asthana \*

### Abstract

Seen in isolation, the Ṛgveda is un-dateable being the earliest literature of the subcontinent. However, by placing it in the context of external evidence some useful time brackets can be assigned. The period of Ṛgveda cannot be older than 3500-3000 BCE and is likely to be composed earlier than 2000 BCE. Archæological data shows that around 1900 BCE the Harappans were moving from the lower and middle to the upper course of the Sarasvatī River system.

The Sarasvatī River was the lifeline of the Harappans. Out of about 1600 Harappan sites, more than 75% are situated on the banks of the Sarasvatī River system. The older sites corresponding to the Early-Harappan and mature Harappan periods are located on the lower and mid part of Sarasvatī river system and in its influential areas whereas the late Harappan sites are concentrated on the minor rivers of the Shivalik hills.

The reference to flora-fauna, agriculture, industries, pottery, navigation, housing and urban centers, trade, society, education etc., as mentioned in the Vedic literature closely resembles with the material culture of the Harappans and most of the traits are still in continuity in form of tradition. Though, the Harappan script is yet to be deciphered, the authors of Harappan Civilization seem to be Ṛgvedic people.



The word civilization comes from the Latin *civilis*, meaning civil, related to the Latin *civis*, meaning citizen, and *civitas*, meaning city or city state (Sullivan 2009: 73). “So known” there is a tendency to use the term in a less strict way, to mean

approximately the same thing as “culture” and, therefore, the term can more broadly be referred to any important and clearly defined human society (Felipe 2001: 12). Still, even when used in this second sense, the word is often restricted to apply only to societies that have attained a particular level of advancement especially the founding of cities.

The level of advancement of a civilization is often measured by its progress in agriculture, long distance trade, occupational specialization, a special governing class, and urbanism. Aside from these core elements, a civilization is often marked by any combination of a number of secondary elements, including a developed transportation system, writing, standardized measurement, currency, contractual and tort based legal systems, characteristic art and architecture, enhanced scientific understanding, metallurgy, political structures, and organized religion. Social scientists such as V. Gordon Childe have named a number of traits that distinguish a civilization from other kinds of society (Childe 1941: 33; 1951: 21). Civilizations have been distinguished by their means of subsistence, types of livelihood, settlement patterns, forms of government, social stratification, economic systems, literary, and other cultural traits.

\* Delhi Institute of Heritage Research and Management, 18-A, Satsang Vihar Marg, Qutub Institutional Area, New Delhi-110067; e-mail: ashwani.asthana@rediffmail.com

The term “Harappan Civilization” refers to the vast complex of distinct settlements unearthed by archaeologists initially in the year 1921 and thereafter continuing to the present. It covered an area of 1.5 million sq km (Agrawal 2007: 101) during its peak. It was spread over the present day western parts of India, Pakistan and Afghanistan covering 30% of the land mass of the region. In order to present a comprehensive scenario about the growth of Harappan Civilization and its distinct landmarks evidences from other civilizations have also been taken for consideration.

Harappan Civilization had several features indicating a high degree of uniformity in life style at its several urban centers (Wright 2010: 48; Possehl 1999: 25). The most spectacular aspect of Harappan Civilization is that it boasted of large well planned cities (Joshi 2008: 81). List of 10 distinct characteristics that identify sites of Harappan Civilization at its peak, are:

1. Characteristic written materials (seals, etc.).
2. Beads and other jewelry items, etc.
3. Standardized brick size of 1:2:4 ratio.
4. Planned town with citadels, platforms, podiums and specific burial practice (Architecture, town planning and street, etc.)
5. Standardized weights and measures.
6. Black-on-red painted pottery
7. Parallel sided blades
8. Copper and bronze articles (tools, implements, etc.)
9. Terracotta toys (gamesmen, etc.)
10. Cotton, barley and wheat (agriculture).

To this, features such as high class water harvesting and management can also be added along with conspicuous evidence of religious belief and trade.

Harappan Culture was complex and well spread out with a fair degree of sophistication and homogenization even though regional variations did exist. Due to an apparent discontinuity between Harappan Civilization and later Indian civilizations and the lack of long written records, the manner of rise, stabilization and eventual fall is not clear. Farming and related activities arise in the subcontinent by 7000 BCE in Mehrgarh (Wright 2010: 48) and also at Bhirana. Mehrgarh played an important role in developing early farming technology and keeping contacts with settlements farther west (Bellwood 2008: 81). It also had a large

number of small and medium size sites all over the Indus plane by 4000 BCE (Possehl 1999: 25). However, the first large city state emerged, not in the region of Indus valley close to Mehrgarh but in a far distant region of Indus-Ravi Basin in Harappa around 5th millennium BCE and in Sarasvatī basin around 8th-7th millennium BCE seem to be indigenous development (Mani and Dixit 2012).

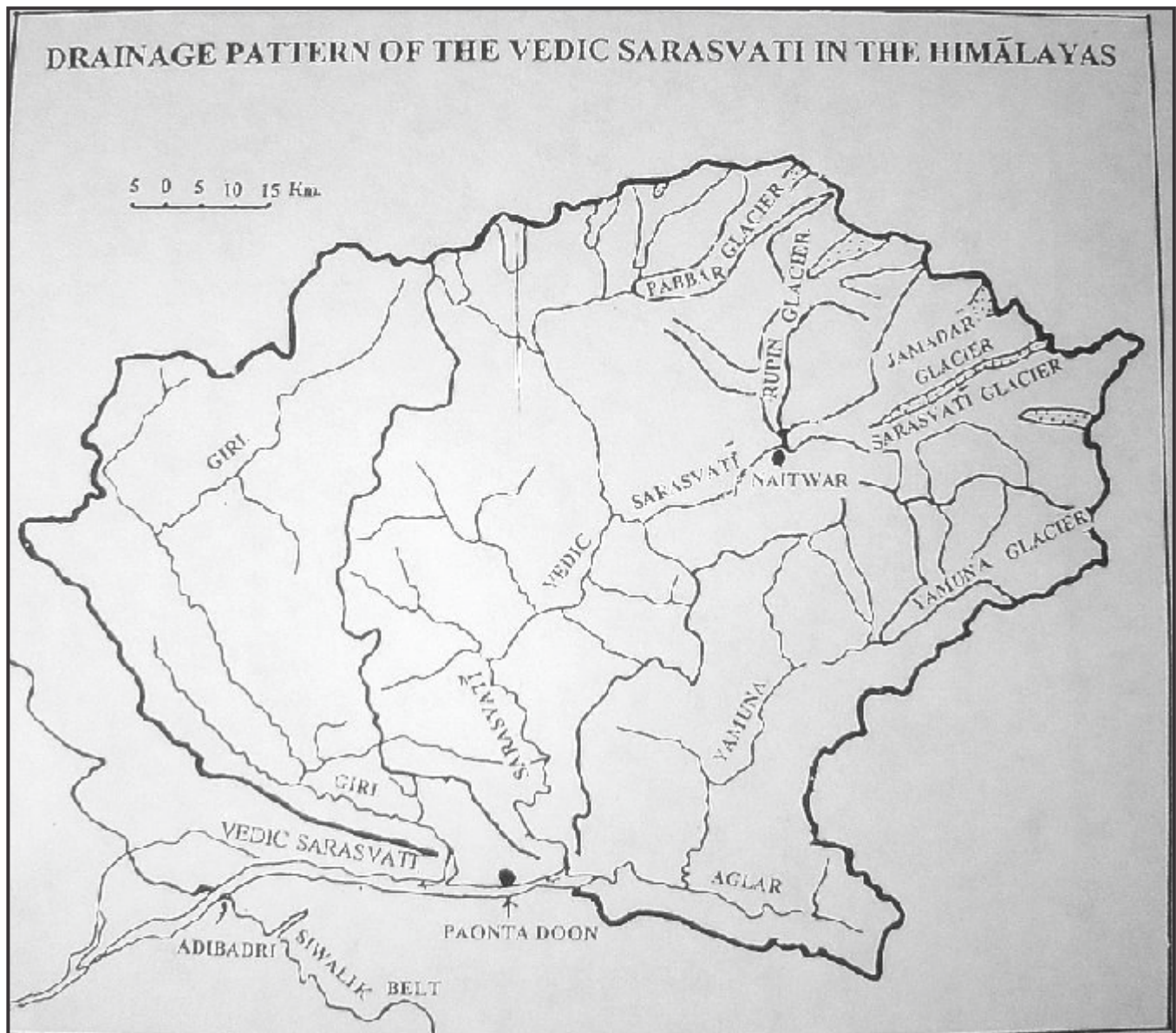
There is substantial evidence of the rise and conglomerations of small towns all across the region of Harappan Civilization to suggest that self governing communities must have been functioning at several locations on their own (Kenoyer 2008: 183-208). This can be discerned from the fact that the rise of habitation sites in the Harappan Civilization was not random but it emerged in cluster of different sizes with passage of time (Kenoyer 2008: 183-208). Only some of these clusters later became cities. Even these cities did not rise at the cost of dwellings in the neighborhood but in close interaction with them (Kenoyer 2008: 183-208) as can be estimated from the numbers of satellite sites that grew with them.

A conglomeration of small to medium size Harappan settlements appeared along the Sarasvatī River system and comparable sized settlements also came up further south-east of Harappa at the mouth of Sarasvatī basin around 2600 BCE and even earlier, a period which encountered a very steep rise in the number of inhabited sites. After 1900 BCE, there was a dramatic shift further east into Gangetic valley. As stated above, Harappan settlements developed over a very large span of time, but for scope of present work, we are dealing with the period from 3200 BCE to 1900 BCE. No matter what we call it, it is imperative to recognize that these settlements have been found clustered around Sarasvatī River, identifying it as a nucleus zone, which went dry somewhere between 2000-1900 BCE.

Ever since the Harappan civilization came to light, the question before the scholars has been: “What is the relation between Harappan archaeology and Vedic literature?” It is important to point out here that Harappan archaeology represents the material remains of the culture and civilization as described/referred in the Vedic literature also.



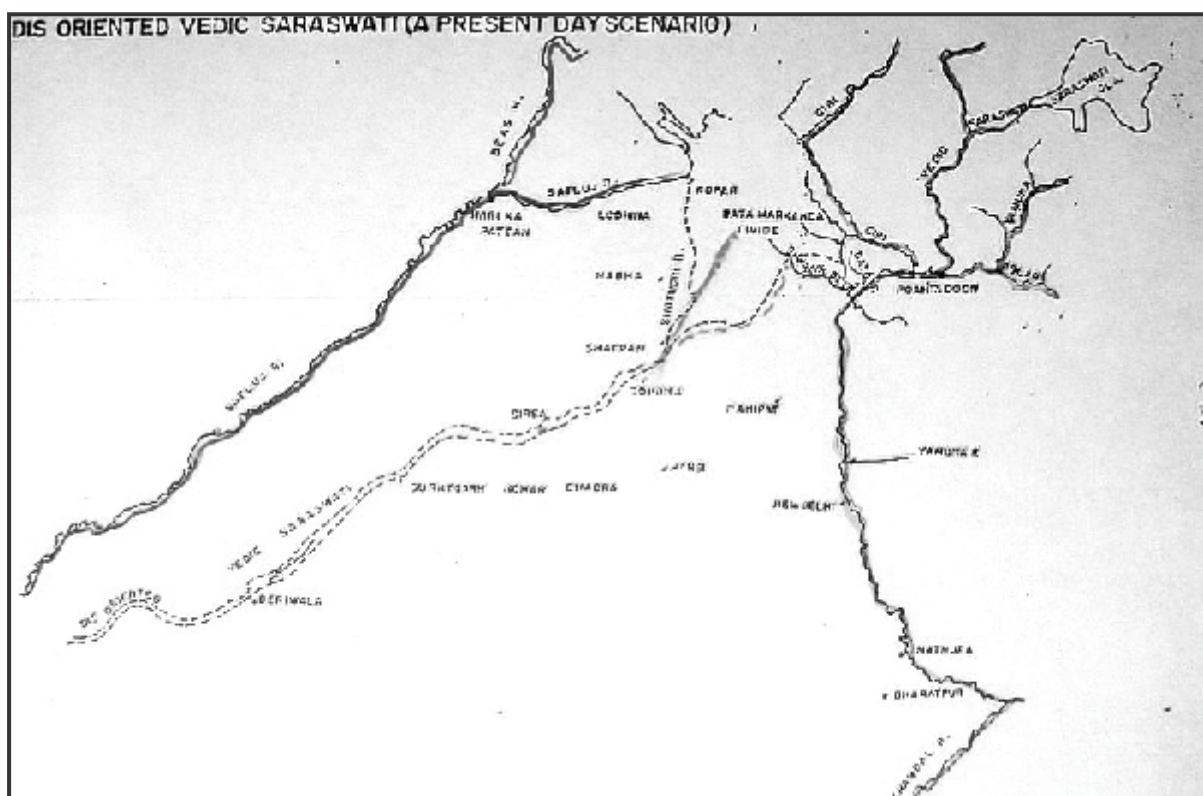
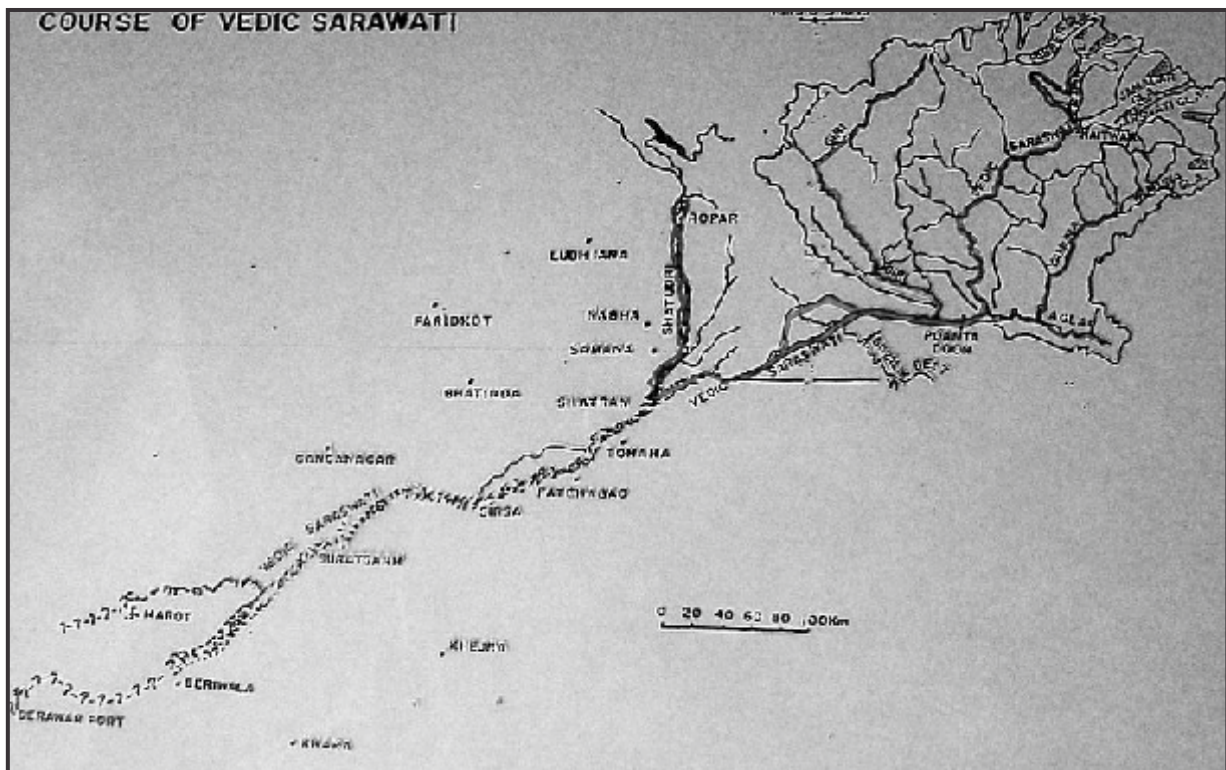
**Fig: 1** Picture showing the satellite image of fossil valley and the catchment area of Sarasvatī River in Himalayas



**Fig. 2. Detailed line drawing of the catchment area of Sarasvati River in Himalayas**

The glaciological and geological researches in Himalaya, conducted by V.M.K. Puri and B.C. Verma of Geological Survey of India, reports that "Drainage analysis, basin identification, glaciological and terrace studies suggest that Vedic Sarasvati originated from a group of glaciers in Tons fifth order basin at Naitwar in Garhwal Himalaya. In early stages, it occupied the present day drainage of Tons river upto Paonta Doon and took almost a westerly swing after receiving nourishment from Aglar, Yamuna and Giri, west of Paonta. It followed a westerly and south-westerly course along Bata valley and entered plains at Adhi Badri. It

continued to follow almost south-westerly course and traversed through Haryana, Rajasthan and Gujarat for nearly 1000 km and joined the Arabian sea. Mightily Shatudri (Sutlej) of today, then a tributary of Vedic River Sarasvati might have come into existence during Upper Pleistocene period.



**Fig: 3a and 3b. Pictures showing the changes and shifting of drainage system of Sarasvati River system during (2450-1900 BCE). After Puri and Verma**

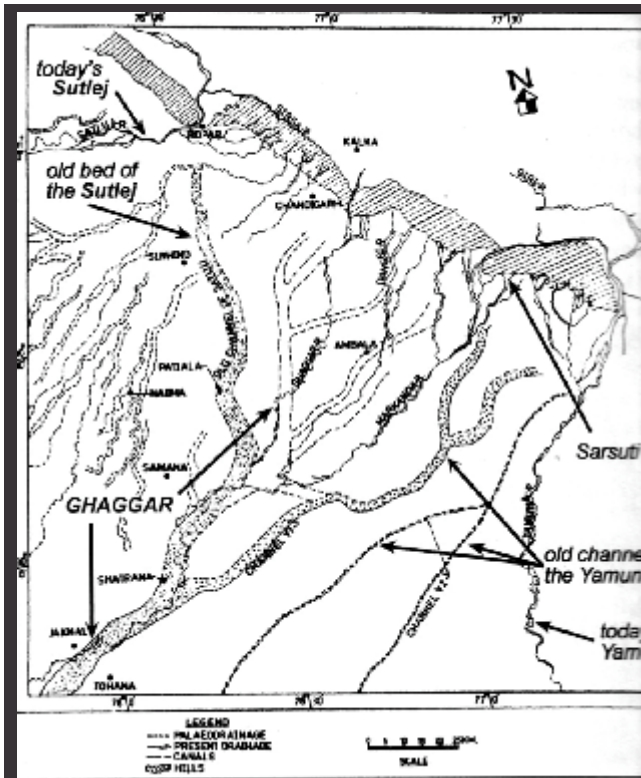


Fig. 3c. The upper Ghaggar system reconstituted from LANDSAT imagery, with a few of the palaeobeds (after Yashpal, et al.)

The most important event that contributed to the desiccation of Vedic River Sarasvatī was reactivation of Yamuna tear fault across Shivalik belt between Kalesar and Paonta some times around 2450 BC. As a result of this phenomenon, river Dṛśadvati came into existence, which joined Vedic Sarasvatī near Suratgarh in Rajasthan, with emergence of Bata-Markanda divide complete reversal in the flow of Vedic River Sarasvatī occurred in Bata valley whereby it abandoned its previous course through Adhi-Badri-Markanda and occupied the conduit followed by river Dṛśadvati. Meanwhile the Vedic Sarasvatī catchment was reduced by 94.05% and got restricted to that of present day Markanda, subsequent to river Dṛśadvati migration from southwest to southeast. Paleo Yamuna emerged, that joined the Chambal River around 1900 BC. Later the Śatudri (Satluj) also started shifting its course westwards and consequently got completely detached from Vedic Sarasvatī River. As a result of above mentioned events by 2000 BC Vedic Sarasvatī got completely deprived of its perennial source of nourishment

from Himalaya. It now depend upon monsoon precipitation for its survival with advent of drought condition caused by either the emergence of a dry phase in climate or failure of monsoons for a number of years rather decades, Vedic River Sarasvatī got completely disoriented and acquired the status of present day ignominy”.

On the basis of Archaeological data of Harappan settlements and above mentioned glaciological and geological analysis of the Rig Vedic River Sarasvatī, if examined in light of Vedic literature, since both are the earliest culture/civilization of the same nucleus region, the comparative study shows that the term “Vedic Sarasvatī” is used in the present context to connote the ancient and mighty river that once existed in northern and western India. It was a mighty river system that originated somewhere in Himalaya (Rig Veda 7.95.2) entered plains and flowed in almost southwestern direction through present day Punjab, Haryana, Rajasthan and Gujarat prior to joining the Arabian sea. Ancient Vedic culture / civilization flourished on its banks that can also designate as Rig Vedic culture / civilization. As a corollary to the development of such a wide spread Vedic culture/Civilization it may be noted that important Harappan settlements like Banawali, Rakhigarhi, Kalibangan, Kunnal, Sirsa, Pilibangan, Ghaneriwal, Bhiranna, etc., flourished on its banks.

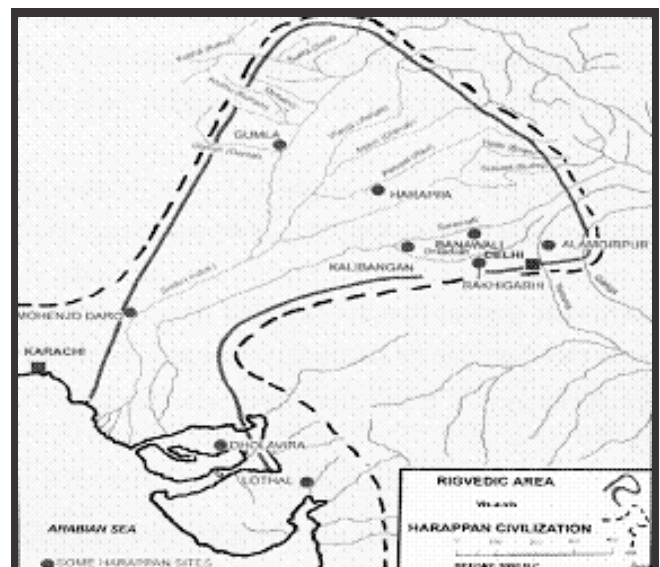


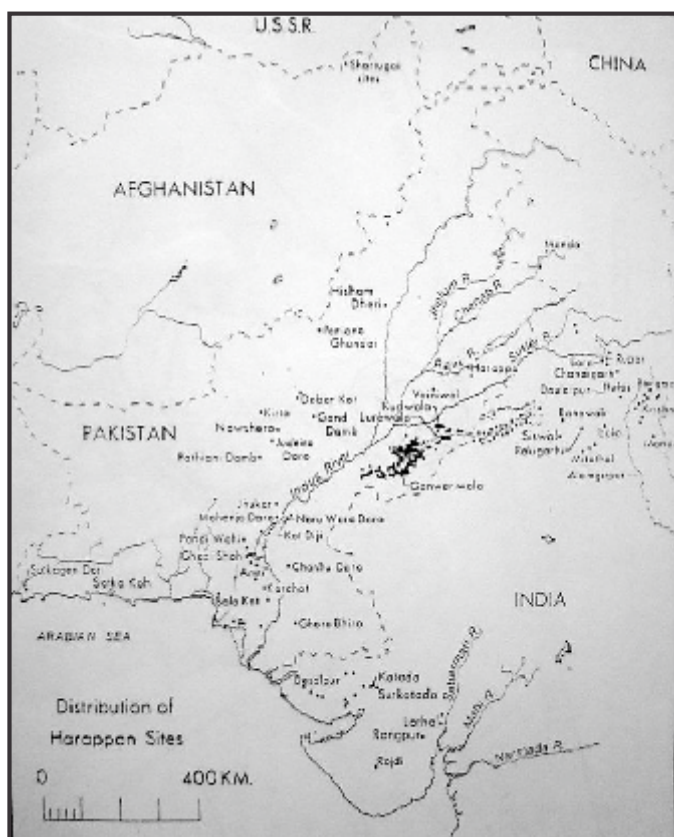
Fig:4a. Map showing a correlation between the Rgvedic area and the spread of the Harappan Civilization (before 2000 BCE).

It is but natural that mighty and holy river Sarasvatī finds appropriate mentions in Rig Veda and other scriptures. It was, in fact, a lifeline of north western and western India. In *Ṛgveda*, Sarasvatī River is described as supreme (2.14.6) amongst all other rivers, swift and violent (*Ṛgveda*, 7.95.1) river that possessed enormous discharge responsible for causing floods on a massive scale (*Rig Veda* 2.21.2-9). In *Mahābhārata*, this river has been described to follow a course towards sea (*Mahābhārata*, 95.24). It lays between Yamuna and Satluj (*Ṛgveda*, 10.75.5). The Epic also mentions that Sarasvatī was a dying river. In 'Vanaparva' Vinasana has been mentioned as the place where the river disappeared in the sands, somewhere near Sirsa, in present state of Haryana. During later Vedic period, as stated in *Pañcaviṃṣa Brāhmaṇa*, *Lātāyana Śrautasūtra*, *Baudhāyana Dharmasūtra*, etc., that the Sarasvatī had very little water, so much so that even fishes died and human beings migrated to other places. In passage of time, it almost became extinct, the only major river in northern India to suffer such an unfortunate fate. At present, it has been reduced to a seasonal stream that disappears at numerous locations.

Excavations have been carried out at many sites on the bank of this river (paleo-channel) of which those at Banawali, Rakhigarhi, Kalibangan, Kunnal, Baror, Bhirrana, etc., show that Sarasvatī valley was the hub of settlements of Harappan culture. The radio carbon dates show that all the above settlements in general, while still in their mature stage, had to be abandoned around 2000 BCE. Putting together, the hydrological, archaeological, glaciological and geological data, establishes that the Sarasvatī River dried up around 2000 BCE. Therefore, the data as enumerated above, clearly indicates that the date of *Ṛgveda* must be anterior to 2000 BCE when the Sarasvatī River was definitely a mighty river.

Let us examine some important material cultural components of Harappan Civilization in light of Vedic literature to know what exactly the relation between them was.

To have proper correspondence between material culture of sites belonging to Harappan Civilization and Rig Vedic references, a comparative chart showing some aspects of Harappan civilization on one side and the Rig Vedic reference / allusions on the other has been prepared.



**Fig:4b. Map showing the concentration of Harappan sites on the paleo channel of Sarasvatī River**

Considering the above study, the inferences drawn are as follows:

1. Almost the entire material cultural items from Harappan Civilization are reflected in realm of Vedic literature (except to those items, which are perishable in nature or pertain to the philosophy).
2. Harappan Civilization and Ṛgvedic culture both were river based civilizations which flourished on the same river, i.e., Sarasvatī.
3. In the Vedic Civilization, Sarasvatī River was its life line. Same is the case with Harappans as revealed by archaeological evidences of the regions of north-west and western India (Punjab, Haryana, and Rajasthan, besides Kutch region).
4. On the basis of stratigraphy of the excavated Harappan sites on Sarasvatī River system and radio- carbon dates from these sites, it can be stated that the sites were abandoned during the decline phase of Harappans *vis a vis* decline of Sarasvatī river system as the late Harappan phase is not evident in the form of continuity. This happened due to disorientation of Sarasvatī River system (i.e., geological concept) around 2000 BCE to 1900 BCE as a result people migrated to its upstream following the shifting courses of Sarasvatī system which is evident by large number of late Harappan sites which emerged in Punjab and Haryana regions. There is no evidence of any other cultural deposits on this river system except the formative stages of Harappan culture.
5. Sarasvatī River system sites of Harappan culture acquired great importance being based in the agriculture zone and thus became a hub of Harappan sites (formation of nucleus zone during 3000 BCE to 2000 BCE).
6. No Harappan site is said to be destroyed, but suffered gradual decline due to geological and hydrological changes taking place in the Sarasvatī valley around 2450 BC to 1900 BC.
7. Like other animals and birds horse was also known to Harappan and Ṛgvedic people.
8. Ṛgvedic Civilization was a literate society with writing system and this is also evident in Harappan Civilization.

On the basis of above points it seems that Harappan Civilization and Ṛgvedic Civilization are

the two faces of the same coin. In other words, the Vedic Aryans were most likely the authors of Harappan Civilization.

#### Original Text:






*Rgveda Samhita* (Maṇḍalas 1-8) Text with Hindi Translation by Sripad Damodar Satavlekar, Vol. I-III, 1985, Swadhyaya Mandal, Paradi (Gujarat).




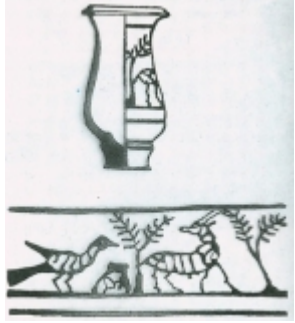
*Rgveda Samhitā* (Maṇḍalas 9-10) with the *Sāyaṇa bhāṣya* Edited by N.S. Sontakke and C.G. Kashikar, Vol. IV, 1946, Vaidika Samsodhan Mandal, Poona.






#### Bibliography:






- Agrawal, D.P. 2007. *The Indus Civilization*. Aryan Books International. New Delhi.
- Agrawal, D.P. 2009. *Harappan Technology and its Legacy*. Rupa and Co and Infinity Foundation Series. Delhi.
- Bellwood, P. 2008. *First Farmers*. Blackwell Publications. Malden.
- Childe, V. Gordon. *What Happened in History* (Penguin 1941: 33); *Man Makes Himself* (Harmondsworth, 1951: 21).
- Felipe, Fernandez-armesto. 2001. *Civilisation: Culture, Ambition, and the Transformation of Nature*. Touchstone.
- Joshi, J.P. 2008. *Harappan Architecture and Civil Engineering*. Rupa Publications India. New Delhi.
- Kenoyer, J.M. 2008. Indus Urbanism: New Perspectives on its Origin and Character. *The Ancient City: New Perspectives on Urbanism in the Old and New Worlds*, edited by Marcus, J. and J.A. Sabloff, National Academy of Sciences, Santa Fe, N.M. School for Advanced Research Press, Washington D.C.
- Mahābhārata*, 95.24.
- Mani B.R. and K.N. Dikshit. 2012. Origin of Early Harappan Cultures—A Review. *Seminar Paper at International Conference on Harappan Archaeology*, Chandigarh, 27-29 October. (unpublished).
- Possehl, G. L. 1999. *Indus Age: The Beginning*. Oxford and IBH Publishing Company. New Delhi.
- Rgveda*, 7.95.2
- Ibid*, 2.14.6
- Ibid*, 7.95.1
- Ibid*, 10.75.5
- Ibid*, 6.21.2-9
- Sullivan, Larry E. 2009. *The SAGE Glossary of the Social and Behavioral Science*. SAGE Publications. New Delhi.
- Wright, R.P. 2010. *The Ancient Indus: Urbanism, Economy and Society*. New York: Cambridge University Press.

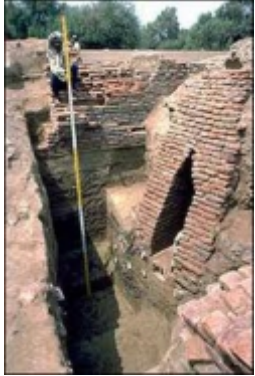









Sl. No.	R̥gvedic references / allusions	Material culture from sites belonging to Harappan Civilization
A.	Agriculture ( <i>Kṛṣi</i> )	
1.	Plough <i>vrka</i> (RV. IV.57.4)	 <p>Fig.5 Terracotta model of plough from Banawali. After R.S. Bisht</p>
2.	Properly ploughed field – <i>bhadra kṣetra</i> (RV. V.62.7.) Furrow marks- <i>yoni</i> (RV X.101.3)	 <p>Fig.6 Furrow marks of a ploughed field from Kalibangan Early Harappan. After-B.B. Lal</p>
3.	Water was drawn out of well in buckets ( <i>kośa</i> ) tied to leather strings ( <i>varatra</i> ) pulled around a stone pulley as <i>aśmacakra</i> (TB.v.6). The water thus raised was led off into broad channels- <i>surmi suśira</i> -for irrigation- (RV. VIII .69.12)	 <p>Fig.7 Irrigation system as revealed at Dholavira. After-R.S.Bisht</p>
4.	Royal Granary- <i>urdara</i> (RV. II .14.11).	 <p>Fig.8 Royal Granary, Harappa. After J. M. Kenoyer</p>
5.	Well- <i>kūpa</i> (RV. I.105.17)	 <p>Fig.9 Well as reported from Banawali. After-R.S. Bisht. It has also been reported from various Harappan sites.</p>


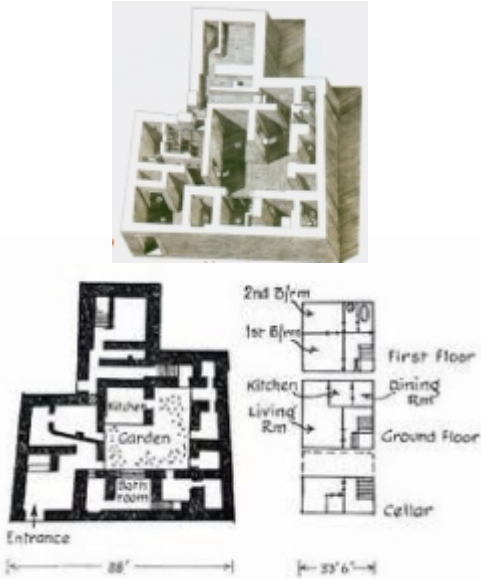


6.	Ten types of grains – <i>dvipanca annas</i> (RV I.122.13) Seed- <i>bija</i> (RV. V. 53-13; X. 85. 37; 94.13)	 <p>Fig.10 Specimen of wheat from Harappa. After D.P. Sharma</p>
7.	Sickle- <i>datra</i> (RV.III.78.10)	 <p>Fig.11 Sickle from Mohenjodaro. After D.P. Sharma</p>
B	Fauna	
1.	Sheep – <i>avi</i> (RV. I.43.6; 51.1; 52.1)	 <p>Fig.12 Seal depicting sheep from Mohenjodaro. After D.P Sharma</p>
2.	Camel – <i>uṣtra</i> (RV. I.138.2; VII.5.37; VIII.6.48)	Has been reported from various Harappan sites
3.	Monkey - <i>kapi</i> (RV X.86.5; X.21,22)	
4.	Crow - <i>kakambira</i> (RV. VI.48.17)	 <p>Fig.13 Line drawing of painting on a pot as reported from Lothal. After B.B. Lal</p>
5.	Mongoose - <i>kasika</i> (RV. I.126.6)	Has been reported from various Harappan sites




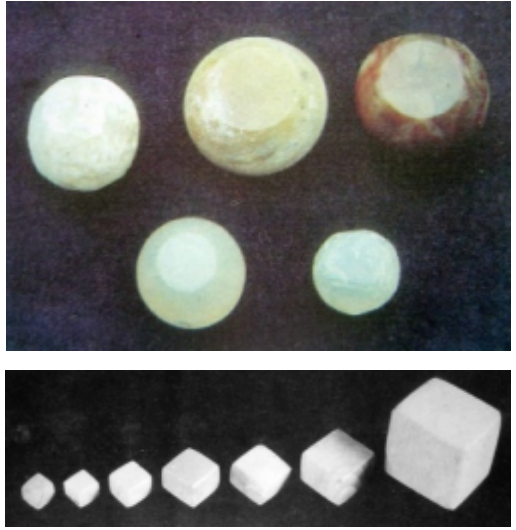
6.	<b>Spotted deer- <i>prśadasva</i></b> (RV. I.87.4; I.89.7; II.34.4; III.26.6)	 Fig.14 Pot-sherd depicting deer from Bhirana. <i>After U. Sant</i>
7.	<b>Horse - <i>paidva</i></b> (RV. I.16.16; IX.88.4)	 Fig.15 Terracotta figurine of horse from Kalibangan, Mohenjodaro, Lothal and Pirak, respectively- <i>After D.P. Sharma</i>
8.	<b>Peacock- <i>mayūra</i></b> (RV. I.191.14; III.45.1; VIII.1.25)	 Fig.16 Bowl-on-stand depicting painted peacock figure, from Lothal, <i>After S.R. Rao</i>
9.	<b>Elephant - <i>hasti</i></b> (RV. IV.16.14)	 Fig.17 Seal-sealing depicting elephant motifs, from Mohenjodaro. <i>After E. Mackay</i>
10.	<b>Lion - <i>simha</i></b> (RV. V.44.1; VI.20.6) <b>Goat - <i>basta</i></b> (RV. I.161.13) <b>Snake - <i>sarpa</i></b> (RV. X.16.6; 18.10) <b>Scorpion - <i>vṛścika</i></b> (RV. I.191.16)	 Fig.18 Seal depicting various animal motifs, from Mohenjodaro. <i>After D.P. Sharma</i>

11.	<b>Bull - vṛṣabha</b> (RV. IV.41.5; VI.46.4; VIII.53.1)	
		<b>Fig.19 Seal depicting bull figure from Mohenjodaro. After G. L. Possehl</b>
<b>C</b>	<b>Town Planning and Architecture</b>	
1.	<b>The Vedic gods, addressed as rājā, resided not only in palatial buildings but also in properly protected area – amṛta dhama or parama pāda of Viṣṇu high station of mitra, varna, etc. (RV. III.55.10; I.22.20). There was a lower division for the commoners or the martyas. The three divisions of the city is also mentioned in numerous ways (RV. V.60. 6; I.108.8-10; VI.25.1; X.81.5)</b>	
		<b>Fig.20b Fortified twin mound of Kalibangan and triple mound system from Dholavira, After B.B. Lal and R.S. Bisht.</b>
2.	<b>Ṛgveda refers to broad way – apatha; street – vipatha; lane – anupatha; interior lane/ subway – antaspath and cross roads - visuci</b>	
		<b>Fig.21 Aerial view of excavated street pattern from Mohenjodaro, After Kenoyer,</b>
3.	<b>The term for the country or kingdom was Raṣṭra. Larger than vis was the Jana. In one of the hymns we have the series Putra, Jana, vis and Jana.</b>	
		<b>Fig.22 Geographical area of Harappan empire, After D.P Sharma</b>
4.	<b>Brick laying – citi (RV. III. 2.3; 3.3; VIII.4.4; 1;19;59) Foundation – adhiṣṭhāna (RV. X.81.2)</b>	
		<b>Fig.23 Different pattern of laying of bricks, from Lothal, After S.R. Rao</b>

5.	<b>Shape/appearance– <i>chanda</i> (RV. X. 130.3)</b>	 <p><b>Fig.24</b> Arched drain out-let from, Harappa, After J.M. Kenoyer</p>
6.	<b>Transverse/horizontal – <i>tirscina</i> (RV. X. 129.5)</b>	 <p><b>Fig.25</b> Laying of bricks as reported from Harappa. After G. L. Possehl</p>
7.	<b>Column – <i>stambha</i> (RV. 121.2)</b>	
8.	<b>Pillar – <i>upamit</i> (RV. V.9.1; IV.5.1)</b>	 <p><b>Fig.26</b> Pillar and column model and pillar members from Dholavira. After R.S. Bisht</p>

9.	Gate/entrance - dvāra	 <p>Fig.27 North Gate entrance of Citadel, Dholavira. After R.S. Bisht</p>
10.	Cleaning of the drain – pariskara (RV. X.135.7)	 <p>Fig.28 Drain, Citadel Dholavira, After R.S. Bisht</p>
11.	Ray, Beam used in celestial measurement before planning and creation of the worlds- mayukha (RV. X.130.2)	 <p>Fig.29 Right angle instrument for said work made up of shell from Dholavira, After R.S. Bisht</p>
12.	Duct (sewage water drain)- nail (RV. X.135.7)	 <p>Fig.30 Burnt brick duct, from Lothal, After S.R. Rao</p>
13.	Guard- raksitr (RV. I.89.1)	<p>Reported from various Harappan sites in form of their location (Bastion/ Guard room)</p>
14.	Watchman - raksitr (RV. II.39.6)	

15.	<b>A pipe for conveying water - a kind of tube serving as a candle stick- <i>surmi</i></b>	 <p><b>Fig.31 Terracotta drainage pipe from Dholavira, After R.S. Bisht</b></p>
16. 17. 18. 19. 20.	<b>Building- <i>vastu</i> (RV. X.40.3)</b> <b>Home- <i>asta</i> (RV. I.66.5;III.53.4;IV.16.10)</b> <b>Granary- <i>urdara</i> (RV II.14.11).</b> <b>Broad house - <i>prthu ksaya</i> (RV V.12.6)</b> <b>Very large house - <i>brhantam ksaya</i> (RV. X.47.8)</b>	 <p><b>Fig.32 Plan drawing of house (Harappan period) from Mohenjodaro. After D.P. Sharma</b></p>
21.	<b>Passage– <i>jma</i> (RV. VI.4.4)</b>	 <p><b>Fig.33 Passage between houses from Bhirana, After L.S.Rao</b></p>
22.	<b>Properly plastered and finished house -<i>devamana vesma</i> (RV. X.107.10;135.7)</b>	 <p><b>Fig.34 Lime plastered wall from Dholavira. After R.S. Bisht</b></p>

23.	A house rising to touch the sky (multi storied) - <i>a dyam aruksat urrarani sadma</i> (RV X.67.10)	 <p>Fig.35 Remains of double storied houses and well from Mohenjodaro. After G. L. Possehl</p>
24.	Brick - <i>istika</i> (SB. VI.1.1;8.9; also VI.2.3.3)	 <p>Fig.36 Harappan burnt brick with ratio of 1:2:4 from Mohenjodaro. After G. L. Possehl</p>
D	Scale and measurement	
1.	Measuring rod/scale – <i>tejana</i> (RV. I.110.5)	 <p>Fig.37 Scale is reported from various Harappan sites like Harappa. After J.M. Kenoyer</p>
2.	$\frac{1}{2}$ <i>gavardha</i> - <i>adhasera</i> (SB iii.3.3.3) $\frac{1}{4}$ <i>pada</i> - <i>pava</i> (SB iii.3.3.3) $\frac{1}{8}$ <i>safa</i> - <i>adhapa</i> (VIII.47.17) $\frac{1}{16}$ <i>kala</i> - <i>chatank</i> (VIII.47.17) <i>Kasi</i> - <i>fist</i> palmful, <i>musti</i> (RV. III.30.5; VII.104.8) <i>hastan</i> - <i>handful</i> (X.117.9) Measure – <i>mana</i> (RV. I.31.1) Finger width – <i>angula</i> (RV. X.90.1) Foot- <i>pada</i> (RV. I.22.18; VI.59.6) Measure, estimate – <i>prama</i> (RV. X.130.3)	 <p>Fig.38 Weights in different denominations from Banawali. After R.S. Bisht</p>
E	Pottery and Food habits	










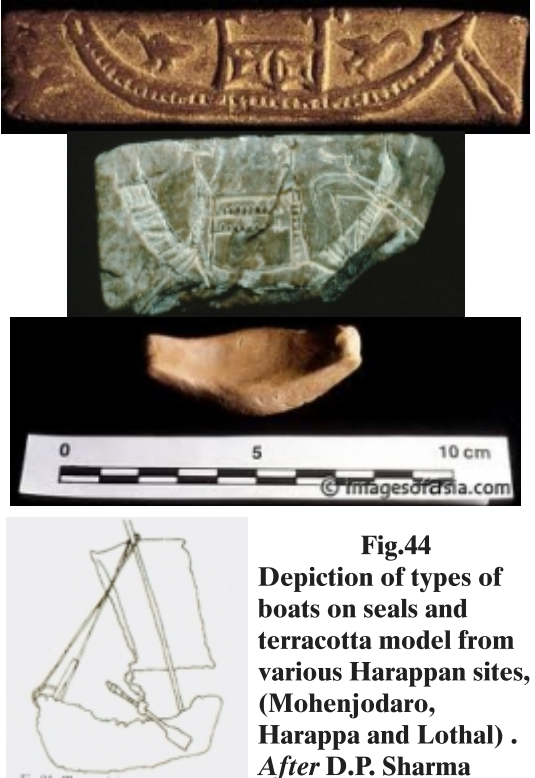

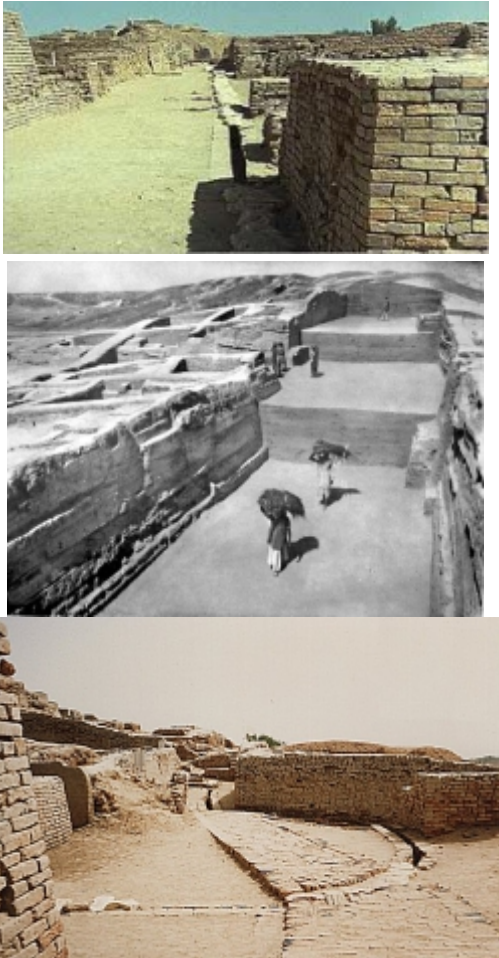
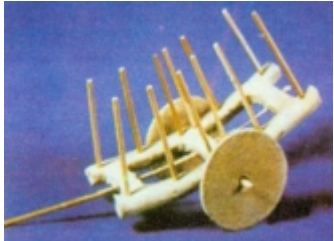
1.	Unfired, unbaked – <i>ataptatanu</i> (RV. IX. 83.1)	   
2.	Surpassing others in shine / polish – <i>atirocamana</i> (RV. X.51.3)	
3.	A carving knife – <i>ksadma</i> (RV. I. 30.4; X.106.17)	
4.	Decorated, incised – <i>tanusubhra</i> (RV. V. 34.3)	
5.	Much shining – <i>puru ruca</i> (RV. X. 104.5)	
6.	Pottery with broad bottom – <i>prthubudhna</i> (RV. I.28.1;169.6; IV. 2.5; X.49.3) 7. With bottom on the top, i.e., lids – <i>uparibudhna</i> (RV. I.24.75; X.73.8)	
8.	With hill shaped or inverted V shaped bottom, broad at the base, thin above, able to securely support the protuberant container – <i>adribudhna</i> (RV. X. 108.7)	
9.	Round at the bottom – <i>candrabudhna</i> (RV. I. 52.3)	
10.	Elevated base which neatly describes the class of pottery suggested to be dish on stand – <i>uccabudhna</i> (RV. VI.116.9)	
11.	Pointed bottom in view of the shape and size of the pot, which could not stand by itself and as such which had to be placed in some groove, <i>adhana</i> or <i>asada</i> to remain stable – <i>astrabudhna</i> (RV. X. 171.3)	 
12.	Lid, cover – <i>apidhana</i> (RV. I.51.4; 162.13)	They have been reported from all Harappan sites
13.	A large drinking vessel – <i>amatra</i> (RV. IX. 1.2; 80.2)	


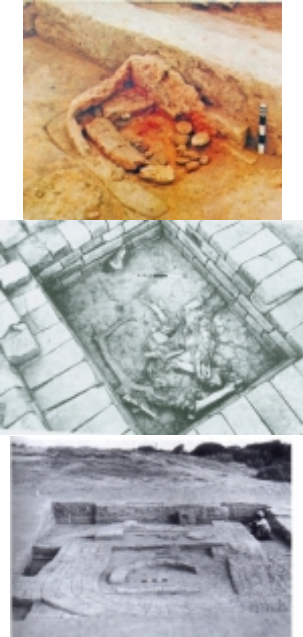
Fig.39 Types of Harappan pottery shapes and potters Klin. After J.M. Kenoyer





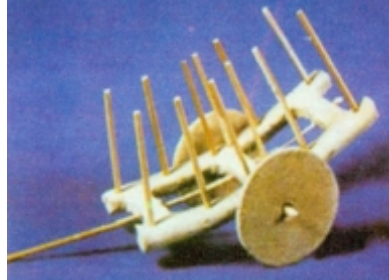
Fig.40 Dish-on-stand from Harappa. After J. M. Kenoyer



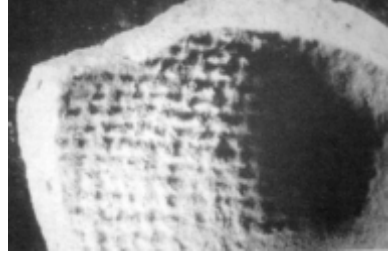


Fig.41 Pointed bottom storage jars from Harappa. After J. M. Kenoyer






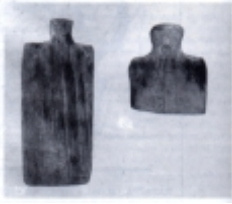
14.	Filtering vessel – <i>karotara</i> (RV. I.116.7)	 <p>Fig.42 Perforated jar from Harappa. After J. M. Kenoyer</p>
15.	Cup – <i>graha</i> (RV. X. 114.5)	They have been reported from all Harappan sites
16.	Ladle – <i>darvi</i> (RV. X. 105.10) A curved ladle – <i>juhva</i> (RV. VI.2.3; X. 149.5)	 <p>Fig.43 Ladle made up of shell from Dholavira. After R.S.Bisht</p>
F	Navigation	
1. 2. 3. 4. 5. 6. 7. 8. 9. 10. 11.	<p>One who conducts overseas journey with safety – <i>taturi</i> (RV. IV. 39.2; VI.22.2)</p> <p>One who conducts overseas journey – <i>taruna</i> (RV. I. 186.7; VII. 4.2; VIII. 19.22)</p> <p>That which sails across – <i>tarusa</i> (RV. I. 122.13; III. 2.3)</p> <p>Oar – <i>aritra</i> (RV I.46.8; X.46.7)</p> <p>Propelled by oars – <i>aritra parani</i> (RV. X.101.2)</p> <p>Ferry boat – <i>tarani</i> (RV. I. 50.4; III. 49.3; IV. 45.5)</p> <p>One who excels other in speed – <i>tartariti</i> (RV. VI.47.17)</p> <p>A ship equipped with three sails – <i>trivrt</i> (RV I.34.12; 140.2)</p> <p>A ship equipped with ten oars – <i>dasaritra</i> (RV. II. 18.1)</p> <p>A boat driven by oar age; moving by itself – <i>nityaritra</i> (RV. I.140.12)</p> <p>Ship with sail – <i>paksi</i> – (RV. I.182.5)</p>	 <p>Fig.44 Depiction of types of boats on seals and terracotta model from various Harappan sites, (Mohenjodaro, Harappa and Lothal) . After D.P. Sharma</p>






G.	Trade routes and modes of transports routes	
1.	Sitting in the driver's seat – adhigartya (RV. V.62.7)	 <p data-bbox="932 633 1465 689"><b>Fig.45</b> Terracotta model single seat cart from Mohenjodaro. <i>After</i> D.P. Sharma</p>
2. 3. 4. 5. 6. 7. 8. 9. 10.	2. Un obscured or clear road – adhvasman patha (RV. II.34.5) 3. Road free from dust – arenu patha (RV. I.163.6; VI. 62.6) 4. Straight or direct route – rju patha (RV. I. 41.5) 5. Chariot worthy road – niyana (RV. X. 142.5) 6. Trunk route – pathaspatha (RV. VI.49.8) 7. Traveler – pathi (RV.1.11) 8. Water logged road – varna patha (RV. II.4.6) 9. Deserted road – vrjina patha (RV. VI. 46.13) 10. Proper route – sadhistha patha (RV. VII.64.3)	 <p data-bbox="932 1668 1465 1760"><b>Fig.46</b> Remains of Harappan roads and streets: Mohenjodaro and Kalibangan. <i>After</i> D.P. Sharma</p>
11.	Bullock cart – anasa (RV. III.33.9; IV. 30.10)	

12.	Chariot with long forefront – <i>dirghapsa</i> (RV. I. 122.15)	 <p>Fig.47 Model of bullock cart and chariot from Mohenjodaro, Harappa and Diamabad, After D.P. Sharma</p>
H.	Religious Practices	
1.  2.  3.  4.  5.	<p>Not initiated in the Brāhmaṇic system – <i>asnata</i> (RV.II.15.5; IV. 30.17)</p> <p>Enjoying protection of Indra – <i>indravant</i> (RV. I.105.19; IV.33.3; V.57.1; X.35.1)</p> <p>Opposed to worship of Indra – <i>anindra</i> (RV. I.133.1; IV.23.7; V.2.3)</p> <p>He who tends fire – <i>agnihotra</i> (RV. X.66.8)</p> <p>Sacrifice – <i>yajña</i> (RV. 1.1.4; III.12.2)</p>	 <p>Fig.48 Fire altars from Rakhigarhi, Kalibangan and Banawali. After D.P.Sharma</p>

6.	<p><b>Evidence of another form of worship – anyavrata (RV. V.20.2; VIII.70.11; X.22.4)</b></p>	   <p><b>Fig.49 Śivaliṅga from Kalibangan, Dholavira and Harappa. After Lal and Bisht</b></p>
I.	<p><b>Industries and profession</b></p>	
<ol style="list-style-type: none"> <li>1.</li> <li>2.</li> <li>3.</li> <li>4.</li> <li>5.</li> <li>6.</li> <li>7.</li> <li>8.</li> <li>9.</li> <li>10.</li> <li>11.</li> <li>12.</li> <li>13.</li> <li>14.</li> <li>15.</li> <li>16.</li> <li>17.</li> <li>18.</li> <li>19.</li> <li>20.</li> <li>21.</li> </ol>	<p><b>Smith- karmara (RV. IX.112.3;X.72.2)</b>  <b>Carpenter- tasta (RV. III.38.1;VII.32.20)</b>  <b>Smelter-dravi- (RV. VI.3.4)</b>  <b>Dancer- nṛtu (RV. VI.92.4;II.22.4;V.52.12)</b>  <b>Shell-worker-ratanabhaj (RV. VII.81.4)</b>  <b>Barber- vapta (RV. X.142.4)</b>  <b>Weaver-vasovaya (RV. X.26.6)</b>  <b>Architect- vastukara (RV. VII.54;YV xvi.39)</b>  <b>Gold smith-svarnakara (YV. VII.19)</b>  <b>Mason-sthapat (RV. I.154.6; VIII.25.5)</b>  <b>Possessing unimpaired splendor, akrttaruk (RV. X.84.4)</b>  <b>Not shortened or mutilated- akharva (RV. I.6.3)</b>  <b>Having the brightness of Agni- agnisriyah (RV. III.26.5)</b>  <b>Pierced or drilled badly- atividdha (RV VIII.96.2)</b>  <b>Polished- komya (RV. I.171.3)</b>  <b>Alloy -bronze made of three metals - tridhatu (RV. I.34.6;III.26.7)</b>  <b>Pin of the axle- ani (RV. I.35.6;63.3;V.43.8)</b>  <b>Spoke – ara (RV. V.58.5; X.78.4)</b>  <b>Body of chariot- upanasa (AV.ii.14.2)</b>  <b>Body of wagon- upahvara (RV. I.87.2)</b>  <b>Wheel- cakra (RV. I.30.19; II.11.20; IV.1.3)</b></p>	<p><b>These all are the related term of profession and the product outcome is present in Harappan material culture.</b></p>   <p><b>Fig.50 Model of terracotta painted spoked wheels and cart from Dholavira and Mohenjodaro . After R.S. Bisht and J.M. Kenoyer</b></p>

22.	Hammer- <i>ghana</i> (RV.I.36.16)	  <p>Fig.51 Copper chisel and stone drill bits from Mohenjodaro; Copper blade from Bagasra. After J.M. Kenoyer</p>
23.	Chisel- <i>takva</i> (RV. VIII.102.8)	
24.	Blade- <i>dhara</i> (RV. II.34.1)	
25.	Drill- <i>bhrama</i> (RV. I.31.16)	
26.	Incision <i>vrkna</i> (RV. X.87.5)	
27.	Upper garment- <i>adhivas</i> (RV. I.140.9;162.16; X.5.4)	 <p>Fig.52 Impression of woven cloth on potsherd from Harappa. After J.M. Kenoyer</p>
28.	Yarn- <i>tantu</i> (RV. I.142.1;II.3,6)	
29.	Weaving- <i>vayan</i> (RV. V.47.6)	
30.	Needle- <i>vesi</i> (RV. VII.18.17)	 <p>Fig.53 Copper needle from Dholavira. After R.S. Bisht</p>
31.	Ear stud- <i>karnasobhana</i> (RV. VIII.78.3)	 <p>Fig.54 Various types and form of Harappan jewelry items. After J.M.Kenoyer</p>
32.	Wearing bracelets- <i>khadthasta</i> (RV. V.58.2)	
33.	Golden ornament for the neck or breast- <i>niska</i> (RV. II.33.10; VIII.47.15)	
34.	Wearing a necklace of beads- <i>manigriva</i> (RV. I.122.14)	
35.	Golden chain- <i>rukma</i> (RV. I.88.2;IV.10.5)	

J.	Funerary practices	
1.	Cremination- <i>agnidagdha</i> (RV. X.15.14.)	
2.	Burial- <i>anagnidagdha</i> (TB. III.1.1.7)	
3.	In <i>Athravaveda</i> we find a coffin or box, <i>vriksa</i> for laying the dead person at rest	
4.	Pottery/vessels (AV. XXXV.17) and (RV. X.14.13-15) contained a variety of food items/ food and drinks must have been provided for life after death- <i>prajivana</i>	 Fig.55 Different types of burial practices from Dholavira . After R.S.Bisht
K.	Writing System	  Fig.56 Seal engraver, writing tablets ( <i>takhtis</i> ) and Harappan script from Mohenjodaro. After J.M. Kenoyer

L.	Amusement	
1.	These includes Chariot racing, dicing, dancing and music etc. the race was called aji (RV. V.37.7)	 
2.	Race course- kashtha (RV. VII.80.8)	
3.	Dicing – aksha (RV. I.41.9)	
4.	Dancing- nrtu RV. (I.92.4; I.30.7; II.22.4; VI.29.3)	 <p data-bbox="943 1912 1445 2007"><b>Fig.57 Dice, chess board, gamesmen and dancing girl from Mohenjodaro. After J.M. Kenoyer</b></p>

## धातु एवं पाषाण-आधारित औद्योगिक विकास का राज्य और सामाजिक संरचना पर प्रभाव : मौर्य काल के विशेष सन्दर्भ में

सुबोध कुमार मिश्र \*



सापूर्व 322 से लेकर 184 तक का कालखण्ड भारतीय इतिहास में विभिन्न दृष्टिकोणों से अपना विशेष महत्त्व रखता है। यही वह कालखण्ड था जब भारत के किसी सम्राट् ने पौराणिक चक्रवर्तित्व की अवधारणा को ऐतिहासिक युग में पहली बार साकार किया था।

भौगोलिक दृष्टि से भारत ने अपनी प्राकृतिक सीमा को स्पर्श किया था। यह कालखण्ड न केवल साम्राज्यिक विस्तार का ही काल था, अपितु महान् शान्ति, सुरक्षा और सम्पन्नता के सुखमयी आवरण में लिपटे हुए कला, व्यापार, वाणिज्य, शिक्षा एवं साहित्य तथा प्रशासनिक उन्नयन का भी समय था। ध्यातव्य है कि इसी कालावधि में अशोक-जैसे सम्राट् का भारत में आविर्भाव हुआ जिसने दुनिया को धर्म, सहिष्णुता, मानवता तथा विश्व-बन्धुत्व का जो पाठ पढ़ाया, वह विश्व इतिहास में अपने आपमें अद्वितीय है। अथच मौर्य काल में भारत की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, कलात्मक तथा प्रशासनिक क्षेत्रों में जो उन्नति हुई, उसने मौर्य युग को भारतीय इतिहास में एक गौरवशाली स्थान प्रदान किया।

मौर्य काल में हुए औद्योगिक विकास का राज्य एवं उसकी सामाजिक संरचना पर विशेष प्रभाव पड़ा। धातु और पाषाण-उद्योग ग्रामीण क्षेत्रों से लेकर नगर क्षेत्रों तक विस्तृत थे। एक ओर ग्रामीण

क्षेत्रों के लघुद्योग स्थानीय जनता की दैनन्दिन आवश्यकता की पूर्ति कर देते थे जो पण एवं कार्षापण के द्वारा क्रय-विक्रय पर आधारित था, वहीं दूसरी ओर नगरों में पाषाणों तथा धातुओं से संबंधित बड़े उद्योग विद्यमान थे। इन उद्योगों के उद्योगपतियों पर राजकीय नियन्त्रण था तथा ये राजकीय करों का भुगतान भी करते थे। इनके द्वारा उत्पादित उत्पादों की बिक्री अंतर्राज्यीय एवं अंतर्राष्ट्रीय बाजारों में राजकीय नियमानुसार वाणिज्य एवं व्यापार अधिकारी की देखरेख में की जाती थी। कड़े केन्द्रीय शासन एवं सुदृढ़ गुप्तचर-व्यवस्था के कारण राजकीय आय के प्रमुख स्रोत, यथा— खनन, उद्योग-धन्धों एवं व्यापार आदि के क्षेत्रों में करों की चोरी सम्भव नहीं रही। परिणामस्वरूप राजकीय एवं निजी क्षेत्रों में उद्योग-धन्धों के साथ-साथ व्यवसाय के क्षेत्र में भी तीव्र विस्तार हुआ।

औद्योगिक विकास के कारण समृद्धशाली बन चुके मौर्य-सम्राटों ने अपने विस्तृत साम्राज्य पर सुचारु रूप से शासन-संचालन के लिए एक मजबूत केन्द्रीय प्रशासन-तंत्र की स्थापना की। केन्द्रीय शासन में भिन्न-भिन्न विभागों के कुल 18 अधिकरण (महकमे या विभाग) थे। प्रत्येक अधिकरण एक-एक महामात्य के अधीन था। अधिकरणों को तीर्थ भी कहा जाता था। राजा अपने मंत्रियों एवं पुरोहितों के परामर्श से ही शासन संचालित करता था।

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में प्रधान आमात्य (प्रधानमंत्री) तथा प्रधान पुरोहित के पद पर एक ही व्यक्ति (चाणक्य) नियुक्त था। प्रधान आमात्य के परामर्श से ही राजा भिन्न-भिन्न अधिकरणों के आमात्यों को नियुक्त करता था, उनके 'शौच' (शुचिता)

\* प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, महाराणा प्रताप स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जंगल धूसड़, गोरखपुर (उ०प्र०); सचलभाष : 08574779415; ई-मेल : mishrasubodh389@gmail.com

और अशौच की परीक्षा लेता था<sup>१</sup>, प्रजा के सम्मति और गतिविधियों को जानने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति करता था<sup>२</sup> और परराष्ट्र नीति का संचालन एवं विदेशों में राजदूतों की नियुक्ति भी करता था।<sup>३</sup> इतने विशाल साम्राज्य के सुव्यवस्थित संचालन हेतु भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में शासन हेतु प्रान्तपतियों को नियुक्त किया जाता था। सम्पूर्ण राजकीय करों से प्राप्त होनेवाली आय को एकत्र करने के लिए 'समाहर्ता' नामक अधिकारी अधिकृत था जिसके अधीन खनन उद्योग, व्यापार एवं व्यवसायादि विभागों से संबंधित अनेक अध्यक्ष होते थे। इनके द्वारा अपने-अपने विभागों से राजकीय करों को एकत्र किया जाता था और ये स्वयं ही अपने-अपने विभागों को संचालित भी करते थे। समाहर्ता मुख्य रूप से राजकीय आय-व्यय का लेख-जोखा रखता था।<sup>४</sup> साथ ही साथ कार्यों का संपादन, उनकी अद्यतन स्थिति, आय-व्यय की स्थिति एवं विशुद्ध आमदनी का पूरा ब्योरा रखना भी उसी की जिम्मेदारी होती थी। समाहर्ता से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह राजकीय आय को एकत्र करने के साथ उसकी वृद्धि दर बढ़ाये और व्यय में कमी करे।

राज्य में विभिन्न उद्योगों में हुए विकास के कारण राजकीय अर्थव्यवस्था में तीव्र गति से सुधार हुआ। कुल 7 उद्योग के उद्योग एवं व्यवसायों से राजकीय आय की प्राप्ति होती थी— 1. दुर्ग, 2. राष्ट्र, 3. खनि, 4. सेतु, 5. वन, 6. व्रज और 7. वणिक्पथ।

**दुर्ग**— दुर्ग से शुल्क, दण्ड, पौतव, नागरक, लक्षणाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, सुरा, सूना, सूत्र, तैल, घृत, क्षार, सौवार्णिक, पण्यसंस्था, वेश्या, धूत, वास्तुक, कारुशिल्पिगण, देवाताध्यक्ष, द्वारदेय और वाहिरिकादेय का संग्रहण होता था।<sup>५</sup> ये सभी शब्द राजकीय आय के विभिन्न स्रोतों के लिए प्रयुक्त किये जाते थे, जिनका संबंध दुर्ग या नगरों के साथ जुड़ा हुआ था।

**राष्ट्र और खनि**— राष्ट्र से सीता, बलि, कर, नदीपालस्तर, नावपट्टन, विवीत, वर्तनी, रज्जू और चोर रज्जू जबकि खनि से सुवर्ण, रजत, वज्र, मणि, मुक्ता, प्रवाल, शंख, लोहा, लवण भूमि प्रस्तर, रस तथा अन्य धातुओं का संग्रहण किया जाता था।<sup>६</sup>

**सेतु**— सेतु के द्वारा पुष्प, फल, वाट, षण्ड, केदार, मूल और वाप का ग्रहण किया जाता था।<sup>७</sup>

**वन**— वन से पशु, मृग, हस्ति और अन्य जांगलिक द्रव्यों का संग्रहण होता था।<sup>८</sup>

**व्रज**— व्रज से गो, महिल, अजा, अवि, खर, उष्ट्र, अश्व और अश्वतर ग्रहण किए जाते थे।<sup>९</sup>

**वणिक् पथ**— वणिक् पथ में स्थल एवं जल— दोनों ही पथ अंतर्निहित था। इस पथ का उपयोग व्यापारियों द्वारा किए जाने पर

उनसे चुंगी ग्रहण की जाती थी।<sup>१०</sup>

इस प्रकार से राजकीय आमदनी के विभिन्न साधनों को मौर्य-शासकों ने विविध वर्गों/श्रेणियों में विभक्त किया था जिससे मुख्यतः 7 प्रकार के आय प्राप्त होते थे—<sup>११</sup> 1. मूल, 2. भाग, 3. ब्याजी, 4. परिधि, 5. क्लृप्त, 6. रूपिक और 7. अव्यय।

इन्हीं सातों प्रकार की मुख्य आय से मौर्य-शासकों ने देश के लिए एक सुदृढ़ कोष की स्थापना की जिसके बल पर इतने विस्तृत भू-भाग पर कुशलता एवं सफलतापूर्वक शासन संचालन किया।

इस कालखण्ड में स्थापित उद्योग के विकास का प्रभाव तत्कालीन समाज एवं अर्थव्यवस्था पर भी पड़ा। बड़े तथा राजकीय महत्त्ववाले उद्योगों एवं व्यवसायों पर राज्य का सीधा नियंत्रण था। छोटे स्तर पर दैनिक उपयोग में आनेवाली वस्तुओं का उत्पादन स्थानीय कारीगरों द्वारा किया जाता था। फलस्वरूप लघु एवं सहयोगी कुटीर-उद्योगों का भी विकास हुआ।

धातु-उद्योग इस अवधि का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्योग था जिस पर राज्य का पूरा नियंत्रण था। राजकीय देखरेख एवं निर्देशन में खानों से कच्ची धातु को निकालने एवं उससे धातुओं के रूप में परिवर्तन करने तथा शस्त्रास्त्र, उपकरण तथा आभूषणादि बनाने के बड़े एवं कुटीर उद्योग कार्यरत थे। राज्य की ओर से इसके निर्माण के लिए अनुज्ञा-पत्र (लाइसेंस) दिया जाता था। कोई भी व्यक्ति अनुज्ञा-पत्र प्राप्तकर उत्पादन का एक निश्चित भाग राज्य को कर के रूप में प्रदानकर उद्योग स्थापित कर सकता था। राज्य की अनुमति लेकर समुद्री खानों से निकलनेवाले शंख, मुक्ता, प्रवाल तथा मोती आदि कीमतों पाषाणों से विभिन्न प्रकार के मालाओं एवं हारों का निर्माण करने के भी छोटे-बड़े उद्योग अस्तित्व में थे। मोती, मणि और हीरे आदि से विभिन्न प्रकार के आभूषणों को बनाने तथा मणि और हीरे को काटकर निश्चित आकार प्रदान करने का कार्य मणिकारुओं द्वारा किया जाता था। इस तरह मणि, मुक्ता आदि का व्यवसाय मौर्य काल में बहुत उन्नत था।<sup>१२</sup> इसके साथ ही बरतन उद्योग, काष्ठोद्योग, चर्मोद्योग एवं मद्योद्योग भी काफ़ी फल-फूल रहे थे।

मौर्य-शासकों द्वारा सैन्य शक्ति को अत्यन्त सशक्त स्थिति में रखा जाता था। इसके लिए शस्त्रास्त्र बनाने के उद्योग का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। शस्त्रास्त्रों के निर्माण के लिए कुशल शिल्पियों से विभिन्न प्रकार के युद्धोपयोगी हथियारों का निर्माण कराया जाता था। वैसे ही सुनार (स्वर्णकार) द्वारा सोने, चाँदी-जैसी महत्त्वपूर्ण धातुओं से कुशल शिल्पियों द्वारा उपयोग में आनेवाले आभूषणों का निर्माण कराया जाता था। धातु-उद्योगों के शिल्पियों द्वारा लोहे, ताम्र, त्रपु आदि धातुओं से बरतन तथा हथियार, सोने एवं चाँदी-जैसी

धातुओं से आभूषणों तथा सिक्कों का निर्माण एवं काष्ठगारों द्वारा फावड़ा, कुदाल, कुल्हाड़ी आदि का निर्माण कराया जाता था।

मौर्य काल में विभिन्न क्षेत्रों में हुए औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप देश में राज्य-संरक्षित उद्योगों के साथ-साथ निजी क्षेत्रों में उद्योगपतियों का प्रादुर्भाव हुआ। इस समय धातु-उद्योग में निजी क्षेत्र के उद्योगपतियों की बहुलता थी।<sup>15</sup>

लोहा, सोना, चाँदी, तांबा, कांसा, हाथीदाँत तथा चर्मादि से अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाई जाती थीं। बुनकर, हलवाई, जौहरी, कुम्हार आदि अपना निजी उद्योग चलाते थे, जिसके बदले में वे राज्य को कर देते थे। उद्योगों के क्षेत्र में हुए विकास के कारण राज्य का व्यापारिक संबंध देश के भीतर अन्य राज्यों से तथा देश के बाहर दूसरे देशों से काफी बढ़ गया। परिणामस्वरूप देश में उत्पादित वस्तुओं का बड़े पैमाने पर निर्यात होने लगा। इससे देश को विदेशी मुद्रा प्राप्त होने लगी। साथ ही विदेशी मालों की बिक्री के लिए भारत आने पर उससे बिक्री कर (सेल टैक्स) लिया जाता था। जलमार्ग और स्थल-मार्ग से आने-जाने पर व्यापारियों से आयात-निर्यात कर वसूला जाता था, जो सम्भवतः माल का 20 प्रतिशत होता था।<sup>16</sup> इस तरह से राज्य का व्यापारिक वातावरण व्यवस्थित होने से अनेक व्यापारिक नगरों का विकास हुआ। व्यापार के बढ़ते आयामों के कारण एक नये व्यापारिक वर्ग का भी उदय हुआ जो व्यापार से अपनी आजीविका चलाता था।

उद्योगों में हुए विकास से इन क्षेत्रों में कार्यरत कर्मकारों, शिल्पियों, कृषकों एवं व्यापारियों के अपने-अपने संगठन कायम हो गये थे जिन्हें 'श्रेणी' (Guild) कहा जाता था। इस काल में अनेकविध संघातों (समुदायों) की सत्ता कायम थी और उनके अपने-अपने पृथक् धर्म (कानून), व्यवहार और चरित्र होते थे। शिल्पी भी अनेक श्रेणियों में संगठित थे। नगर में जहाँ विभिन्न वर्गों के लिए पृथक्-पृथक् निवास की व्यवस्था थी, वहाँ श्रेणियों के रहने के लिए भी पृथक् स्थान सुरक्षित था। स्मृति-ग्रंथों में भी शिल्पियों और कारीगरों के संगठनों का स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है जहाँ उन्हें 'श्रेणी' की संज्ञा दी गई है। विभिन्न श्रेणियों के संग होते थे जिनका एक मुखिया होता था जिसे 'भाण्डागारिक' कहा जाता था। वैसे ही व्यापारिक संगठनों के प्रधान को 'सेट्टी' कहा जाता था। व्यापारी अपनी गाड़ियों, माल तथा अपने आदमियों को एक साथ मिलाकर एक 'समवाय' (कम्पनी) बना लेते थे जिसका नायक 'सार्थवाह' कहलाता था। उसी तरह थलमार्ग पर व्यापारियों का मार्ग प्रशस्त करनेवाले अधिकारी को 'थलमियामक' कहा जाता था।

मौर्य काल के उद्योगों में हुए विकास का जितना अच्छा प्रभाव राज्य पर हुआ, उतना ही प्रभाव तत्कालीन समाज पर भी पड़ा। वर्ण-व्यवस्था के पूरी तरह अस्तित्व में होने के बाद भी मौर्य-शासकों ने

शूद्रों को उनके स्वधर्म कार्य के अतिरिक्त कृषि, वाणिज्य एवं पशुपालन आदि कार्य के लिए अधिकृत कर दिया था। अब शूद्र भी कृषि, पशुपालन एवं व्यापार कर सकते थे। यद्यपि शिल्प को भी शूद्रों का ही कार्य माना जाता था तथापि इस क्षेत्र में शूद्रों की संख्या नगन्य ही थी। इस कालखण्ड में ग्रामीण अर्थव्यवस्था में काफी हद तक सुधार हुआ था। गाँवों के लोग अधिकांशतः नगरों की तरह सुख-सुविधाओं का उपभोग करते थे। उद्योगों में हुए विकास के कारण इस कालखण्ड के लोगों के लिए बड़े पैमाने पर रोजगार के अवसर उपलब्ध हुए। लोग अपनी स्वच्छन्दता से इन कार्यों में अपनी आजीविका तलाशकर अपनी रोजी रोटी की व्यवस्था करने लगे थे। अच्छे पोशाक, आभूषण, प्रेम एवं श्रृंगार तथा विभिन्न प्रकार के सुअन्न एवं शाक-सब्जी, फल आदि का सेवन निश्चित रूप से इस कालखण्ड के लोगों के जीवन में औद्योगिक विकास के सर्वश्रेष्ठ परिणामों का द्योतक था।

सन्दर्भ :

1. 'तान् राजा स्वविषये मन्तिपुरोहितसेनापतियुवराज-दौवारिकान्तर्वशिका प्रशास्तृसमाहर्तृसन्निधात् प्रदेशनायक पौरव्यावहारिक कार्मान्तिक मन्त्रिपरिषदध्यक्षादण्ड दुर्गान्तपालाटविकेषु.....।' —कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, अधिकरण 1, प्रकरण 7, अध्याय 11, श्लोक 5, अनुवादक : वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2011, पृ० 11
2. 'मन्त्रिपुरोहितसखः सामान्येष्वधिकरणेषु स्थायित्वाऽमात्यानुधाभिः शोधयेत' —वही, अधिकरण 1 प्रकरण 5, अध्याय 9, श्लोक 1, पृ० 25
3. 'तदस्य गूढाः सन्निजश्व संवादयेयुः। सत्वप्रज्ञावाक्यशक्ति सम्पन्नाः...मन्त्री चैषां वृत्तिकर्मभ्यां विद्यते।' —वही, अधिकरण 1, प्रकरण 6, अध्याय 10, श्लोक 7, पृ० 31
4. 'उद्धृतमन्त्रे इतप्रणिधिः.....सुप्रतिविहित यानवाहन पुरुष परिवाषः प्रतिष्ठेत' —वही, अधिकरण 2, प्रकरण 11, अध्याय 15, श्लोक 1-2, पृ० 49
5. 'समाहर्ता दुर्ग राष्ट्रं खनि सेतु वनं व्रजं वाणिज्यपथं चावेक्षेत्र' —वही, अधिकरण 2, प्रकरण 22, अध्याय 6, श्लोक 1, पृ० 99
6. 'शुल्कं दण्डः पौतवं नागरिको लक्षणाध्यक्षो मुद्राध्यक्षः सूना सुरा सूत्रं तैलं धृतक्षारः सौवर्णिकः पव्यसंस्था वेश्या धूतं कारुशिल्पिगणो देवताध्यक्षो द्वारवाहिरिकादेयं दुर्गम्।' —वही, अधिकरण 2, प्रकरण 22, अध्याय 6, श्लोक 2, पृ० 99
7. 'सीता भागो बलिः करो वणिक् नदीपालस्तरी नावः पट्टनं विवीतं वर्तनी रज्जूश्वोररज्जूश्च राष्ट्रम्' —वही, अधिकरण 2, प्रकरण 22, अध्याय 6, श्लोक 3, पृ० 99
8. 'सुवर्णरजतवज्रमणिमुक्ता प्रवालशङ्ख लोहलवणभूमि प्रस्तररस

- धातवः खनिः' — वही, अधिकरण 2, प्रकरण 22, अध्याय 6, श्लोक 4, पृ० 99
9. 'पुष्पलवाटषण्डकेदार मूलवायपाः सेतुः' — वही, अधिकरण 2, प्रकरण 22, अध्याय 6, श्लोक 5, पृ० 100
10. 'पशुमृगद्रव्यहस्तिवनपरिग्रहो वनम्' — वही, अधिकरण 2, प्रकरण 22, अध्याय 6, श्लोक 6, पृ० 100
11. 'गोमहिषजाविकं खरीष्टमश्वाश्वतराश्च व्रजः' — वही, अधिकरण 2, प्रकरण 22, अध्याय 6, श्लोक 7, पृ० 100
12. 'स्थलपथो वारिपश्च वाणिक्पथः' — वही, अधिकरण 2, प्रकरण 22, अध्याय 6, श्लोक 8, पृ० 100
13. 'मूलं भागो व्याजी परिघः क्लृप्तं रूपिकमत्ययश्चायमुखम्' — वही, अधिकरण 2, प्रकरण 22, अध्याय 6, श्लोक 9, पृ० 100
14. 'ततः परं नगरराजदेवतालोहमणिकारवो ब्राह्मणा-श्वोत्तरां दिशमधिवसेयुः' — वही, अधिकरण 2, प्रकरण 20, अध्याय 4, श्लोक 3, पृ० 92
15. 'व्यक्रियाभारिकमाकरं भागेन प्रक्रयेण वा वद्यात्, लाघविक-मात्मना कारयेद्' — वही, अधिकरण 2, प्रकरण 28, अध्याय 12, श्लोक 21, पृ० 140
16. 'शुल्कव्यवहारी ब्राह्ममाभ्यन्तरं चातिथ्यम्; निष्क्राम्यं, प्रवेश्यं च शुल्कम्' — वही, अधिकरण 2, प्रकरण 38, अध्याय 22, श्लोक 1-2, पृ० 189



## गोपालकृष्ण का प्रतिमाविज्ञान

प्रज्ञा चतुर्वेदी \*

**वि**विध देवी-देवताओं की प्रतिमाओं के निर्माण-विषयक विधि-विधान शिल्पशास्त्र के विषय हैं जिसकी संरचना सातवीं-आठवीं शताब्दी के अनन्तर सम्पन्न हुई। इनमें प्रतिमाविशेष के लिए सामग्री-चयन से लेकर उसके माप-परिमाण, आभूषण, आयुधादि सभी के विषय में कुछ आवश्यक निर्देश दिए गए हैं जिनका परिपालन करते हुए शिल्पी उस प्रतिमा का निर्माण करते थे। स्पष्टतः शिल्पियों के लिए बाध्यकारी शिल्पशास्त्रगत ये निर्देश कालक्रम में परवर्ती हैं; क्योंकि जिन प्रतिमाओं के विषय में ये निर्देश दिये गये हैं, उनकी निर्माण-परम्परा बहुत पहले ही प्रारम्भ हो चुकी थी। इससे यह भी स्पष्ट है कि प्रतिमाओं के निर्माण हेतु जिन मानकों का अनुगमन शिल्पियों द्वारा परम्परागत रूप से किया जा रहा था, उन्हीं के आधार पर शिल्पशास्त्र की कृतियों में नियमों का विधान किया गया।

इस दृष्टि से गोपालकृष्ण विषयक प्रतिमाविज्ञान भी परवर्ती है, क्योंकि उनसे संबंधित प्रतिमाओं का निर्माण कुषाण काल से ही होने लगा था। आगे चलकर इन पूर्वकालिक प्रतिमाओं में निहित तालमान तथा अन्य सन्दर्भों को आधार बनाकर वासुदेव (कृष्ण), बलराम आदि तथा उनसे संबंधित घटनाओं को आधार बनाकर परवर्ती कृतियों में आवश्यक विधान प्रस्तावित किए गये। इस विषय में जिन परवर्ती कृतियों में आवश्यक निर्देश अंकित किए गए हैं, उनमें *अग्निपुराण*, *बृहत्संहिता*, *विष्णुधर्मोत्तरपुराण*, *वैखानसआगम* आदि मुख्यतः उल्लेखनीय हैं।

*अग्निपुराण* के 43वें-44वें अध्यायों में वासुदेव आदि की

प्रतिमाओं के लक्षणों का उल्लेख है। इसके अनुसार भगवान् की प्रतिमा मिट्टी, लकड़ी, लोहा, रत्न, पत्थर, चन्दन एवं पुष्पादि से बनानी चाहिए।<sup>1</sup> फूल, मिट्टी तथा चन्दन की बनी हुई प्रतिमाओं के निर्माण के पश्चात् तुरन्त उनकी अर्चना की जानी चाहिए।<sup>2</sup>

शैलमयी प्रतिमा का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि किसी पर्वत का पत्थर लाकर प्रतिमा बनवावें। पर्वतों के अभाव में ज़मीन से निकले हुए पत्थर का उपयोग करें।<sup>3</sup> ब्राह्मण आदि चारों वर्णवालों के लिए क्रमशः सफेद, लाल, पीला और काला पत्थर उत्तम माना गया है। यदि ब्राह्मणों को उनके वर्ण के अनुकूल उत्तम शिला न प्राप्त हों तो उसमें आवश्यक वर्ण की कमी की पूर्ति करने के लिए नृसिंहमंत्र से हवन करना चाहिए।<sup>4</sup>

इसी प्रकार *अग्निपुराण* में यह भी वर्णित है कि यदि शिला में सफेद रेखा हो तो वह उत्तम हं, परन्तु यदि काली रेखा हो तो वह नृसिंहमन्त्र से हवन करने पर उत्तम होती है।<sup>5</sup>

प्रतिमा-निर्माण हेतु वन में जाकर, कुण्ड खोदकर और उसे लीपकर भगवान् विष्णु का पूजन करना चाहिए तथा उन्हें बलि समर्पण कर कर्म में उपयोगी टंक आदि शस्त्रों की पूजा करनी चाहिए।<sup>6</sup> फिर हवन करने के पश्चात् अस्त्र-मंत्र (‘अस्त्राय फट्’) के उच्चारणपूर्वक उस शिला को सींचना चाहिए। नृसिंहमन्त्र से उसकी रक्षा करके मूल मंत्र (ॐ नमो नारायणाय) से पूजा करना चाहिए।<sup>7</sup> पुनः मन्दिर के उत्तर भाग में शिला को पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख रखकर उसकी पूजा करनी चाहिए।

इसी प्रकार लोक में दृश्य अन्य लक्षणों को भी दृष्टि में रखकर प्रतिमा में उसका निर्माण करना चाहिए। दाहिने हाथ में से ऊपरवाले हाथ में चक्र और नीचेवाले हाथ में पद्म धारण करावें। बायें हाथ में ऊपर शंख एवं नीचे गदा का निर्माण करना चाहिए। ये वासुदेव

\* वरिष्ठ प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

श्रीकृष्ण के चिह्न हैं, अतः उन्हीं की प्रतिमा में इनका निर्माण होना चाहिए। भगवान् के निकट हाथ में कमल लिए हुए लक्ष्मी तथा वीणा धारण किए पुष्टि देवी की भी प्रतिमा बनावें।

*बृहत्संहिता* के प्रतिमालक्षणाध्याय में भी कुछ इसी प्रकार के लक्षणों का विवेचन है।<sup>8</sup> इसके अनुसार वासुदेव की प्रतिमा द्विभुज या चतुर्भुज बनावें। उनके वक्षःस्थल को श्रीवत्स चिह्न एवं कौस्तुभ मणि से शोभित करें। उनके हाथ में शंख, चक्र, पद्म एवं गदा धारण करावें। द्विभुज प्रतिमा में दाहिना अभय प्रदान करते तथा बायें में शंख धारण की हुई प्रतिमा बनावें।

इस ग्रन्थ में बलदेव (बलराम) तथा एकानंशा की प्रतिमाओं के निर्माण हेतु भी आवश्यक निर्देश दिए गए हैं। कहा गया है कि बलदेव और कृष्ण की प्रतिमा के मध्य में एकानंशा देवी की प्रतिमा बनावें।<sup>9</sup>

कृष्ण, एकानंशा तथा बलराम की प्रतिमाओं के निर्माण के प्रसंग में *विष्णुधर्मोत्तरपुराण* से विदित होता है कि नीलोत्पल के वर्णवाले कृष्ण के एक हाथ में चक्र रहता है। पास में स्थित एकानंशा के दाहिने हाथ में कमल रहता है। समीप में बलराम हल-मूसल लिए एवं कुण्डल पहने हुए, नीले वस्त्र धारण किए हुए रहते हैं। उनके नेत्र मद से विह्वल रहते हैं। श्याम वर्ण की एकानंशा के हाथ कमल सदृश हैं एवं उनका बायां हाथ कटि पर रखा रहता है—

‘एकानंशापि कर्तव्या देवी पद्मकरा तथा ।

कटिस्थवामहस्ता सा मध्यस्था रामकृष्णयोः ॥

सीरपाणिर्बलः कार्यो मुसली चैव कुण्डली ।

वतेतोऽतिनीलवसनो मद्भांचितलोचनः ॥

कृष्णञ्चक्रधारः कार्यो नीलोत्पलदलच्छविः ।

इन्दीवरकरा कार्या तथा श्याम च रुक्मिणी ॥’<sup>10</sup>

इनके अतिरिक्त कृष्ण-बलराम के एक साथ उपस्थित रहने का प्रसंग भी वैष्णव पुराणों में प्राप्त होता है। *वैखानसआगम* से ज्ञात होता है कि बलराम की प्रतिमा 120 अंगुल ऊँची होनी चाहिये। उनके दायें हाथ में मूसल एवं बायें में हल होना चाहिए। उनका रंग सफेद एवं आभूषण लाल रंग के होने चाहिए।<sup>11</sup>

भारतीय कला के अंतर्गत भी कृष्ण-बलराम का सह-अंकन हुआ है। अगाधोक्तीज की मुद्रा में कृष्ण का अंकन है जो गोपवेशधारी एवं चक्र लिए अंकित हैं। मुद्रा के पृष्ठभाग में बलराम का अंकन है जिनके दाहिने हाथ में मूसल एवं बायें में हल हैं। वे भी पणवेशधारी हैं।<sup>12</sup> यह कृष्ण-बलराम का प्राचीनतम अंकन है।

इसी प्रकार मथुरा एवं बिहार से भी कृष्ण-बलराम की

सहमूर्ति प्राप्त हुई हैं जो कृष्ण-बलराम की अभिन्नता को सूचित करती हैं।

पुराणों में इन प्रतिमाओं के निर्माण के विषय में अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं। जब कृष्ण उद्धव को क्रियायोग एवं कर्मकाण्ड का उपदेश देते हैं, तब वे अपनी प्रतिमाओं के निर्माण के विषय में कहते हैं कि प्रतिमायें मिट्टी, काष्ठ, प्रस्तर, धातु, चन्दन, बालुका, मनोमयी तथा मणि द्वारा निर्मित होती हैं।<sup>13</sup>

*बृहत्संहिता* में विवेचित है कि सुवर्ण-प्रतिमा से स्वास्थ्य, रजत-प्रतिमा से यश, ताम्र-प्रतिमा निर्मित करने से प्रजावृद्धि, शिलामयी से भू, धनलाभ तथा विजय, दारुमयी से आयु, मिट्टी से श्रीबल, मणि से लोकहित की वृद्धि होती है।<sup>14</sup>

*समरांगणसूत्रधार* में प्रतिमा-निर्माण हेतु सात प्रकार के द्रव्यों का उल्लेख है।<sup>15</sup> इसी प्रकार *शिल्परत्नम्* में भी सात प्रकार की प्रतिमाएँ बताई गई हैं।<sup>16</sup> *भागवतमहापुराण* में चल एवं अचल— दो प्रकार की प्रतिमाओं का उल्लेख है।<sup>17</sup> चल प्रतिमाओं का स्थान परिवर्तित होता है।

आकार एवं रूप के आधार पर भी सौम्य तथा उग्र— दो प्रकार की प्रतिमाओं का विधान है। सौम्य रूपवाली प्रतिमाएँ सुन्दर रूपवाली एवं वस्त्राभूषण से सुसज्जित होती हैं। उग्र रूपवाली प्रतिमाएँ भयानक, युद्ध के शस्त्रों को लिए हुए एवं उग्र होती हैं। विष्णु की विश्वरूप, नृसिंहरूप आदि इसी प्रकार की मूर्तियाँ हैं।

*भागवतमहापुराण* से ज्ञात होता है कि पाञ्चरात्र-विधि से उपासना करनेवाले भक्त चतुर्व्यूह की उपासना करते हैं।<sup>18</sup> *विष्णुधर्मोत्तरपुराण* से विदित होता है कि ईश्वर की ‘पर’ एवं ‘अपर’ दो प्रकार की मूर्तियाँ हैं।<sup>19</sup> ‘पर’ ईश्वर का सर्वोत्तम रूप तथा मूल कारण है। संसार के समस्त पदार्थों का यही लय स्थान है। इनकी दैवीय इच्छा जब अपनी आत्मा लक्ष्मी की ओर प्रवृत्त होती है, उस समय लक्ष्मी इस इच्छा को भूति तथा क्रिया— इन दो रूपों में ग्रहण करती हैं। जब इन दोनों की इच्छा, भूति तथा क्रिया— ये तीनों परस्पर मिलते हैं तब उनके सम्मिश्रण से ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य, तेज— इन छः गुणों के सम्मिश्रण से वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध इन चार रूपों का निर्माण होता है। ये चतुर्दिक् ही ‘चतुर्व्यूह’ अथवा ‘चतुर्मूर्ति’ नाम से प्रसिद्ध हैं।

वासुदेव विष्णु का प्रमुख अवतार रूप हैं। समस्त जगत् में व्याप्त होने के कारण ही इन्हें वासुदेव कहा जाता है।<sup>20</sup> वासुदेव के दो रूप हैं। प्रथम, दैवीय रूप तथा द्वितीय लौकिक एवं मानवीय। वासुदेव के ये दोनों रूप मूर्तिकला में दृष्टिगत होते हैं एवं ये अत्यन्त भव्य, सुन्दर एवं आकर्षक हैं।

वासुदेव सर्वश्रेष्ठ देव हैं। उनकी मूर्ति प्राचीनतम होने के

कारण 'आदिमूर्ति' कही जाती है।<sup>21</sup>

भागवतमहापुराण में वासुदेव के मानवीय रूप कृष्ण को भी चतुर्व्यूह के अंतर्गत स्वीकार किया गया है। जिस समय कृष्ण कालियदमन के पश्चात् नाग पर चढ़कर नृत्य कर रहे थे और उनके भार को न सह सकने के कारण नाग अपने फणों से रक्त वमन करने लगा, उस समय व्याकुल हो नागपत्नियों ने कृष्ण की चतुर्व्यूह रूप में आराधना की—

**‘नमः कृष्णाय रामाय वासुदेवसुताय च ।**

**प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥’**<sup>22</sup>

इस वाक्य में सर्वप्रथम कृष्ण के नाम का उल्लेख है, तत्पश्चात् बलराम, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध को वासुदेव (कृष्ण) का पुत्र स्वीकार किया गया है।

विष्णु के चतुर्व्यूह के आधार पर 24 मूर्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। अहिर्बुध्न्यसंहिता में उल्लिखित है कि वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध से अन्य रूप उत्पन्न होते हैं।<sup>23</sup>

‘पर’ वासुदेव से केशव, नारायण एवं माधव की उत्पत्ति हुई। संकर्षण से गोविन्द, विष्णु एवं मधुसूदन व्युत्पन्न हुए। प्रद्युम्न से त्रिविक्रम, वामन एवं श्रीधर की उत्पत्ति हुई तथा अनिरुद्ध से हृषिकेश, पद्मनाभ एवं दामोदर उत्पन्न हुए। इस प्रकार चतुर्व्यूह से 12 रूप हो गये। तत्पश्चात् चतुर्व्यूह में कथित चारों देव अपने अन्य चार रूप और धारण करते हैं जो क्रमशः वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के ही नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें वासुदेव से पुरुषोत्तम, संकर्षण से अधोक्षज, प्रद्युम्न से नृसिंह तथा अनिरुद्ध से अच्युत उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् पुरुषोत्तम से जनार्दन, उपेन्द्र, हरि तथा कृष्ण— ये चारों देव और उत्पन्न हुए और उनकी संख्या 24 हुई।

प्रथम शताब्दी ईसापूर्व के अभिलेखों से विदित होता है कि पञ्चवृष्णिवीरों की सम्मिलित अर्चना की जाती थी। मथुरा शहर से सात मील दूर पश्चिम में, मोर नामक गाँव में एक कुँ से प्राप्त प्रथम शताब्दी के एक अभिलेख<sup>24</sup> में वृष्णियों के पाँच पूज्य वीरों (‘भगवताम् पञ्चवीराणम्’) की प्रतिमाओं को तोषा नाम की एक महिला द्वारा निर्मित एक शिला-मन्दिर में स्थापित किए जाने का उल्लेख है। इन प्रस्तर-निर्मित मूर्तियों की स्थापना पूजा के निमित्त की गई थी। जे०एन० बनर्जी<sup>25</sup> ने वायुपुराण के अवतरण के आधार<sup>26</sup> पर इनकी पहचान बलदेव, वासुदेव, साम्ब, अनिरुद्ध एवं प्रद्युम्न से की है।

इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में ‘पञ्चदेवों’ की अराधना का काफी महत्त्व था, क्योंकि हम देखते हैं कि इसे प्रायः सभी प्रमुख धार्मिक आन्दोलनों में किसी-न-किसी रूप में स्वीकृति प्राप्त हो गई।

किन्तु कला में कृष्ण का सर्वाधिक विशिष्टांकन लीलाओं के रूप में हुआ है। कृष्ण की चमत्कारिक बाललीलाओं ने जनमानस को सर्वाधिक आकर्षित किया। कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन अनेक पुराणों, यथा— हरिवंशपुराण, विष्णुपुराण, भागवतपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण आदि में हुआ है। इनके अनुशीलन से ज्ञात होता है कि कृष्ण विष्णु के अवतार थे एवं सद्धर्म की रक्षा हेतु देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे।

श्रीकृष्ण का जन्मस्थान मथुरा था। मथुरा तथा व्रज के कई स्थलों में उन्होंने लोकाह्लादिनी चमत्कारिक लीलाएँ कीं। उनका सम्पूर्ण जीवन अद्भुत लीलाओं से परिपूर्ण था। अपने व्रज निवास के समय उन्होंने पूतना-वध, शकटभंजन, कालियदमन, गोवर्धन-धारण, अरिष्टासुर वध, धेनुक वध से लेकर कंस-संहार तक के कार्य किये। इसके पश्चात् उन्होंने द्वारकापुरी की रचना की। जरासंध, रुक्मी आदि का दमन किया। शत्रुओं को परास्त करने के पश्चात् उन्होंने स्वर्ग से मनोकामना पूर्ण करनेवाले पारिजात वृक्ष को पृथिवी पर स्थापित किया। कृष्ण की अद्भुत लीलाओं ने तत्कालीन समाज को अत्यधिक प्रभावित किया जिसके परिणामस्वरूप कृष्ण की अनेक लीलामूर्तियों का विकास हुआ।

श्रीकृष्ण के चतुर्भुज बालरूप, गोपालरूप, बालमुकुन्द रूप, वेणुगोपाल रूप, कालियमर्दन रूप, गोवर्धन रूप आदि इतने अधिक प्रसिद्ध हुए कि अनेक भारतीय कलाकारों ने इन्हें कला का माध्यम बनाया।

कंस के कारागार में श्रीकृष्ण का जन्म चतुर्भुज बालक के रूप में हुआ। वासुदेव जी ने देखा कि इस चतुर्भुज बालक के नेत्रकमल के सदृश सुन्दर हैं। वे नीले वर्ण के शरीर पर पीताम्बर धारण किए हुए अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं। उनके वक्षःस्थल पर श्रीवत्स चिह्न तथा गले में कौस्तुभ मणि झिलमिला रही है। वे चतुर्भुज हैं जिसमें उन्होंने शंख, गदा, चक्र एवं कमल धारण किए हैं। वे मणिमुकुट, मुकुण्ड आदि से सुशोभित हैं एवं बालसूर्य की किरणों की भाँति शोभायमान हैं। उन्होंने कमर में चमकती हुई लड़ियोंवाली करधनी पहनी है एवं उनके शरीर के अंग-प्रत्यंग अत्यधिक सुन्दर हैं।<sup>27</sup>

इस चतुर्भुज रूप को देखकर देवकी अत्यधिक विस्मित हुई और स्तुति करने लगी कि यह चतुर्भुज दिव्य रूप ध्यान की वस्तु है। इसे साधारण मनुष्य के सम्मुख प्रकट मत करिए—

**‘उपसंहार विश्वात्मानन्दो रूपमलौकिकम् ।**

**शंखचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् ॥’**<sup>28</sup>

देवकी के इस प्रकार स्तुति करने पर शीघ्र ही प्रभु साधारण शिशु रूप में प्रकट हुए।<sup>29</sup> कृष्ण के चतुर्भुज रूप को कलाकारों ने

मूर्तियों के निर्माण में प्रयुक्त किया एवं चतुर्भुजी कृष्ण की अनेक स्वतंत्र मूर्तियाँ बनाई गयीं।

कृष्ण के बालरूप ने सभी को आह्लादित किया। वे कभी माखन चुराते, कभी मटका तोड़ देते, कभी दधि गिराते। उनकी इन नटखट अदाओं को देखकर ब्रजवासी अत्यधिक आनन्दित होते। जब माता यशोदा उन्हें पकड़तीं और छड़ी से धमकाती, तब वे खूब शैतानी करते व रोते। कभी वे अपने हाथों से आँखें मलते एवं कभी वे रोने का नाटक करते। कृष्ण के इस बालरूप को अनेक शिल्पियों ने अंकित किया जिसके परिणामस्वरूप माखन चोरी करते कृष्ण, मटका तोड़ते हुए कृष्ण का अंकन, कला में गुप्तकाल से ही दृष्टिगत होता है।

श्रीकृष्ण का लालन, पालन व बालजीवन अधिकांशतः गोप-गोपियों संग गोप-परिसर में हुआ। उन्होंने अपनी किशोरावस्था इन्हीं ग्वाल-बालों के साथ व्यतीत की और गोपों एवं वृजवासियों की रक्षा हेतु अनेक चमत्कारी कृत्य भी किये। कृष्ण का गोपाल रूप बड़ा ही मनमोहक है। वे नित्य गोचारण के लिए जाते। उनके श्यामल शरीर पर पीताम्बर वस्त्र बादलों में बिजली के समान सुशोभित हो रहा है। वे गले में हार, कानों में मकराकृति कुण्डल, सिर पर मोरपंख, मुकुट, वक्षःस्थल पर वनमाला धारण किए हुए अत्यन्त सुन्दर दिख रहे हैं। उनके कमल के सदृश कोमल हाथ की हथेली पर दही-भात का कौर रखा है। वे अपने बगल में बेंत एवं सींग दबाये हुए हैं। उन्होंने अपनी बाँसुरी कमर के फेंटे में लटका रखी है। इसी बाल गोपाल रूप का दर्शन ब्रह्मा जी को हुआ था—

‘नौमीड्य तेऽभ्रवपुशं तडिदम्बराय ।

गुंजोवतंसपरिपिच्छल सन्मुखाय ॥

वन्यम्रजे कवलवेत्रविषाणबेणु ।

लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपंगुयाय ॥’<sup>30</sup>

गोपालकृष्ण शंख, चक्र, गदा एवं पद्म लिए भी गोप रूप में दिखाई देते हैं। वे कुण्डल, हार, वनमाला, श्रीवत्स, कौस्तुभ धारण किए हुए कभी वन में गायें चराते तो कभी बाँसुरी वादन करते। वे यदा-कदा जंगल में विचरण करते, पुष्पों-लताओं संग क्रीड़ा करते, बाँसुरी बजाकर गोप-बालकों को आनन्दित करते, इधर-उधर वन में विचरण करते अत्यधिक सुन्दर लगते थे। *हरिवंशपुराण*, *विष्णुपुराण* एवं *भागवतपुराण* के कई प्रसंगों में कृष्ण के गोपालरूप का सुन्दर वर्णन है।<sup>31</sup> कालान्तर में शिल्पियों ने भी इसी गोपालरूप को अपनाया एवं अपनी कला को समृद्ध एवं आकर्षक बनाया।

श्रीकृष्ण ने शैशवकाल से लेकर युवाकाल तक अनेक दुष्टों एवं विरोधियों का दमन किया जिनका उल्लेख पुराणों में हुआ है। पूतना, अरिष्टासुर, केशी, चाणूर-मुष्टिक, कंस-वध आदि कृत्य उनकी वीरता,

साहस एवं शौर्य के परिचायक हैं। महाभारत-युद्ध में उनकी भूमिका विशेष प्रशंसनीय है। इस युद्ध के माध्यम से उन्होंने सद्धर्म की रक्षा की। कृष्ण के इस वीर रूप को, कलाकारों ने भी अपनाया एवं कृष्ण की द्विभुजी एवं चतुर्भुजी प्रतिमाओं का निर्माण किया। उनके हाथों में गदा, चक्र, शंख आदि का अंकन उनके वीर रूप को प्रतिबिम्बित करता है।

जहाँ श्रीकृष्ण के चक्रधारी रूप का अंकन अगाथोक्तीज की मुद्रा में हुआ<sup>32</sup> वहीं श्रीकृष्ण की वीरता के परिचायक अनेक दृश्यों का अंकन भारतीय कलाकृतियों में उपलब्ध है। गुप्तकाल से लेकर 12वीं शताब्दी तक के मन्दिरों में पूतना-वध, केशी-वध, वृषभासुर-वध, कुवलयापीड-दमन, चाणूर-मुष्टिक-वध एवं कंस-वध का अंकन है जो कृष्ण के शौर्य एवं वीरता को दर्शाती है। ये मूर्तियाँ पत्थर, मृत्तिका, धातु आदि द्रव्यों से निर्मित हैं एवं सम्पूर्ण भारत में दिखाई देती हैं।

कृष्ण ने कालिय नाग का दमन किया। *हरिवंशपुराण*, *विष्णुपुराण* एवं *भागवतपुराण* में कृष्ण द्वारा कालियमर्दन का विस्तृत वर्णन है। उनका कालियमर्दन रूप बड़ा ही भव्य है। *भागवतपुराण* से विदित होता है कि कृष्ण कालियनाग के मर्दन हेतु यमुना नदी में कूद पड़े एवं उससे लड़ने लगे। उन्होंने नाग को मारने के लिए उसके सिर को अपने पैरों से कुचल दिया और उसपर चढ़ गये। वे नाग के सिर पर आरुढ़ होकर आकर्षक नृत्य करने लगे। इससे नाग की अद्भुत जीवनशक्ति क्षीण हो गयी और कृष्ण के इस ताण्डव नृत्य से उसका अंग-प्रत्यंग शिथिल हो गया एवं वह रक्त का वमन करने लगा। यह देखकर नागपत्नियाँ अत्यधिक चिन्तित हुईं और भयभीत होकर श्रीकृष्ण की स्तुति करने लगीं। उन्होंने अपने पति कालिय नाग की प्राणरक्षा हेतु श्रीकृष्ण से विनती की एवं उनसे उसे मुक्त करने की प्रार्थना की।<sup>33</sup>

कालियदमन हेतु तत्पर कृष्ण का यह रूप अत्यन्त ही आकर्षक था। वर्षाकालीन मेघ के समान उनके साँवले सुकुमार शरीर पर पीताम्बर, मयूर पंख, श्रीवत्स चिह्न अत्यधिक सुशोभित हो रहा था। उनके चरणकमल गद्दी के सदृश सुकोमल थे।<sup>34</sup> वे उस भयानक सर्प पर चढ़कर ताण्डव नृत्य करते अत्यधिक सुन्दर लग रहे थे।

*विष्णुपुराण* भी ‘प्रणनत्तोरुविक्रमः’<sup>35</sup> तथा ‘बवाम रुधिरं बहु’<sup>36</sup>, ‘मूर्च्छामुपाययौ’<sup>37</sup> आदि पदों के द्वारा इसी रूप को प्रदर्शित करता है।

कृष्ण का यह रूप नाग सम्प्रदाय एवं कृष्ण सम्प्रदाय के मध्य प्रतिद्वंद्विता का भी प्रतीक है। प्राचीन काल से ही भारत में नागोपासना प्रचलित थी, किन्तु शनैः-शनैः समाज में इनकी लोकप्रियता कम होने लगी और इनके स्थान पर अनेक नवीन सम्प्रदायों का उदय हुआ। इसी में कृष्ण-वासुदेव सम्प्रदाय भी था जिसने अपने चमत्कारिक कृत्यों से

जनमानस को सर्वाधिक प्रभावित किया और जनप्रिय होने लगा। कृष्ण का कालियमर्दन रूप इसी नागोपासना के ऊपर कृष्णोपासना के वर्चस्व को प्रदर्शित करता है।

कृष्ण के इस रूप की प्रतिमा उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत तक विविध स्थलों से प्राप्त हुई है। गुप्तकाल में मथुरा से लेकर राजस्थान, ग्वालियर, खजुराहो, एलोरा, मैसूर आदि से कृष्ण की कालियमर्दन करती हुई जो प्रतिमाएँ मिली हैं, वे अत्यधिक आकर्षक हैं एवं कृष्ण की वीरता व पराक्रम का परिचय प्रदान करती हैं।

गोपीनाथ राव ने इस रूप की प्रतिमा का उल्लेख किया है। इस प्रतिमा में कृष्ण नाग के फणों के ऊपर चढ़कर नृत्य करते प्रदर्शित हैं। उनका बायाँ पैर फणों पर है और दाहिना पैर ऊपर उठा हुआ है। उनका दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है एवं बायें हाथ में वे नाग की पूँछ पकड़े हुए हैं। यह मूर्ति *भागवतपुराण* के नृत्यन् पदानुमयन् रूप को अभिव्यक्त करती है।

एलोरा के कैलास मन्दिर के मध्य स्थित प्रतिमा के चारों ओर दीवाल पर कृष्ण का कालियमर्दन रूप अत्यधिक सुन्दर है। इसमें भी कृष्ण कालियनाग के फणों पर चढ़कर नृत्य करते प्रदर्शित हैं। कालिय के फण झुके हुए दिखाए गए हैं जो *भागवतपुराण* में वर्णित 'तस्याक्षिर्भारलमुद्धमतः शिरस्सु' प्रसंग का स्मरण दिलाते हैं।<sup>38</sup>

देवराज इन्द्र का अभिमान तोड़ने एवं उनके क्रोध से ब्रजवासियों की रक्षा हेतु श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत उठाने की कथा अत्यधिक लोकप्रिय हुई। जब इन्द्र ने लगातार वर्षा करके सम्पूर्ण ब्रज को डुबो दिया तो चारों ओर हाहाकार मचने लगा। ग्वालबाल, गाएँ आदि सभी अत्यधिक चिन्तित हुई एवं उनकी स्थिति दयनीय हो गयी। ब्रजवासियों को अत्यन्त व्याकुल व दुःखी देख श्रीकृष्ण ने अपनी योगमाया से गोवर्धन पर्वत को उखाड़कर सात दिन तक अपनी अंगुली पर धारण किया।<sup>39</sup>

*विष्णुपुराण* से विदित होता है कि यह देखकर इन्द्र के आश्चर्य की सीमा न रही। गौओं की रक्षा करने के कारण इन्द्र ने ऐरावत के घण्टे में पवित्र जल भरकर उपेन्द्र पद पर उनका अभिषेककर उन्हें 'गोविन्द' नाम से विभूषित किया<sup>40</sup>—

'उपेन्द्र गवामिन्दो गोविन्दस्त्वं भविष्यसि' <sup>41</sup>

कृष्ण द्वारा गोवर्धन-धारण से जहाँ इन्द्र का दर्प चूर्ण हुआ एवं उनकी प्रधानता समाप्त हुई, वहीं गोकुलवासियों की रक्षा करने के कारण उनके हृदय में श्रीकृष्ण के प्रति अपार श्रद्धा एवं भक्ति उत्पन्न हुई।

पुराणों में वर्णित गोवर्धनधारी कृष्ण की इस कथा को

कलाकारों ने अपनी कला का मुख्य विषय बनाया। गोवर्धन-धारण का दृश्य आरम्भिक गुप्तकालीन मिट्टी के एक फलक पर रंगमहल से प्राप्त हुआ था। शनैः-शनैः कृष्ण के इस रूप की प्रतिमाएँ सम्पूर्ण भारत में प्राप्त होने लगीं। मथुरा, मण्डोर, राजस्थान, ग्वालियर, खजुराहो आदि से लेकर दक्षिण भारत में बादामी, एलोरा, हलेविड तक से श्रीकृष्ण की गोवर्धनधारी प्रतिमा उपलब्ध है। एलोरा में तो चतुर्भुज गोवर्धनधारी कृष्ण का सुन्दर अंकन है।

इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण के मुरलीधर अथवा वेणुवादक रूप ने सभी को आकर्षित किया। पुराणों में इसका बहुशः उल्लेख हुआ है। शिल्पियों ने भी श्रीकृष्ण के इस रूप का निरूपण कला के अंतर्गत किया। दक्षिण भारत में हलेविड के होयसलेश्वर मन्दिर में मुरलीधर कृष्ण की सुन्दर प्रतिमा बनी हुई है।

श्रीकृष्ण द्वारा पारिजात-हरण का उल्लेख विस्तारशः *हरिवंशपुराण*<sup>42</sup> एवं *विष्णुपुराण*<sup>43</sup> में हुआ है। पारिजात समस्त मनोकामनाओं को पूर्ण करनेवाला दिव्य वृक्ष था। समुद्रमन्थन से उत्पन्न इस वृक्ष को सत्यभामा के कहने पर कृष्ण ने इन्द्र से बलात् युद्ध के द्वारा हरण किया और उसे पृथिवी पर स्थापित किया। श्रीकृष्ण पारिजात वृक्ष को द्वारका ले आये और सत्यभामा को प्रदान किया। दक्षिण भारत में बादामी के कृष्णलीला पट्ट में कृष्ण द्वारा पारिजात हरण का आकर्षक शिल्पांकन हुआ है।<sup>44</sup>

वर्णित कृष्णलीला शिल्पों को देखने से स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण के जीवन का केवल बाल्यकाल ही शिल्पकला में प्रदर्शित हुआ है, अर्थात् उनके जन्म से लेकर कंस-वध तक का वृत्तान्त। द्वारका में किए गए कृष्ण के कृत्यों का शिल्पांकन अपेक्षाकृत कम हुआ है। इसका कारण सम्भवतः यह था कि कृष्ण की बाललीलाओं ने ही तत्कालीन जनमानस को सर्वाधिक प्रभावित किया, अतः इनका शिल्पांकन शिल्पियों ने अधिक किया है।

भारतीय कला के अंतर्गत कृष्ण को द्विभुज, चतुर्भुज या अष्टभुज रूप में दिखाया गया है। अष्टभुजी-प्रतिमाओं में चक्र, गदा, शंख, पद्म, धनु, इशु (बाण) तथा असि आयुध और पर्वत भी प्रदर्शित है। असि का प्राचीनतम रूप मल्हार प्रतिमा में है। अष्टभुजी-प्रतिमाओं का अंकन अत्यन्त न्यून है।

श्रीकृष्ण की अनेक स्वतन्त्र मूर्तियाँ उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत तक प्राप्त हुई हैं जिनमें मुख्य हैं— कालिय-दमन करते कृष्ण, गोवर्धनधारी कृष्ण, मुरलीधर कृष्ण, नृत्य करते हुए कृष्ण आदि।

दक्षिण भारत में तंजावुर, तिरुवनन्तपुरम् आदि स्थानों से बालकृष्ण, कालियदमन करते कृष्ण, वेणुगोपाल कृष्ण एवं नृत्य करते कृष्ण की काँस्य-प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं जो अपने अद्भुत सौन्दर्य से सभी

को आकर्षित करने में सक्षम हैं।<sup>45</sup>

कला के अंतर्गत श्रीकृष्ण की इन लीला-मूर्तियों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि *हरिवंशपुराण*, *विष्णुपुराण* एवं *भागवतपुराण* में कृष्ण की जिन चमत्कारिक लीलाओं का अंकन किया गया है, शिल्पकारों ने उन्हीं को अपनी कला का विषय बनाया जो आगे चलकर अत्यधिक प्रसिद्ध हुई। यही कारण है कि कृष्णलीला-मूर्तियाँ न केवल भारत तक सीमित रहीं, अपितु इनका शिल्पांकन इण्डोनेशिया, सुमात्रा, जावा आदि देशों में भी हुआ।

राधा के नाम का उल्लेख विष्णु, भागवत आदि पुराणों में नहीं हुआ है। राधा के नाम का सर्वप्रथम उल्लेख *ब्रह्मवैवर्तपुराण* में हुआ है जो अल्-बिरूनी के काल (1030 ई०) के पूर्व ही लिखा गया था।<sup>46</sup> हाल के *गाथासप्तशती* में भी राधा का वर्णन है, किन्तु इसकी तिथि को लेकर विद्वानों में मतभेद है। जयदेव-कृत *गीतगोविन्द* में राधा एवं कृष्ण का वर्णन प्राप्त होता है। कालान्तर में अनेक कवियों, यथा— सूरदास, चण्डीदास, भूषण, मीराबाई आदि ने राधा-कृष्ण विषय को अपने साहित्य में विशेष महत्त्व दिया। भारतीय शिल्पकार भी इससे अछूते न रहे। पहाड़पुर से राधा-कृष्ण की संयुक्त आकर्षक मूर्ति प्राप्त हुई है। कालान्तर में मध्यकाल में अनेक राधा-कृष्ण मूर्तियों का विकास हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर मध्यकाल में रासलीला तथा राधा-कृष्ण दृश्यों की लोकप्रियता बढ़ी जिसके परिणामस्वरूप परवर्ती कला में इनका अंकन अधिक देखने को मिलता है।

#### सन्दर्भ :

1. *अग्निपुराण*, 33.9
2. *वही*, 33.10-11
3. *वही*, 33.12
4. *वही*, 33.13,
5. *वही*, 33.14
6. *वही*, 33.16
7. *वही*, 33.17-18
8. *बृहत्संहिता*, प्रतिमालक्षणाध्याय, 31-34
9. *वही*, प्रतिमालक्षणाध्याय, 37
10. *विष्णुधर्मोत्तरपुराण*, 85.72-74
11. राव, गोपीनाथ, *एलिमेन्ट्स ऑफ हिंदू आइकनोग्राफी*, पृ० 201
12. *आर्ट्स एसिटिक*, XXVI (1913) पृ० 113-23
13. 'शैली दारूमयी लौहेषुलेप्या लेख्या च सैकती ।  
मनोमयी मणिमयी प्रतिसाष्टविधा स्मृता ॥' — *भागवतपुराण*
14. *बृहत्संहिता*, 60.51-58
15. *समरांगणसूत्रधार*, 76.1
16. 'शिलामयं मणिमयं लौहं दारूमयं तथा ।  
मृण्मयं मिश्रितं लेख्यं बिम्बं सप्तविधां स्मृतम् ॥'

— *शिल्परत्नम्*, 2.25-26

17. *भागवतपुराण*, 11.27.13
18. 'यः सात्वतैः समविभूतय आत्मवृद्धि ।  
व्यहेऽचितः सवनशः स्वरतिक्रमाय ॥' — *वही*, 11.6.10
19. 'देवस्य द्विविधा मूर्ति पराचैव तथाऽपरा ।  
परायाः पौरुषी मूर्तिः पंचाभूतविवर्जिताः ॥' — *विष्णुधर्मोत्तरपुराण*, 108.10
20. *विष्णुपुराण*, 1.2.12
21. *महाभारत*, अनुशासनपर्व, 149.49
22. *भागवतपुराण*, 10.16.45
23. राव, गोपीनाथ, पूर्वोद्धृत, पृ० 233-234.
24. *एपिग्राफिका इण्डिका*, 24.27, 1
25. बनर्जी, *ज.इ.सो.आ.आ.* 13, पृ० 64 एवं आगे
26. *वायुपुराण*, 2.35, 2-2
27. *भागवतपुराण*, 10.3.9-10
28. *वही*, 10.3.30
29. *वही*, 10.14.1
30. *भागवतपुराण*, 10.14.1
31. *वही*, 10.14.47.48, *विष्णुपुराण*, 5.6.31-33
32. *आर्ट्स एसिटिक*, अंक XXVI (1913), पृ० 113-23; डोरिस, श्रीनिवासन, *इन अर्काइव्स ऑफ एशियन आर्ट्स*, XXXII (1979), पृ० 39-54, चित्र 23-24
33. *भागवतपुराण*, 10.16-23
34. *वही*, 10.16.9-10
35. *विष्णुपुराण*, 5.7.44
36. *वही*, 5.7.46
37. *वही*, 5.7.46
38. राव, गोपीनाथ, पूर्वोद्धृत, भाग 1, पृ० 213-14.
39. 'वीक्ष्यमाणो दधार्वाद्रिं सप्ताहं नाचलत् पदात्' — *भागवतपुराण*, 10.25.33
40. 'अथोपवाह्याददाय घण्टाभैरावतादगजात् ।  
अभिषेकं तथा चक्रे पवित्रजलपूर्णाया ॥' — *विष्णुपुराण*, 5.12.13
41. *विष्णुपुराण*, 5.12.12
42. *हरिवंशपुराण*, अध्याय 68
43. *विष्णुपुराण*, 5.30
44. कृष्णलीला पट्ट, बादामी, कर्नाटक, 5वीं शताब्दी ई०, गुफा-संख्या 4
45. जनरल थापर, डी०आर०, *टेन अवताराज ऑफ विष्णु*, आइकन्स इन ब्रान्ज, पृ० 67-69.
46. *अल्बरूनीज इण्डिया*, ई०सी० सक्ज़, पृ० 131



## प्राचीन भारत का प्रमुख शिक्षा-केन्द्र नालन्दा

अजय कुमार मिश्र \*

राखी रावत \*\*

**प्रा**चीन भारत के सभी शिक्षा-केन्द्रों में सबसे बड़ा केन्द्र नालन्दा महाविहार था, जो उस युग में विश्व का सर्वश्रेष्ठ अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विश्वविद्यालय था।<sup>1</sup> प्राचीन भारत के ज्ञान-विज्ञान का यह केन्द्र भारत ही नहीं, अपितु विदेशों में भी प्रसिद्ध हुआ। अनेक देशों के विद्वान् एवं जिज्ञासु अपनी ज्ञानपिपासा शान्त करने के लिए विद्या के इस महान् केन्द्र में उपस्थित होने के लिए उत्सुक रहते थे और यहाँ से विभिन्न विद्याओं तथा कलाओं में पारंगत होकर वापस लौटते थे।<sup>2</sup> विश्व के इस विशालतम विश्वविद्यालय का संक्षिप्त परिचय अवधेयार्थ प्रस्तुत है।

नालन्दा विश्वविद्यालय की एक शानदार गौरवमयी पृष्ठभूमि है। पाँचवीं से सातवीं शताब्दी के मध्य यह विश्वविद्यालय अपनी ज्ञान-ज्योति से सम्पूर्ण संसार को आलोकित कर रहा था, लेकिन 12वीं शताब्दी में विदेशी आक्रमणों ने शिक्षा के इस महान् केन्द्र को धूलित-धूसरित कर दिया। प्राचीन भारत के प्रमुख शिक्षा-केन्द्र के रूप में ख्यातिलब्ध नालन्दा विश्वविद्यालय का निर्माण कब हुआ, इसे लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है, लेकिन इसकी प्राचीनता के प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध हैं। गुप्तवंशीय शासक कुमारगुप्त द्वारा पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में इस प्रमुख शिक्षा-केन्द्र को दान दिए जाने का उल्लेख है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने विवरण में लिखा है कि 470 ईसवी में गुप्त-सम्राट् नरसिंहगुप्त बालादित्य ने नालन्दा में एक मन्दिर निर्मित कराया। इसमें बुद्ध की 80 फीट ऊँची ताम्र-प्रतिमा स्थापित करवायी।

चीनी यात्री इत्सिंग के विवरण से भी इस विश्वविद्यालय के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।

नालन्दा विश्वविद्यालय में बौद्ध धर्म-दर्शन के अतिरिक्त न्याय, तत्त्वज्ञान, व्याकरण एवं विज्ञान की भी शिक्षा दी जाती थी। विश्वविद्यालय का प्रशासन जितना कठोर था, शिक्षा को लेकर उतना ही जागरूक, संवेदनशील और सतर्क था। विश्वविद्यालय को चलाने के लिए राजाओं द्वारा विशेष अनुदान दिया जाता था, लेकिन इस विश्वविद्यालय के संचालन में उनका कोई हस्तक्षेप नहीं था। बौद्ध सम्प्रदाय को न अपनानेवाले शासक भी इस विश्वविद्यालय को भरपूर अनुदान देते थे जो शिक्षा के प्रति उनके अनुराग को रेखांकित करता है।

### 1. स्थिति एवं प्राचीनता

आधुनिक बिहार प्रांत की राजधानी पटना (पाटलिपुत्र) से 55 मील दक्षिण-पूर्व तथा राजगृह से 7 मील उत्तर की तरफ स्थित बड़गाँव देहात में प्राचीन नालन्दा अपने विगत वैभव के खण्डहरों के रूप में प्रकृतिस्थ है। प्रारम्भ में नालन्दा पुष्कर्णी के तट पर स्थित एक छोटा-सा गाँव था।<sup>3</sup> नालन्दा को एक शिक्षा-केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित होने का सुअवसर पाँचवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ; क्योंकि अपनी ज्ञानपिपासा की शान्ति के लिए आए चीनी यात्री फाह्यान ने 410 ई० में यहाँ का भ्रमण किया था, किन्तु इस शिक्षा-केन्द्र का कोई उल्लेख नहीं किया।<sup>4</sup> अनन्त सदाशिव अल्लेकर (1898-1960) का अनुमान है कि गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त ने इस विश्वविद्यालय की आधारशिला रखी थी।<sup>5</sup> चीनी-यात्री ह्वेनसांग का कथन है कि गुप्त नरेश बुधगुप्त (475-500 ई०) ने इस विश्वविद्यालय में एक अतिरिक्त मठ का निर्माण कराया।<sup>6</sup> बड़गाँव देहात की खुदाई में एक मुद्रा मिली है जो पत्थर पर खुदी है तथा उस पर धर्मचक्र है, इसके दोनों ओर मृग शावक हैं तथा इसपर

\* एसोसिएट प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग, बी०आर०डी०बी०डी० स्नातकोत्तर महाविद्यालय आश्रम, बरहज, देवरिया (उत्तरप्रदेश); संचलभाषा : 09450673191; ई-मेल : mishra.ajai6@gmail.com

\*\* रंजू सिंह महाविद्यालय, सोनाड़ी, देवरिया (उत्तरप्रदेश)

‘नालन्दा महाविहार भिक्खु संघस्य’ लेख अंकित है।<sup>7</sup>

## 2. वास्तु-विन्यास

पुरातात्विक उत्खननों से यह ज्ञात होता है कि नालन्दा विश्वविद्यालय का वास्तु-विन्यास कम-से-कम एक मील लम्बा तथा आधा मील चौड़ा था। इस विश्वविद्यालय के भिक्षु-आवासों तथा स्तूपों का निर्माण एक सुनियोजित वास्तु-योजना के अंतर्गत निर्मित था। यहाँ षड्भुज मठों का निर्माण कराया गया था, जहाँ 10 हजार विद्यार्थियों तथा 1,510 प्राध्यापकों के आवास की व्यवस्था थी।<sup>8</sup> केन्द्रीय विश्वविद्यालय में व्याख्यान के विशाल एवं सुसज्जित सात कक्ष थे जबकि छोटे कक्षों की संख्या लगभग 300 थी। इन सभी कक्षों में विद्वान् आचार्यों द्वारा विविध विषयों पर व्याख्यान दिए जाते थे। चीनी-यात्री ह्वी-ली ने लिखा है कि विश्वविद्यालय का सर्वोच्च शिखर मेघों से आवृत रहता था, जिसे देखने पर द्रष्टा विभिन्न रूपों का दर्शन करता था। यद्यपि यह विवरण अतिशयोक्तिपूर्ण हो सकता है किन्तु एक समकालीन उल्लेख से इसकी पुष्टि होती है कि विश्वविद्यालय के गगनचुम्बी शिखर देखने में अत्यन्त मनमोहक एवं आकर्षक थे।<sup>9</sup> विद्यार्थियों के ठहरने के लिए श्रेष्ठ कोटि के छात्रावास निर्मित थे। इन छात्रावासों के प्रत्येक कोने पर कूपों का निर्माण किया गया था, जिसकी पुष्टि उत्खनन से प्राप्त साक्ष्यों से भी होती है।<sup>10</sup> पुष्यभूति वंश के प्रसिद्ध सम्राट् हर्ष शिलादित्य ने यहाँ 100 फीट ऊँचा पीतल अथवा ताँबे के एक विहार या मन्दिर का निर्माण कराया था। इसके अतिरिक्त यहाँ अनेक स्तूप तथा विहार बने थे, जिसमें बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ स्थापित थीं। जीवनी के अनुसार ‘नालन्दा ईंटों के प्रकारों से आवेष्टित है जो सारे मठ को बाह्य रूप से आवृत करती है। एक प्रवेश-द्वार विद्यापीठ की ओर है जिससे आठ अन्य दीर्घाकार कक्ष जो संधाराम के मध्य स्थित है, पृथक् किए गए हैं। अलंकृत स्तूप रूप से स्थित है जो प्रातःकालीन अग्रधूम में विलीन हुए से प्रतीत होते हैं तथा सर्वोच्च कक्षाएँ बादलों के ऊपर विद्यमान हैं। वातायनों से कोई दर्शक यह देख सकता है कि किस प्रकार वायु तथा बादल नित नूतन रूपों में रूपान्तरित होते रहते हैं। ऊँची-ऊँची आलिकाओं के ऊपर सूर्य तथा चन्द्रमा की स्वर्णिम तथा रूपहली आभा देखी जा सकती थी। बाहर के सभी परिवेष्टित कक्ष, जिनमें श्रमणों के आवासीय कक्ष बने थे, चार-चार भूमियाँ (तल्लों) के थे। उनके मकराकृत बारजे रंगीन मोतियों के समान लाल-लाल खम्भे सजावट से परिपूर्ण थे। उन पर विविध प्रकार के चित्र उत्कीर्ण थे। समलंकृत लघु स्तम्भ तथा खपड़ों से आच्छादित छतें सूर्य के प्रकाश को सहस्रों रूपों में प्रतिबिम्बित करती थीं जो उसकी श्री तथा शोभा को संवर्धित करते थे।<sup>11</sup> वस्तुतः यहाँ की विशाल आलिकाएँ एवं गगनचुम्बी मन्दिर अपनी भव्यता, दिव्यता, विशालता, सुन्दरता, सृजता एवं उच्चता में अद्वितीय रूप में उपस्थित थीं। उनका दृश्य अद्भुत एवं

हृदयग्राही था। अभी प्रायः अर्द्धशताब्दी पूर्व उस स्थल पर जो उत्खनन कार्य हुआ है,<sup>12</sup> उससे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

सम्पूर्ण नालन्दा विश्वविद्यालय की श्री-समृद्धि एवं सौन्दर्य-संवर्धन में विश्वविद्यालय-प्रांगण में स्थित प्रकृतिस्थ सरोवर एवं पुष्करनियों का विशेष योगदान था, जिसमें नीलकमल सदैव पुष्पित रहते थे। इन सरोवरों से विश्वविद्यालय के सुन्दरीकरण एवं पुष्पीकरण हेतु जलापूर्ति की जाती थी। नालन्दा विश्वविद्यालय के एक अधिवास के वृत्ताकार बाह्य भित्ति की दक्षिणी दिशा में एक विशाल द्वार निर्मित था।<sup>13</sup> विश्वविद्यालय के वास्तु-विन्यास का विस्तृत क्षेत्र, दीर्घ कक्षाएँ, व्याख्यान कक्ष, गगनचुम्बी शिखर, छात्रावास, स्तूप एवं मठ के निर्माण से यह ज्ञात होता है कि वस्तुतः नालन्दा विश्वविद्यालय तत्कालीन विश्व का एक महान् शिक्षा-केन्द्र था। इस विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों के लिए विश्वविद्यालय-प्रांगण में ही रहने की समुचित व्यवस्था थी।

छात्रावासों के भवन लगभग दो खण्डों में निर्मित थे। छात्रावास के कक्ष दो प्रकार के होते थे, जिनमें से एक प्रकार के कक्षों में केवल एक ही विद्यार्थी के रहने की व्यवस्था थी, जबकि दूसरे कक्षों में एकसाथ दो विद्यार्थियों के रहने की व्यवस्था थी। उस समय छात्रावासों के प्रत्येक कक्ष में पुस्तकें तथा दीप आदि रखने की समुचित व्यवस्था थी।

प्रत्येक कक्ष में प्रस्तर-निर्मित एक चौकी होती थी जिस पर सम्भवतः विद्यार्थी शयन करते रहे होंगे। जल-संभरण की सुगमता के लिए प्रत्येक भवन में कूप निर्मित था। छात्रावासों में भोजन की सामूहिक व्यवस्था थी जिसके प्रमाणस्वरूप बड़े-बड़े चूल्हे वहाँ से उत्खनन में प्राप्त हुए हैं। इत्सिंग ने दस सरोवरों का वर्णन किया है जिसमें विद्यार्थी जल-क्रीड़ा करते थे। सम्भवतः उच्च श्रेणी के भिक्षुओं को ये सुविधाएँ प्रदान की जाती थीं। उस समय के छात्रावासों की एक विशेषता यह थी कि भाजन तथा आवास के लिए विद्यार्थियों को किसी प्रकार का शुल्क नहीं देना पड़ता था।<sup>14</sup>

## 2. नालन्दा विश्वविद्यालय की प्रवेश-पद्धति

तत्कालीन समय में (जब यह प्रसिद्धि के चरमोत्कर्ष पर था) इस विश्वविद्यालय में मध्येशिया, चीन, तिब्बत, कोरिया आदि देशों के छात्र अध्ययनार्थ प्रवेश के लिए आते थे।<sup>15</sup> आधुनिक काल के अनेक महत्त्वपूर्ण विश्वविद्यालयों की भाँति नालन्दा विश्वविद्यालय में प्रवेश-परीक्षा अत्यन्त कठिन थी। प्रवेश के इच्छुक प्रत्येक विद्यार्थी को सर्वप्रथम द्वारपाल से शास्त्रार्थ करना पड़ता था। द्वारपाल (द्वार पण्डित) के प्रश्नों से दस विद्यार्थियों में से एक-दो ही सफल हो पाते थे।<sup>16</sup> इस प्रवेश-परीक्षा में चयनित विद्यार्थियों की कठिन सफलता के पश्चात् भी विश्वविद्यालय में छात्रों की कमी नहीं थी। इस विश्वविद्यालय की

प्रवेश-परीक्षा से यह ज्ञात होता है कि यह ऐसी शिक्षण-संस्था थी, जहाँ ज्ञान की सर्वोत्तम शिक्षा प्रदान की जाती थी। विदेशी छात्रों को यहाँ प्रवेश-परीक्षा में उत्तीर्ण होना कठिन होता था। प्रवेश-परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने के बाद वे अपने घर लौट जाते थे। प्रवेश-परीक्षा पद्धति से ज्ञात होता है कि तत्कालीन विश्व में प्रचलित सभी प्राचीन एवं नवीन विषयों का अद्यतन ज्ञान होना आवश्यक था।<sup>17</sup>

हेनसांग का कथन है कि नालन्दा महाविहार में प्रवेश पाना और वहाँ के तर्क तथा भाषणों में जो भाग लेना चाहते थे, उन्हें पुरातन तथा नवीनतम— दोनों प्रकार के शास्त्रों में विज्ञ होना पड़ता था। नालन्दा में प्रवेश पाना और वहाँ का स्नातक होना गौरव की बात समझी जाती थी और ऐसे विद्यार्थियों का देशभर में मान-सम्मान था।<sup>18</sup>

#### 4. विश्वविद्यालय के विद्यार्थी

यद्यपि इस विश्वविद्यालय में प्रवेश की कठिन पद्धति थी, तथापि विद्यार्थियों की संख्या तत्कालीन विश्व के शिक्षा-केन्द्रों से अत्यधिक थी। इस्तिंग के भारत-यात्रा के समय (675 ई०) यहाँ के विद्यार्थियों की संख्या तीन हजार थी, किन्तु हेनसांग के समय विद्यार्थियों की संख्या बढ़कर 10 हजार हो गई थी।<sup>19</sup> सुदूर प्रदेशों तथा देशों से विद्यार्थी यहाँ आकर शिक्षा प्राप्त करते थे। चीन के अनेक विद्यार्थी यहाँ अध्ययनरत थे। इसके साथ ही साथ तिब्बत, कोरिया तथा मध्येशिया आदि के भी अनेक विद्यार्थी यहाँ ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा ले रहे थे।<sup>20</sup> युवानच्चांग, इस्तिंग, थान-मी, हेन-ताउ-ही, ह्वी-निएह, ताऊ सिंग, तांग ह्वी-लू, आर्यवर्मन आदि प्रसिद्ध विद्यार्थियों ने नालन्दा विश्वविद्यालय में छात्र के रूप में अध्ययन किया तथा यहाँ के ग्रन्थों के अध्ययन के साथ ही उन्होंने पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपि भी तैयार की।<sup>21</sup>

नालन्दा के भिक्षु-विद्यार्थियों ने विश्वविद्यालय के नियमों का पूर्ण रूप से पालन किया, जिससे वे संयमित तथा नियमित जीवन में भारत में आदर्श माने जाते थे। विद्यार्थियों का सम्पूर्ण दिवस तर्क तथा अध्ययन में व्यतीत हो जाता था। वस्तुतः वे दिनभर इतना व्यस्त रहते थे कि उनके व्यस्ततम चर्या हेतु दिन उन्हें पूरा नहीं पड़ता था। सभी भिक्षु एक-दूसरे को कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों के प्रति प्रेरित किया करते थे तथा बड़े एवं छोटे— सभी पूर्णतया लाभ करने में परस्पर सहायता करते थे। लाइफ के अनुसार सम्पूर्ण विश्वविद्यालयों के आचार्यों का ऐसा प्रभाव था कि विश्वविद्यालय की स्थापना के सात सौ वर्षों की अवधि में किसी ने भी यहाँ के नियमों का उल्लंघन नहीं किया।<sup>22</sup>

#### विश्वविद्यालय : कुलपति एवं अध्यापक

नालन्दा विश्वविद्यालय अपने विद्वत्ता के कीर्तिमान को तत्कालीन अंतर्राष्ट्रीय जगत् में प्रतिष्ठापित करने में सफल रहा था।<sup>23</sup> इसकी

प्रसिद्धि यहाँ के कुलपति एवं प्राध्यापकों की योग्यता के कारण भी थी। चीनी यात्री युवान-च्चांग जिस समय (635 ई०) नालन्दा पहुँचा था, उस समय नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्य कुलपति शीलभद्र थे। उन्होंने सूत्रों एवं शास्त्रों के समस्त संग्रहों का हृदयंगम कर लिया था। वह समतट (बंगाल) के राजकीय वंश के ब्राह्मण थे। उन्हें अल्पावस्था से ही विद्या एवं संगीत में रुचि थी। अतः गुरु की खोज में इन्होंने गृह त्याग दिया। विभिन्न प्रदेशों में भ्रमण करते हुए नालन्दा विश्वविद्यालय के कुलपति धर्मपाल से भेंट की। धर्मपाल ने इनकी विलक्षण प्रतिभा का अनुमान लगाते हुए इन्हें अपना शिष्य बना लिया था। शीलभद्र भिक्षु वेश धारणकर अपने गुरु से शिक्षा ग्रहण करने लगे तथा तीस वर्ष की अवस्था में धर्मपाल के शिष्यों में इनकी ख्याति बढ़ गयी। बौद्ध दर्शन के सूक्ष्म विषयों में अपनी असाधारण धारणा-शक्ति के लिए इनकी प्रसिद्धि थी। बौद्ध धर्म के योगाचार सम्प्रदाय के सूक्ष्मतम तत्त्वों को समझाने के लिए इन्होंने व्याख्यात्मक टीकाओं की रचना की। इनकी विद्वत्ता की ख्याति विदेशों में पहुँच चुकी थी जिससे प्रभावित होकर चीनी यात्री युवान-च्चांग दीर्घ समय तक इनके चरणों में बैठकर शिक्षा ग्रहण करता रहा।<sup>24</sup>

युवान-च्चांग ने नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रकाण्ड विद्वानों का उल्लेख किया है, जिनमें शीलभद्र के पूर्व इस विश्वविद्यालय के कुलपति धर्मपाल रह चुके थे, उनका नाम महत्वपूर्ण है। बुद्ध की शिक्षाओं का जीवन्त विवेचन करनेवाले चन्द्रपाल, समकालीन विद्वानों में उच्च प्रतिभा एवं यशवाले गुणमति एवं स्थिरमति, अपने विषय का तर्कपूर्ण विशद विवेचन करनेवाले प्रभामित्र, उच्च एवं सुन्दर सम्भाषण, कलामर्मज्ञ जिनमित्र तथा आदर्श चरित्रवाले आर्यदेव, प्रत्युत्पन्नमतिवाले ज्ञानचन्द्र आदि इस विश्वविद्यालय के प्रकाण्ड विद्वानों में थे। यहाँ शिक्षकों की संख्या लगभग 1500 थी, जिनमें 1,000 प्राध्यापक तीस सूत्रनिकायों में दक्ष थे और शेष 500 अन्य विषयों में। स्वयं हेनसांग भी यहाँ के शिक्षकों में था जिसने अनेकानेक विषयों पर अधिकार प्राप्त किया था।<sup>25</sup> इन महान् विद्वानों के साथ निरन्तर वाद-विवाद एवं तर्क शास्त्रार्थ करते हुए विद्यार्थियों और प्राध्यापकों का समय व्यतीत होता था।

इस प्रकार विश्वविद्यालय के विद्यार्थी तथा प्राध्यापक ज्ञान की साधना में परस्पर सहयोग करते हुए ज्ञानार्जन के उच्च धरातल पर विचरण करते रहते थे। वस्तुतः सत्यान्वेषियों के लिए नालन्दा विश्वविद्यालय एक ज्ञानतीर्थ बन गया था। यहाँ एक अध्यापक नौ या दस छात्रों को पढ़ाते थे। इस प्रकार प्रत्येक विद्यार्थी पर व्यक्तिगत ध्यान रखने में सुविधा थी तथा शिक्षण-कार्य कुशलता से संपादित किया जाता था। इस विश्वविद्यालय में ऐसे अध्यापकों का जमघट था जो अपने-अपने विषय के विशेषज्ञ समझे जाते थे। उनकी विद्वत्ता की

इतनी प्रतिष्ठा थी कि विदेश में उनकी समानता करने का कोई साहस नहीं करता था। यहाँ के अध्यापकों में एक हजार ऐसे अध्यापक थे जो सूत्रों और शास्त्रों तथा बीस संग्रहों का अर्थ समझा सकते थे, पाँच सौ ऐसे प्रध्यापक थे जो तीस संग्रहों की तथा इस ऐसे प्राध्यापक थे जो पचास संग्रहों की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या कर सकते थे। इन सभी में अकेले शीलभद्र ही ऐसे थे जिन्होंने इन सभी ग्रन्थों को पढ़ा और समझा था।<sup>26</sup>

### पाठ्यक्रम

नालन्दा विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम केवल बौद्ध सम्प्रदाय के विषयों तक ही सीमित नहीं रह गया था, तथापि विद्या के केन्द्र में अध्ययन का मुख्य विषय महायान सम्प्रदाय ही था। महायान के अतिरिक्त बौद्ध सम्प्रदाय के अन्य अठारह सम्प्रदायों के शास्त्रों एवं दर्शन का अध्ययन किया जाता था। बौद्ध तथा हिंदू— दोनों विद्यार्थियों को प्रथमतः व्याकरण, हेतुविद्या, शब्दविद्या तथा साहित्य का अध्ययन आवश्यक था; क्योंकि वैदिक एवं तथा बौद्ध— दोनों प्रकार के छात्रों का शास्त्रार्थ के लिए इन विद्याओं का अध्ययन आवश्यक था। बौद्ध एवं हिंदू-धर्म तथा दर्शन तथा संस्कृत-भाषा के कारण परस्पर इतने सम्बद्ध थे कि दोनों प्रकार के विद्यार्थियों को इनका सम्यक् अध्ययन इसलिए आवश्यक था कि इसके बिना उनका ज्ञान ही अपूर्ण रहता था। बौद्ध छात्र वेदत्रयी, वेदान्तदर्शन तथा सांख्यदर्शन का अध्ययन करते थे।<sup>27</sup> इस विश्वविद्यालय में अध्ययन के विषयों में चिकित्सा विद्या, तंत्रशास्त्र, योगशास्त्र, ज्योतिष, नक्षत्रविज्ञान, पुराणादि मुख्य थे। हेनसांग ने यहाँ स्वयं तो अध्ययन किया ही था, साथ-ही-साथ उसने इस विश्वविद्यालय में पाँच वर्ष के प्रवास में न्याय हेतु विद्या, भाषाविज्ञान, दर्शनशास्त्र, विधिशास्त्र, ज्योतिष तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी किया था। अपने विषय के प्रकाण्ड विद्वान् शीलभद्र से हेनसांग ने योगशास्त्र का गहन अध्ययन किया।

युवान-च्वांग ने भी अपने यात्रा-वृत्तांत में तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली का उल्लेख किया है।<sup>28</sup> उसके अनुसार बच्चों की शिक्षा 'सिद्धमचंग' से प्रारम्भ होती थी। सम्भवतः यह ग्रन्थ वर्ण-परिचय से संबंधित था। इत्सिंग की धारणा है कि व्याकरण तथा गद्य-पद्य रचना की शिक्षा समाप्त कर लेने के पश्चात् विद्यार्थीगण 'पञ्चविद्या' का अध्ययन करते थे, जिसके अंतर्गत शब्दविद्या, शिल्पस्थानविद्या, चिकित्साविद्या हेतु विद्या एवं अध्यात्मविद्या का समावेश था। इत्सिंग ने इन विद्याओं की पाठ्यपुस्तकों का भी उल्लेख किया है, जैसे— हेतुविद्या में नागार्जुनरचित न्यायशास्त्र आदि। इन पञ्चविद्याओं के अध्ययन के पश्चात् ही नालन्दा विश्वविद्यालय में प्रवेश लेकर विद्यार्थी विशेष विषय में दक्षता प्राप्त करते थे।<sup>29</sup>

युवान-च्वांग के अनुसार बौद्ध विद्यार्थी साधारणतः

अपने-अपने सम्प्रदाय से संबंधित साहित्य में ही विशेष योग्यता प्राप्त करते थे। उनका कथन है कि प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् गुणभद्र ने पञ्चविद्याओं के अतिरिक्त ज्योतिष, गणित, चिकित्साशास्त्रादि में भी दक्षता प्राप्त की थी।<sup>30</sup> उस समय व्याकरण भी विशेष योग्यता प्राप्त करने का विषय था। तत्कालीन प्रमुख बौद्ध विहार में निवास करनेवाले भिक्षुओं द्वारा त्रिपिटक, विनय, सूत्र एवं शास्त्र के अतिरिक्त मत्तुचेंदविरचित 150 तथा 400 श्लोकों में दो स्तुति गीत ग्रन्थ तथा अश्वघोषकृत बुद्धचरितम् आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया जाता था। योग के अंतर्गत योगाचारशास्त्र एवं असंगविरचित अष्टशास्त्र, हेतुविद्या के अंतर्गत जिनरचित आठ शास्त्र का उल्लेख है।<sup>31</sup> यद्यपि यह शिक्षा सर्वसाधारण के लिए नहीं प्रतीत होती है, अपितु किसी विषय विशेष में दक्षता की इच्छा रखनेवाले लोगों के लिए थी। हेनसांग ने यहाँ रहते हुए बौद्ध साहित्य एवं ब्राह्मण-साहित्य के समस्त संग्रहों का पठन और पाठन भी किया था। दस वर्ष तक यहाँ रहकर शिक्षा प्राप्त करनेवाला इत्सिंग स्वयं हीनयान सम्प्रदाय का प्रबल समर्थक था। परन्तु उसने यहाँ हिंदू-धर्म तथा बौद्ध सम्प्रदाय— दोनों के ही साहित्य का गहन अध्ययन किया था।<sup>32</sup> नालन्दा के भौतिक विषयों में इन सभी ज्ञान-विज्ञानों का समावेश था। रसायनशास्त्री नागार्जुन की कृतियों का अध्ययन यहाँ किया जाता था। इसके अतिरिक्त वसुबन्धु, असंग तथा धर्मकीर्ति की कृतियों का भी यहाँ अध्ययन किया जाता था।<sup>33</sup> विविध विषयों से संबंधित प्रायः एक हजार व्याख्यान यहाँ प्रतिदिन दिए जाते थे। रात्रि के समय शयन के अतिरिक्त प्रायः पूरे समय में विभिन्न विषयों में अध्यापन और अध्ययन का कार्य चलता रहता था। व्याख्यानों में छात्रों की उपस्थिति अनिवार्य थी, किन्तु आचार्य स्वयं भी एक क्षण के लिए भी व्याख्यान के समय अनुपस्थित होना स्वीकार नहीं करते थे। इस प्रकार नालन्दा विश्वविद्यालय विद्या के स्वतन्त्र विकास का पोषक था और वहाँ सभी सम्प्रदायों के विषय के अतिरिक्त अन्य अनेक विषयों में ज्ञानार्जन किया जा सकता था। नालन्दा विश्वविद्यालय के स्नातकों की ख्याति इतनी फैल गई थी कि कुछ सामान्य लोग अपने को झूठमूठ यहाँ का स्नातक बताकर इससे लाभ उठाने की चेष्टा किया करते थे।<sup>34</sup>

### अध्यापन-विधि या पद्धति

नालन्दा विश्वविद्यालय प्राचीन भारत का सर्वश्रेष्ठ उच्च शिक्षा केन्द्र था। अतः यहाँ शिक्षाप्राप्ति में सभी समर्थ नहीं थे। यहाँ अध्यापन की पद्धति मौखिक तथा पुस्तक की व्याख्या, व्याख्यान, शास्त्रार्थ एवं वाद-विवाद की सुचारु व्यवस्था थी। ये शिक्षण-पद्धतियाँ परम्परागत रूप से प्रचलित थीं। मौखिक पद्धति के अनुसार विद्यार्थियों को पाठ दिया जाता था तथा छात्र उनकी व्याख्यासहित अध्ययन करते और आचार्य को मौखिक सुनाते थे। जो अंश सहज बुद्धिगम्य नहीं होते थे, उनकी विशद व्याख्या की जाती थी। प्रश्नोत्तर-पद्धति द्वारा

शंका-निवारण किया जाता था। व्याख्यान-पद्धति में विषय विशेष के विद्वान् पृथक्-पृथक् विषयों पर व्याख्यान देते थे। किसी प्रकार की शंका होने पर व्याख्यान समाप्त होने के पश्चात् विद्यार्थी व्याख्याता से प्रश्न पूछते थे।<sup>35</sup> शिक्षा (अध्यापन) की एक दूसरी भी पद्धति प्रचलित थी, जो परम्परा के रूप में प्राचीन काल से चली आती थी।

इस पद्धति को 'औपध्यायिक शिक्षा' कहा गया है जिसे शिष्य गुरु की सेवा द्वारा प्राप्त करता था।<sup>36</sup> इस पद्धति के अंतर्गत नवागन्तुक व्यक्ति, जो संघ का सदस्य बनता था, सर्वप्रथम एक उपाध्याय के अधीन कर दिया जाता था और वह विद्यार्थी अपने को गुरु की सेवा में अर्पित कर देता था। 'औपध्याय' भी शिष्य को अपने पुत्र की भाँति स्नेह देता था और उसे त्रिपिटक तथा अन्य किसी विषय का पाठ देता था। शिष्य की सेवा के बदले उपाध्याय न केवल उसकी समुचित शिक्षा के लिए ही, वरन् उसकी नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी अपने को उत्तरदायी समझता था।<sup>37</sup>

शास्त्रार्थ तथा वाद-विवाद पद्धति के अंतर्गत विद्वान् लोग किसी विशेष विषय पर शास्त्रार्थ करते थे। शास्त्रार्थ-संबंधी नियम थे जिनका पालन करना प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अनिवार्य था। चीनी यात्रियों के अनुसार आचार्यों का अधिकांश समय शास्त्रार्थ में ही व्यतीत हो जाता था। इसके अतिरिक्त संक्रान्तिक, श्रुति स्वाध्याय, पाठ, आवृत्ति-पद्धति के अतिरिक्त व्यावहारिक शिक्षण पद्धति में भिक्षाटन, श्रम, परिषद्, गोष्ठी, चरण तथा अग्रशिक्षा प्रणाली की पद्धति भी प्रचलित थी, जिसमें हेनसांग-जैसे अग्रशिष्य भी थे, जो पढ़ते भी थे और पढ़ाते भी थे। इस प्रकार सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक—दोनों पद्धतियाँ नालन्दा विश्वविद्यालय में तत्कालीन समय में प्रचलित थीं।

#### पुस्तकालय-व्यवस्था

इस विश्वविद्यालय की विशालता के अनुकूल ही इसके व्यवस्थापकों ने एक विशाल पुस्तकालय की व्यवस्था की थी। विश्वविद्यालय में दस हजार विद्यार्थियों तथा 1,500 प्राध्यापकों के अध्ययन-अध्यापन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक भव्य पुस्तकालय की स्थापना की गयी थी।

'रत्नसागर', 'रत्नोदधि' तथा 'रत्नरंजक' नामक तीन विशाल भवनों से मिलकर भव्य पुस्तकालय का निर्माण हुआ था।<sup>38</sup> पुस्तकालय के इस भाग को 'धर्मयज्ञ' कहा जाता था। पुस्तकालय की व्यवस्था विदेशी विद्वानों को आकृष्ट करने का एक प्रमुख कारण था। चीनी विद्वान् तथा विद्यार्थी नालन्दा में लगातार महीनों व्यतीत करते हुए बौद्ध सम्प्रदाय के मूल ग्रन्थों तथा अन्य धर्मग्रन्थों की प्रतिलिपि तैयार करते थे। इत्सिंग ने स्वयं चार सौ संस्कृत-ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ तैयार की थीं जिनमें लगभग 5 लाख श्लोक थे।<sup>39</sup> यहाँ सदैव देशी-विदेशी जिज्ञासु

विद्यार्थियों की भीड़ बनी रहती थी। सम्भवतः भारत पर मुस्लिम-आक्रमण के बाद तक नालन्दा विश्वविद्यालय के कुछ भाग शेष थे। आज भी नालन्दा विश्वविद्यालय के विध्वंस अपने अतीत की गौरवगाथा खण्डहरों के रूप में कह रहे हैं।

#### निःशुल्क शिक्षा-व्यवस्था

नालन्दा विश्वविद्यालय के छात्रों के भोजन, वस्त्र से लेकर आवास एवं ओषधि आदि तक का उत्तरदायित्व विश्वविद्यालय पर ही रहता था। शिक्षा के लिए किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। हेनसांग ने विद्यार्थियों के ज्ञान की श्रेष्ठता का मुख्य कारण यह बताया है कि छात्र विद्याध्यन के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करते थे। इस निश्चितता के कारण छात्र अपने अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति में सफल रहते थे। सहस्रों की संख्या में छात्र, आचार्य और अतिथि वहाँ उपस्थित रहते थे, परन्तु वे सभी प्रकार के शुल्क से मुक्त होते थे। हेनसांग की जीवनी लिखनेवाले श्रमण (ली) ने नालन्दा विश्वविद्यालय में नवागंतुकों की संख्या दस हजार बताई है। इसके अतिरिक्त प्राध्यापकों के भोजन, निवास, वस्त्रादि का प्रबन्ध संघ द्वारा होता था। नालन्दा विश्वविद्यालय की प्रसिद्धि अंतर्राष्ट्रीय जगत् में थी।<sup>40</sup>

सुदूर देशों के प्रतिभावान् व्यक्ति अपनी ज्ञानवृद्धि के लिए यहाँ आते थे। परन्तु इन विदेशी छात्रों से भी किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। तत्कालीन विश्व में नालन्दा ही एक ऐसा शिक्षा-केन्द्र था जहाँ निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था थी। आधुनिक विश्व के समृद्धशाली कहे जानेवाले विकसित देशों के प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में भी निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था नहीं है। तुलनात्मक दृष्टि से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विवेच्ययुगीन भारत में 'शिक्षा विद्यापदाने' को सही अर्थों में सार्थक किया जाता था। शिक्षा का अर्थ ही था विद्या का दान करना। सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय शिक्षा-व्यवस्था में निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था थी। निर्धन छात्र, गुरुओं की सेवा करके श्रेष्ठतम ज्ञान प्राप्त करते थे। नालन्दा विश्वविद्यालय में किसी भी छात्र की उपेक्षा नहीं होती थी। निर्धनता के कारण किसी छात्र को शिक्षा से वंचित नहीं किया जाता था। परन्तु यह अनिवार्य था कि छात्र को प्रवेश-परीक्षा में उत्तीर्ण होना चाहिए।

#### विश्वविद्यालय-व्यवस्था

नालन्दा विश्वविद्यालय का प्रबन्धन एवं व्यवस्थापन संघ द्वारा नियुक्त दो सभाओं के परामर्श से कुलपति अथवा अध्यक्ष द्वारा किया जाता था। अध्यक्ष तथा कुलपति समस्त भिक्षुओं द्वारा निर्वाचित किए जाते थे। इस पद के लिए वे भिक्षु ही स्वीकार करते थे। व्यवस्था की दोनों परामर्शदात्री समितियों की कार्य-प्रणाली अनुलिखित प्रकार की थी :

पहली समिति शिक्षा-संबंधी समस्त कार्यों में अध्यक्ष को

उचित सलाह देती थी। यह आधुनिक विद्या परिषद् (एकेडेमिक काउंसिल) के समान थी। विश्वविद्यालय के प्रवेश, पाठ्य, विषय, शिक्षकों के कार्यक्रम आदि में यह समिति परामर्श देती थी। विवेच्य काल में मुद्रण-यंत्रों का आविष्कार न होने से पुस्तकालय का महत्त्व अधिक था। पुस्तकालयों पर ही पुस्तकों के संग्रह, संरक्षण तथा प्रकाशन का भी भार था। विभिन्न छात्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक पुरानी पुस्तकों को नया रूप देना पड़ता था तथा उनकी प्रतिलिपियाँ भी करानी पड़ती थीं। इन सभी दायित्वों का भार पुस्तकालय की प्रबन्ध-समिति पर ही था।<sup>41</sup> पुस्तकों की प्रतिलिपि करते समय इस तथ्य की तरफ विशेष ध्यान देना पड़ता था कि प्रतिलिपि त्रुटिपूर्ण तो नहीं बन रही है। इस कार्य का संपादन प्रायः छात्रों तथा अध्यापकों द्वारा किया जाता था, किन्तु प्रतिलिपि करने के लिए अन्य सहयोगी कार्यकर्ता भी रहते थे। पुस्तकालय के उपर्युक्त समस्त कार्यों का संचालन इसी प्रथम समिति (विद्या परिषद्) द्वारा किया जाता था। विश्वविद्यालय की आर्थिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था दूसरे प्रकार की समिति करती थी। विश्वविद्यालय की आर्थिक खाते में विभिन्न नरेशों द्वारा अनेक गाँवों का राजस्व प्रदान किया गया था। इत्सिंग के यात्रा काल (675-685) में दो सौ गाँवों को विश्वविद्यालय के लिए दान किया गया था जिनकी आय से यहाँ के भिक्षु कार्यकर्ताओं तथा अध्येताओं का पोषण होता था। राजाओं द्वारा विश्वविद्यालयों को अर्पित किए गए गाँव से सम्बद्ध मुहरें और अभिलेख उत्खनन में प्राप्त हुए हैं।<sup>42</sup>

हेनसांग की जीवनी के अनुसार राजा (हर्ष) ने विहार के भरण-पोषण के लिए 100 गाँवों की मालगुजारी ज़ागीर में दे रखी थी। इन गाँवों के 200 गृहस्थ प्रतिदिन कई सौ पिकल (1 पिकल लगभग 60 किग्रा) चावल और कई सौ कट्टी (एक कट्टी बराबर लगभग 70 किग्रा) मक्खन दिया करते थे। अतः यहाँ के अध्यापकों तथा विद्यार्थियों को सभी वस्तुएँ इतनी मात्रा में प्राप्त हो जाती थीं कि उन्हें अन्यत्र कहीं जाना नहीं पड़ता था।<sup>43</sup> इन गाँवों की देख-रेख, उनकी ऊपज की ठीक व्यवस्था करना दूसरी समिति का कार्य था। आर्थिक व्यवस्था को इस प्रकार से रखा जाता था कि दैनिक आवश्यकता की सभी वस्तुएँ हर समय उपलब्ध रहती थीं। विश्वविद्यालय के नये भवनों को बनवाना, छात्रावासों में छात्रों के निवास की उचित व्यवस्था करना, प्राचीन भवनों की देख-रेख करना तथा भिक्षुओं के वस्त्र और पाठ्य सामग्री की व्यवस्था का भार इस समिति पर ही था।

विश्वविद्यालयों में संघ द्वारा निर्वाचित भिक्षु भिन्न-भिन्न विभागों के अध्यक्ष होते थे तथा विश्वविद्यालय के समस्त कार्य इन्हीं विभागाध्यक्षों के संरक्षण में ही सम्पन्न होते थे। छात्रों के भी अपने संघ थे। अपराधी छात्रों के दण्ड की व्यवस्था विद्यार्थियों के संघों द्वारा ही होती थी।<sup>44</sup> छात्रावास में भी अपने विभागाध्यक्ष द्वारा निर्देशित छात्र ही

स्वयं सब प्रबन्ध करते थे। अध्यापक उन सभी कार्यों का विद्यार्थियों के दायित्व पर छोड़ देते थे, जिनके संपादन द्वारा छात्रों में स्वावलम्बन की प्रवृत्ति का विकास होता हो। इस प्रकार विश्वविद्यालय का सारा प्रबन्ध-जनतन्त्रात्मक प्रणाली के अंतर्गत होता था।

नालन्दा विश्वविद्यालय लगभग 1200 ई० तक विद्यमान रहा। नालन्दा की प्रारम्भिक स्थिति के विषय में यही ज्ञात होता है कि 500 श्रेष्ठियों ने मिलकर 10 करोड़ मुद्राओं में इस क्षेत्र को क्रय करके महात्मा बुद्ध को अर्पित कर दिया था। उनके प्रमुख शिष्य सारिपुत्र की यह जन्मभूमि थी। तथागत ने यहाँ के आम्रवन में कई दिनों तक रहते हुए अपने शिष्यों को धर्म की शिक्षा दी थी। कालान्तर में अशोक महान् ने यहाँ एक विशाल विहार का निर्माण करवाया। पुनः आठवीं शताब्दी के एक अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि विश्वविद्यालय अपनी व्यवस्था में अध्ययन-अध्यापन में श्रेष्ठ था।<sup>45</sup> जावा एवं सुमात्रा के नरेश बलपुत्र देव ने इसकी प्रतिष्ठा से आकर्षित होकर यहाँ एक मठ का निर्माण कराया तथा अपने मित्र बंगाल के राजा देवपाल से निवेदन किया कि उसकी ओर से नालन्दा विश्वविद्यालय को आर्थिक सहायता के रूप में पाँच गाँव दान में दे दिए जाँय।<sup>46</sup> इस अनुदान का एक अंश विश्वविद्यालय पुस्तकालय से पुस्तकों की प्रतिलिपि करने के प्रयोजन से सुरक्षित कर दी गयी थी ('धर्मरत्नस्य लेखनार्थम्')<sup>47</sup>। इस विश्वविद्यालय का विध्वंस मुस्लिम आक्रमणकारी इख्तियार-उद्-दीन मुहम्मद-बिन-बख्तियार खिलजी द्वारा 13वीं शती में सभी विद्यार्थियों तथा भिक्षुओं की हत्या करके सम्पूर्ण विश्वविद्यालय को अग्नि लपटों में सौंपकर किया गया।<sup>48</sup> 1193 ई० में तुर्क-आक्रमणकारी के हमले के पश्चात् नालन्दा का विशाल पुस्तकालय छः मास तक जलता रहा था।

#### सन्दर्भ :

1. लुनिया, वी०एन०, भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का विकास, पृ० 472
2. तक्षुस, इत्सिंग, रेकॉर्ड ऑफ द बुद्धिस्ट रिलीजन, पृ० 14
3. चौबे, डॉ० सरयू प्रसाद, आदि और मध्ययुगीन रिलीजन, पृ० 14, भारत में शिक्षा, पृ० 124, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, वि०सं० 2031
4. बोस, इण्डियन, टीचर्स ऑफ बुद्धिस्ट, यूनिवर्सिटी ऑफ मद्रास, 1925, पृ० 148-149
5. अल्लेकर, डॉ० अनन्त सदाशिव, एजुकेशन इन एंशिपुएन्ट इण्डिया, नन्द किशोर एवं ब्रदर्स, वाराणसी, 1957
6. वाटर्स, टी०, ऑन यूवान-च्यांग ट्वेल्स इन इण्डिया, पृ० 110-111, वॉल्यूम प्रथम एवं द्वितीय, लन्दन, 1904-'05
7. सिंह, परमानन्द, बौद्ध-साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 25, हलधर प्रकाशन, वाराणसी
8. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, 1921-'22
9. एपिग्राफिका इण्डिका, 20, पृ० 43

यस्याम्बुधारावलेहि शिखरश्रेणी विहरावली ।

मालेबोर्ध्व विराजिनी विरचिता धात्रा मनोज्ञाभुवः ।

नालन्दा हसतीव सर्वनगरीः शुभागोरस्फुट

र्च्यत्यांशु प्रकरोस्सदागमकला विख्यातं विदूज्जना ॥

10. वाटर्स, पूर्वोद्धृत, वॉल्यूम दो, पृ० 180
11. वही, पृ० 111-112
12. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, 1921-'22
13. बील, दी लाइफ ऑफ हेनसांग (शमन-ही), पृ० 109-114, वाटर्स, पूर्वोद्धृत, वॉल्यूम 2, पृ० 164-171 तथा इत्सिंग का यात्रा-विवरण, पृ० 30, 65, 86 एवं 154 विशेष द्रष्टव्य है
14. इत्सिंग, पृ० 106
15. पणिक्कर, के०एम०, ए सर्वे ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, पृ० 26, एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बम्बई
16. वाटर्स, पूर्वोद्धृत, वॉल्यूम 2, पृ० 165
17. अल्लेकर, पूर्वोद्धृत, पृ० 121
18. वाटर्स, पूर्वोद्धृत, वॉल्यूम 2, पृ० 165 तथा रेकाइस, वॉल्यूम 2, पृ० 170-171
19. वही, पृ० 165
20. एनकली, दी यूनिवर्सिटी ऑफ नालन्दा, पृ० 215-215, मद्रास, 1934
21. बील, पूर्वोद्धृत, भूमिका, पृ० 27-36
22. वील, लाइफ, पृ० 112-113; रिकॉर्ड्स, वॉल्यूम 2, पृ० 165
23. संकालिया, हंसमुख धीरजलाल, दी बुद्धिस्ट यूनिवर्सिटी ऑफ नालन्दा
24. वाटर्स, टी०, पूर्वोद्धृत
25. वही
26. जीवनी, पृ० 112
27. वही
28. वाटर्स, टी०, वॉल्यूम 1, पृ० 155
29. तक्कुस, इत्सिंग रेकॉर्ड आफ दि बुद्धिस्ट रिलीजन, पृ० 165-180
30. वाटर्स, वॉल्यूम 1, पृ० 158
31. मुखर्जी, हर्ष, पृ० 136
32. सिंह, डॉ० रामवृक्ष, गुप्तोत्तरकालीन राजवंश, पृ० 21, उत्तरप्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ
33. अल्लेकर, पूर्वोद्धृत, पृ० 122
34. चौबे, सरयू प्रसाद, पूर्वोद्धृत, पृ० 128
35. वही
36. समदर, ग्लोरीज़ ऑफ मगध, पृ० 138
37. गुरु-शिष्य संबंध के लिए इत्सिंग का रिकॉर्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रिलीजन, पृ० 116 से आगे द्रष्टव्य
38. चौबे, सरयू प्रसाद, पूर्वोद्धृत, पृ० 130
39. वाटर्स, टी०, पूर्वोद्धृत, पूर्वोद्धृत, वॉल्यूम 1, पृ० 160
40. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, 1921, पृ० 115-116
41. मुखर्जी, एस०के०, लाइब्रेरियनशिप, इट्स फिलॉसोफी एण्ड हिस्ट्री, पृ० 94
42. अल्लेकर, तत्रैव, पृ० 123
43. जीवनी, पृ० 112-113
44. चौबे, सरयू प्रसाद, पूर्वोद्धृत, पृ० 129
45. इपिग्राफिका इण्डिका, 20, पृ० 43

46. नालन्दागुणवृन्द लब्धमनसाभक्त्यां च शौद्धोदने ।

नानासदगुणभिक्षुसंघवसतिस्तस्यां विहारः कृतः ।

सुवर्णादिपि धीपमहाराज श्री बलपुत्र देवेन

वयं विज्ञपिताः यथा मया श्री नालन्दायां विहारः कृतः ।

47. अल्लेकर, पूर्वोद्धृत, पृ० 124

48. इलिप्ट एण्ड डाउसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, 2, पृ० 306; सिंह, डॉ० परमानन्द, बौद्ध साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 24



## Three Glorious centuries of Hindu History : Early Indo-Islamic History (c. CE 640-1000) of Afghanistan and North-West India

R.T. Mohan \*

### PROLOGUE

Within one hundred years Islam spread, conquering with ease and speed, vast areas in three continents. The Arabs had their covetous eyes on the fabulous wealth of India, but they were deeply frustrated when their army, considered invincible till then, sent to occupy the Hindu state of Zabulistan (South West Afghanistan) was trapped and completely destroyed by Rutbil – the reigning Kshatriya King (c. 698 CE). Another “magnificently equipped” army sent to retrieve the Muslim honour, turned mutinous. The Arabs did not attack Afghanistan after that.

It was three centuries later (c. 1000 CE) that the Koh Hindu Kush, successfully defended by India till then, could be penetrated by Muslim (Turkish) forces. Meanwhile, protected against foreign attacks, India could enjoy great peace and prosperity during the ninth and tenth centuries. India's international trade flourished.

If the history of protracted resistance by India in Afghanistan is incorporated in the text books, the students will have a correct picture. They will understand that the litany of defeats starting in the eleventh century, with Mahmud Ghaznavi's raids, was the closing phase of a long successful struggle by India. It was not an almost uncontested walk over as today's narration depicts it.

It is time to rectify this imbalance and correct this historical wrong.



We have taken a long step from Harsha to Mahmud, and surveyed 350 years and more of Indian History in a few paragraphs. I suppose much could be said of the long period which would be interesting. But I am ignorant of it, and so it is safer

for me to preserve a discreet silence.<sup>1</sup>

Jawaharlal Nehru noticed this intriguing hiatus – which may be called the “zone of silence” – during his “Quest” for Indian History. Other historians also confirm this gap. “Of the history of the Kingdom of Punjab, with its capital at Bathinda

(Waihind?) little is known”. (Wolseley Haig)<sup>2</sup> “It is indeed difficult to determine what other kings existed in Punjab during this period (CE 800-1000).” (C.V. Vaidya)<sup>3</sup> In respect of the centuries preceding the appearance of the Ghaznavids, there is complete darkness about the political situation in north-west India, which then had Koh Hindu Kush (in modern Afghanistan) as its political and physical frontier. This is strange when we consider that important political developments had been taking place in this region. Here we try to revisit the history of these momentous centuries and also investigate the reason for the silence of historians during the last millennium.

Afghanistan was the cradle of Vedic civilisation. There are specific references in the *Rgveda* and the *Mahābhārata* to certain rivers,

\* Flat No. 401, Daffodil Block, Amaravati Enclave,  
Panchkula-Kalka Highway, Panchkula-134107 (Haryana);  
Mob.: 09464544728; e-mail: rtmwrite@yahoo.co.in

tribes and rulers which leave no doubt that the Indo-Aryans in Punjab were intimately associated with (the present) Afghanistan.<sup>4</sup> Although subject, like the Punjab, to the influences of the Persians, the Greeks, the Parthians, the Scythians and the Kushanas, Afghanistan – particularly the region south of Koh Hindu Kush – remained Indian in culture and predominantly within the political orbit of India. After routing the Greeks, the Mauryas extended their control up to the Koh Hindu Kush and even beyond. During Fa Hian's visit (about CE 400) to Udayan – the country around Kabul – the language then spoken there was the language of Central India and the dress, the food and the drink of the people were the same. Buddhism was then flourishing.<sup>5</sup> However, by the time of Huen Tsang's visit in the seventh century, Buddhism was on the wane there and Brahmanism in the ascendant,<sup>6</sup> just as in the rest of India. He did not notice any sign of the Islamic wind till then (CE 644).<sup>7</sup>

During the seventh century a new religion – ISLAM – came up in Arabia. Soon this religion spread, conquering with speed and ease Syria (635), Iraq, Egypt (639), Persia (640), Tripolitania (647) – up to north-west Africa (670). Khurasan and parts of Central Asia (west and north of the Koh Hindu Kush) also came under the Arab caliphate. With the rapid fall of the great Persian Empire, the Caliphate had a common border with “Al Hind”. What was the political situation in Afghanistan during that period?

At Kapisha (situated about 60 miles north of Kabul), Huen Tsang found an able king of Kshatriya caste ruling over an extensive kingdom. He was powerful enough to bring under his control ten independent principalities. When the Arabs started probing the western frontier of Afghanistan, two Hindu kings were ruling over southern Afghanistan. Rutbil (variously mentioned as Ratbil, Reital, Zunbil, Ranthal etc. by Muslim chroniclers)<sup>8</sup> was the hereditary designation of the Kṣatriya<sup>9</sup> king of Zabulistan – south-western Afghanistan. With his capital at Bust (now in ruins) his territory extended westward up to the border of Persia (Iran). A Buddhist dynasty (named as the Turk Hindu Shahis by Al-Beruni)<sup>10</sup> ruled over south eastern Afghanistan, with capital at Kabul. They were closely associated and the Muslim chroniclers often refer to this whole region, south of Koh Hindu Kush, as the Kingdom of Kabul.

### **Arab Failure in Sothern Afghanistan**

“In southern and eastern Afghanistan, ... the Arabs were effectively opposed for more than two centuries, from CE 643 to 870, by the indigenous rulers, the Zunbils and the related Kabulshahis of the dynasty which became known as the 'Turk Shahis'.”<sup>11</sup> Zabulistan was then the frontline state of India bordering eastern Persia (Iran). The province of Sistan, adjoining Persia, was then under the sovereignty of the Rutbil. Even this outlying province did not yield without spirited contests. Subsequent campaigns launched by the Arabs from Sistan had varying degrees of success due to stiff resistance by the Hindu rulers of Zabul and Kabul. There were several raids – sometime sufficiently deep into the region – yielding great booty, mainly 'slaves and beasts'.<sup>12</sup> But annexation of territory was indeed slow, frustrating the Arabs then used to rapid acquisitions everywhere else.

After Abdul Malik took over the reins of the Caliphate (684-705), Hajjaj ibn Yusuf was made the governor of Iraq (CE 694-714). He infamously brought to his office a policy of extreme cruelty to fellow human beings.<sup>13</sup> Later, whole of eastern Caliphate, (western border of Al-Hind) also came under the authority of cruel Hajjaj. In CE 698, Obaidullah ibn Ali Bakra “received orders from Hajjaj to invade the country (of Rutbil); and, peremptorily, not to return until he had completely subjugated, or destroyed the whole province. In compliance with his instructions, Obaidullah entered the territory of the prince of Kabul ... Artfully retiring before his invaders until he had engaged them sufficiently within his country, this prince detached his troops into the rear; and blocking up the defiles, completely cut off the retreat of the Mahommedan army. In this situation, exposed to the danger of perishing by famine, Obaidullah condescended to purchase the liberation of himself and followers, from the snare into which he had so imprudently led them, for a ransom of seven hundred thousand dirhams.” By depositing the stipulated ransom in to hands of the agents of Rutbil, he was permitted to withdraw from the country without molestation. Obaidullah had to promise never to raid the Rutbil's territory again and he died of the grief at the plight of his forces: many of them had died of thirst and hunger.

To retrieve the Muslim honour, Hajjaj next despatched Abdur Rahman son of Mohammad

ibn Ashath at the head of a 'magnificently equipped' army of forty thousand men to invade the territories of Rutbil. Around CE 700, Zabulistan was penetrated with some success. "But having loaded his followers with booty, instead of remaining to secure the contest, he returned into Sistan, from whence he dispatched to acquaint Hajjaj with the success of the expedition." He was vehemently denounced by Hajjaj "for turning away from *Jihad* against the infidels" and threatened that he would be removed from his command unless he completed his assignment before the end of the year. In no mood to face Rutbil's forces at the battle front, Abdur Rahman's principal commanders "entered into a resolution to unite with their general, in open hostility to his government." It was a rebellion (*fitna*) against the Caliphate – the most powerful seat of power of its times. In order to strengthen his power, he conducted a treaty with the enemies of faith (Rutbil), in which it was stated that if his expedition be attended with success, Rutbil should be absolved from every species of tribute provided the latter would agree to afford him asylum in the event of the failure of his campaign against the Caliph. The Umayyad throne and the autocratic rule of Hajjaj were jeopardized for a while when the Arabs of both Basra and Kufa joined Abdur Rahman.<sup>14</sup> But the episode ended with the restoration of Umayyad power in Sistan when Abdur Rahman and his allies were crushed in 704. We skip the details of protracted skirmishes.

Abdur Rahman retreated to Zaranj (Sistan) where the governor was of his own creation but the gates of the town were closed against him. So he continued to retreat to Bost whose governor was also his own appointee. Here he experienced at first most friendly reception but after his forces had dispersed he was loaded with fetters for being delivered over to the mercy of Hajjaj. When Rutbil heard of this treachery, he hastened at the head of his troops and secured the release of Abdur Rahman who continued to experience the most humane and generous treatment from his preserver. The interest which this contest excited throughout the Caliphate invested Rutbil with a celebrity and he is hero of many Arab stories of the holy war. Rutbil was a formidable foe who had made Sistan an ill-omened frontier for the Arabs.<sup>15</sup> Sustained political intervention by Rutbil brought the Islamic expansion to a halt and for about one-and-a-half century no lasting gains were made by the Arabs in

these territories. Both Hindu states of Kabul and Zabul could preserve their sovereignty.<sup>16</sup>

This signal failure was an unprecedented ignominy for the Arab forces that had by then conquered vast regions without a set-back. The only other comparable event occurred a few decades later (732) when, over the Alps, the French successfully pushed back the Arabs trying to cross over from Spain to France – thus saving Europe from the Islamic tsunami. Edward Gibbon has summed up the situation in these words.

*"When the Arabs first issued from the desert they must have been surprised at the ease and rapidity of their own success. But when they advanced in the career of victory to the banks of Indus and the summit of Pyrenees, when they had repeatedly the edge of their scimitars and the energy of their faith, they might be equally astonished that any nation could resist their invincible arms, that any boundary should confine the domination of the successor of the prophet."*<sup>17</sup>

**India was the first nation that could resist the "invincible arms" of the Arabs when the latter were still in their elemental fury. It would be another 300 years that the Ghaznavids managed to breach the Khyber Pass and annex Punjab.**

#### **Arab Campaigns Against Sindh**

Exasperated by the Arab failure in southern Afghanistan, Hajjaj turned his attention towards another frontier region of Al-Hind – namely Sindh. Maulana Abul Kalam Azad in his *Humanity at Door's Death* and Maulana Nadvi in his *Indo-Arab Relations* state that between 638 and 711 the Arabs launched as many as fifteen attacks against Sindh. The details of these are available in *Chachnama*.<sup>18</sup> The earliest raids under Caliph Umr (634-43) to pillage Thana (near Bombay), Broach and Debal (near Karachi), were by sea. Later there were at least six campaigns through the Bolan Pass and Kaikan (Quetta). These were under the Caliphs Ali (655-660) and Muaviya (661-679). Raids into a rich country like India were lucrative for attackers as also the state, which received one fifth of the booty – the rest being distributed among the soldiers. It also kept the trouble makers busy elsewhere. The leaders of raiding parties could often collect riches and slaves though some of them were killed. However, the brave people of this hilly frontier of Sindh did not yield any territory.

Unable to retrieve the Muslim honour in Afghanistan, Hajjaj sent Ubaidullah bin Nabhan against the port of Debal (near Karachi?) but the Musalmans were slaughtered to a man. He then wrote to Budail (or Basil) to proceed to Debal and he was provided with a "large army." The residents of Debal sent a person to Dahar (the Brahman king of Sindh), informing him of the arrival of Budail at Narun (on his way to Debal). Dahar hastened to send his eldest son Jaisiya (Jaya Singh) with 4000 soldiers on horse and camel, who came by hurried marches to Debal. A pitched battle ensued. In the end the Muslim army was routed, Budail killed and many Musalmans taken prisoners. Hajjaj was severely afflicted by this disaster and vowed to avenge this indignity of an ignominious defeat. With meticulous preparations he sent a large army by land and sea under his son-in-law – Imdad Mohammed bin Qasim. His last words to Mohammed were, "I swear by God that I am determined to spend the wealth of the whole of Iraq, that is in my possession, on this expedition and the flame of my fire will never go down until I take revenge" (of Budail's death).

Having defeated the Arabs on several occasions, two of these very recent, Dahar seems to have taken this campaign also lightly: to him it was a grand match of chivalry and honour. This is the picture that emerges from the narration of the history by his enemies (*Chachnama*)<sup>19</sup>. Dahar was killed in a battle and the Arabs could advance up to Multan, facing obstinate resistance, and long sieges, at each town/fort, particularly in Upper Sindh. The Arabs had got a foothold in Al-Hind but the neighbouring Rajput kingdoms of Rajasthan and Gujrat managed to confine the Arabs within Sindh. Details of occupation of Sindh by the Arabs, and its subsequent history, are available in our history books.

#### Non-Arab Muslim Kingdoms of Afghanistan

In theory, the Caliph as the successor of the Prophet was the fountainhead of all political authority. All Muslim kings and tribal chiefs were subordinate to him and his sanction alone could provide legal basis for their authority. With the waning of the political might of the Caliphate, its governors in Khurasan set up their own strong kingdoms and threatened the Caliph militarily to seek his sanction for the ruler-ship of the territories of the caliphate conquered by them.

**The Samanids** (c. 819-1005). Saman Khuda, a converted Persian Zorashtrian king of Bukhara was the founder of the Samanid dynasty. It was the first native dynasty to rise in the region, virtually independent of the Caliph. The Samanid rule was acclaimed over a large region. Transoxiana and Khurasan prospered with a notable expansion of industry and commerce. Samanids were great art patrons and they turned Bukhara and Samarkand into famous cultural centres rivalling Baghdad. It was the new main centre of power in the region. The Samanids started employing Turkish slaves from beyond the frontier (Jaxartes) into army and other offices of the state. By the latter part of the tenth century, as the Samanid Amirs (rulers) were themselves occupied with 'high culture' they gave the direction of their army, including governorships of the provinces, to the Turkish generals. Ultimately, a Turk Hajib (doorkeeper) established an independent principality at Ghazni, which in its wake threatened almost every kingdom between the Oxus and the Ganges.

**The Saffarids.** Yaqub-i-Lais the 'Saffar', an upstart from Sistan, established himself as its Amir (r. 867-879) and became too powerful to be controlled by the Samanids or the Caliph. He started encroaching on the territory under the sovereignty of Rutbil of Zabulistan. Ultimately, Rutbil assembled his armies and marched towards Yaqub, in 870. When Yaqub came in front of 'huge hordes of the enemy' he decided to avoid a clash and use stratagem and deception. He managed to assassinate Rutbil by treachery on the ruse of paying homage to him.<sup>20</sup>

**As a consequence of this treachery the Hindu kingdom of Zabulistan, which had carried on heroic resistance against Muslim arms for more than two hundred years, ceased to exist. Its residents were converted to Islam. The western border of the adjoining Hindu state of Kabul, ruling astride the Khyber Pass, thus became the north-western frontier of India. It would also play a role as heroic as Zabulistan for more than a century but, perhaps lulled by this long spell of security, India failed to protect itself when the Islamic whirlwind reached the mainland.**

During this period, the *Kshatriya* Buddhist Hindu Shahi dynasty of Kabul had been replaced by a Brahman dynasty.<sup>21</sup> From here we take up the account by Abu Rehan Mohamad, commonly known as Al Beruni. He has recorded that "Hindus

had kings residing in Kabul.” Sixty generations of this dynasty ruled there with the title of “Shahis of Kabul”. The last of these kings was Lakutzman (Katorman) and his Minister was Kallar, a Brahman. Katorman's thoughts and actions were evil. The Minister put the king in prison for correction and administered the state himself starting a new dynasty. According to Al Beruni, Kallar was succeeded “by the Brahman(s) Samand (Samantadeva), whose successor was Kamalva (Kamalavarman), whose successor was Bhim (Bhimadeva), whose successor was Jaipal, whose successor was Andpal (Anandapala), whose successor was Nardjnpal (Trilochanapala) who was killed in A. H. 412 (CE 1021). His son Bhimpal succeeded him and after five years under him the sovereignty of Hind became extinct and no descendant remained to light a fire on the hearth.”<sup>22</sup> Al Beruni remained in India for many years and was a contemporary of Trilochanapala (c. 1011-1021). This brief account has been found to be correct whenever it has been possible to cross check it from other reliable data. These kings are known as Brahman Hindu Shahis to distinguish them from the previous dynasty of Turk Hindu Shahis.

The first four rulers in this list of Brahmana Hindu Shahis appear to have adequately protected the Shahi state of Kabul. The Samanids (819-1005) held almost the whole east of the Caliphate under their sway and were in conflict with all other neighbouring kingdoms. Yet they do not appear to have come in conflict with the Shahis of Kabul and, consequently, there is no mention of the Shahis in the Muslim chronicles of the period. This makes it difficult to reconstruct their history. Apart from the very useful information left by Al Beruni, a few references about them are available in early sources like *Jami-ul-Hikayat* of Mohammad Ufi and *Rajatarangini* of Kalhana. The gaps in this fragmentary knowledge have to be bridged with speculative theories and hence this is a challenging period for a researcher. In this endeavour the Shahi coins and related stone inscriptions which became available from time to time are of great help.

From the nineteenth century several Indian and foreign scholars, like Princep, Cunningham, Thomas, Stein, Smith, Elliot, Macdowall, Vaidya, Ray, Habib and Nazim had given useful information and suggestions (theories) about the Shahis but their history was not the exclusive or even the main

concern of these celebrated researchers. Yet this corpus of knowledge has formed a very useful base for subsequent writers, both in the field of history and numismatics. Since 1970, four books have been written exclusively about the *Shahis of Afghanistan*.<sup>23</sup>

**Kallar:** Reverting to Al Beruni's list, Kallar (or Spalapatideva of the coins) is deemed to have ruled with “power and glory”, without assuming the title of king. There was no further incursion by the Arab raiders into the Shahi capital of Kabul and therefore Muslim chronicles make no mention of Kallar. He introduced the Bull and Horseman type of coins. The bull (*nandi*) and the trident (*trishul*) showed that the new rulers were devotees of *Shaivism* – conveying a break with the earlier state-patronized Buddhism. The king on horseback with a raised weapon (lance) tended to convey a strong message about the might of the new administration.

**Samantadeva:** Kallar was succeeded by Samantadeva. He is to be identified with LalliyaShahi of *Rajatarangini*– which gives a colourful description of this mighty ruler.

*Alakhana's support, the illustrious LalliyaShahi – who (placed) between the rulers of the Darads and Turushkas as between a lion and a boar ... in whose town of Udashanda other kings found safety ... whose mighty glory (outshone) the kings in the North, just as the sun-disc (outshines) the heavens ...*<sup>24</sup>

With the Hindu state of Zabulistan having been lost, the Shahis transferred their capital from Kabul to Udashandapura (Waihind, Und), situated fourteen miles above Attock, on the right side of river Sindh. This was a timely strategic move.

**Kamlavarman :** Samantadeva was succeeded by his son Kamlavarman, probably around 895. Amr-i-Lais, brother of Yaqb-i-Lais had taken over the Saffarid Kingdom which still controlled Zabulistan. Amr was clashing with the Samanid ruler of Transoxia (probably instigated by the Caliph) and kept clear of the neighbouring Brahmana Shahis. But a governor sent by him to Zabulistan created a piquant situation. Fardaghan, the governor “led his army to a large Hindu place of worship called Sakawand, took the temple, broke the idol in pieces and overthrew the idolaters.”... “when the news of the destruction of Sakawand reached Kamlu, who was Rai of Hindustan, he collected an innumerable army and marched towards Zabulistan” in whose

territory Sakawand was located. According to a narration by Mohamad Ufi, which has been routinely reproduced by most writers, Fardaghan spread a rumour that a large army from Amr was on its way and by this intelligence Kamlu halted where he was.<sup>25</sup> However a recent researcher has established that this oft-quoted narration by Ufi was short of the “whole truth”. According to *Tarikh-i Sistan* two Indian Kings (Rai of Hindustan) combined their forces and launched a united invasion of Ghazni.<sup>26</sup> *Rājatarāṅgini* records an instance of a *Shahi-Vigraha* (palace coup?) in which a rebellious Shahi (*ajnaatikrami*) usurped the throne of Udabhanda and the state of Kashmir intervened to re-instate Kamalavarna.<sup>27</sup>

**Bhimadeva** next succeeded to the Shahithrone. Dewai Stone Inscription describes him as *gadahasta, paramabhattacharaka, maharajadhiraja, parmashvaraShahi Sri Bhimadeva*.<sup>28</sup> He issued a gold coin which has *Shahi Sri Bhimadeva* on the obverse and *SrimadGunanidhi Sri Samantadeva* on the reverse. This unique gesture is a very sentimental and touching tribute to an ancestor.

'The Khujaraho Stone Inscription of the Chandelle King Dhanga VS 1011 (CE 954-55)', imparts an interesting piece of information: “The lord of Bhota (Tibet) obtained (the image of Vaikuntha) from Kailash. From him the King of Kira received it as a token of friendship. The Shahi received it from him. From him (i.e. from Shahi) afterwards Herambapala (=Mahipala) obtained it for a force composed of elephants and horses.”<sup>29</sup> It further states that ultimately Yashovarman set up the image in a beautiful temple at Khujaraho. Mahipala (c. 914-948), a king of the Gurjara-Prathara dynasty of Kannauj was contemporary of Bhimadeva who is identified as *the* Shahi of this Inscription. It clearly demonstrates that Bhimadeva was fully conscious about the need for defence preparedness and did strive to maintain an impressive level of his cavalry and other fighting forces. Taking advantage of the weakening of the Saffarid Kingdom, the Shahis had stepped up activities on their western frontier and installed friendly Hindu rule in Ghazni. Lawiks, the Hindu rulers of Ghazni came to him for safety and succour.

Bhimadeva had only one daughter and no son. She was married to “King Simharaja, the lord of Lohar and other strong holds” – the area broadly identified by modern Punch and Rajauri in Kashmir.

Didda, the daughter of Simharaja out of this wedlock was married to Kshemagupta the King of Kashmir (950-958). 'Illustrious BhimShahi', the maternal grandfather of this queen, built a richly endowed temple '*BhimaKeshva*', near Martand in Kashmir.

Like several other savants and sovereigns, in his old age, Bhimadeva decided to dedicate himself to god *Shiva* by committing ritual suicide. He was then ruling supreme in the region, unmolested by any of his neighbours. Since it was a pre-meditated decision he could decide about a suitable successor.

**Jayapaladeva:** The statement by Al Berunithat Jayapala was the successor of Bhima, is confirmed by the 'HundSIab Inscription of the Time of Jayapaladeva'. According to that Inscription (verses iii, vii and xi) “*To the north of Indus ... there is (a city) by name Udabhanda ... Therein dwelt the chief of kings, Bhima ... who was burnt by himself ... by Shiv's desire, but not through the terrible enemy ... The king of (that country) is (now) Jayapaladeva.*”<sup>30</sup> Ferishta has recorded, “Jeipal ... of Brahman tribe reigned at that time over the country extending in length from Surhind to Lumghan and in breadth from the kingdom of Kashmir to Moultan.” 'Barikot Inscription of the Reign of Jayapaladeva' describes him as “*parambhattacharaka, maharajadhiraja, parmashvara Sri Jayapaladeva*”<sup>31</sup>... the same epithets as for Bhimadeva.

As stated earlier, by the middle of the tenth century the Turkish slaves began to acquire power in the Samanid Kingdom and Alaptagin, a Hajib (doorkeeper) established an independent principality in Ghazni (961) which gradually grew in power. Jayapala sent his son with a large army to re-install Lawik at Ghazni but Lawik and his ally were killed in a battle that took place at Charkh – a place on one of the routes from Kabul to Ghazni. Sabuktagin, the Turk hero of this battle became the Sultan of Ghazni. “In the first twelve years of his reign he had extended his frontier to the Oxus on the north and approximately to the present boundary between Persia (Iran) and Afghanistan.” Sabuktagin was simultaneously nibbling at the border territories of the kingdom of Udabhanda and conflict with 'Hind' could not have been postponed for long. Jayapala decided to push back the Turks and put an end to this menace. He twice attacked Sabuktagin but failed. Afghanistan part of the Shahi kingdom, beyond the Khyber Pass was

lost to Hindu India – for ever. Subsequent history of the obstinate resistance by Jayapala, his son Anandapala and grandson Trilochanapala is recorded in books of Indian History, even though it is the victor's version only.

### **Puzzles of the History of Hindu Shahis**

The history of these Brahmana kings, as reconstructed in bits from various sources by different historians has left many unresolved issues. For lack of space we have skirted them because each such issue would need an analysis of various contending views. The order of succession of kings as indicated by Al Beruni and stone inscriptions is acceptable. But the mutual relationship between these kings has nowhere been mentioned. And, who was Jayapala? How did he acquire, so smoothly, the vast territory between Sirhind and Kabul, while his Shahi predecessors had been ruling over the (Afghanistan) territory north/west of the river Sindh? During that period who were the masters of (western) Punjab, between the rivers Satluj and Sindh – about which Jawaharlal Nehru and others have expressed their ignorance?

The history of the Mohyals – a sub-sect of SarasvataBrahmanas of Punjab – as collated from their oral, bardic and written sources provides very credible and convincing answers. For this we are depending on *Gulshane Mohyali* published by Raizada Harichand Vaid (Urdu, 414 pages) at Lahore in 1923. He has stated that his narration, particularly about the kings of Punjab in the ninth and tenth centuries, had been taken from the (Persian) manuscript of the book *Twarikh Saheb Numa* by late Lala Ganesh Dass. His version follows.

After dethroning Laktuzman, the Brahmana Vazir Kallar set the administration in order and installed a chief who was “victorious, brave and tried-at-the-battlefield (*jangazmuda*)” on the throne of Kabul with the consent of other noble men of the court.

Till recently, there had been no record of any battle at which a commander of Kabul state may have won laurels during the period in question. But a stone inscription found recently (CE 2001) at Mazar-i-Sharif makes mention of a king who “having occupied the earth, markets and the forts by eight-fold forces” had the image of *Shiva* with Uma installed at Maitasya by ParimahaMaitya<sup>32</sup> (Great Minister i.e. Kallar). During that period the Kabul

Shahis had recovered the 'northern provinces', which had been under the Saffarids since CE 872 and this description fits with the “*jangazmuda*” successor of Kallar.

According to *Gulshane Mohyali*, Samantadeva was not the son of Kallar. Kamalavarman was the son and Bhimadeva the grandson of Samantadeva. Coming to Punjab, a militant Brahmana chief named Raja Bachan Pala established his dynasty in Punjab during the first quarter of the ninth century. He was succeeded by his son Ran Pala, grandson Bir Singh, followed by great grandson Prithvi Pala. Two Brahmana kingdoms of Kabul and Punjab functioned like a political confederacy, providing a credible balance-of-power against the Samanids of Central Asia and the Gurjara Pratiharas of Central India and enjoying tax benefits from international trade passing through their territories.

“When this valiant ruler (Bhimadeva) died without a male heir, his kingdom was placed under the domination of Prithvi Pala, the ruler of Punjab.” Prithvi Pala died within one year and his son Jayapala succeeded to the combined kingdom of Kabul and Punjab. On coronation, Jayapala assumed the additional name-ending “deva” used by the preceding dynasty of Kabul Shahis, in addition to the “pala” name-ending of his ancestral dynasty, and styled himself as Jayapaladeva. The Kabul component of the kingdom having been lost during his life time, his successors Anandapala, Trilochanapala and Bhimapala did not use the “deva” name-ending. The present-day Chhibber/Datt/Vaid castes of Mohyal Brahmanas claim the dynasties of Dahar of Sindh/Bhimadeva of Afghanistan/ Jayapala of Punjab, respectively, as their ancestors.

**These details from the history of the Mohyals (*Gulshane Mohyali*) admirably provide the missing links to join the gaps in the jigsaw-puzzle-history of the Brahmana Shahis.**

Having encapsulated the history of Zabul, Kabul and Punjab during the period c. CE 650-1000, we now come to the question why It had been excluded from the narration of History of India during the foreign rule of a thousand years? Al Badaoni has written a history of India which he calls *Muntakhabu-t-Twarikh* (Selections from History).<sup>33</sup> He begins with Sabuktagin ignoring the earlier failure of the Arabs and the Samanids in reaching

mainland India for more than three centuries. He explains, “the first of the Emperors of Islam who were the cause of the conquest of Hindustan were Nasiru-d-din Sabuktigin whose son was Sultan Mahmud Ghaznavi ... and in the reign of whose sons Lahore became the seat of Government, *so that Islam never again lost its hold on that country ... accordingly I deemed it right to commence the history with an account of that monarch whose end was glorious.*” (emphasis added) The Muslim historians thus had a reason to suppress the not-so-glorious history of Islam in Afghanistan. In their turn, it was very convenient for the British rulers who had been propagating the theory that Hindus had been traditionally hosting all invaders without any effort to resist. The 'secularists' who were in control of research, writing and teaching of history in India after Independence did not try to remove the veil.

But it is painful that the 'nationalist' historians have also not made the slightest effort to highlight this glorious chapter of Indian history – a

unique feat by Hindus of vanquishing the Arabs, who had not tasted any defeat till then (CE 700), and continuing to protect the strategic Khyber Pass from powerful Muslim kingdoms that arose in Central Asia after the Arabs. Dissemination of this knowledge will restore a certain balance in our perception of Early Indo-Islamic history which, at present, reads like a litany of defeats and persecutions. There is the problem that the syllabus was so designed by the British that it is not taught in the classes at any level. Furthermore, even the senior most teachers (Heads of Departments of Ancient History) in the Universities have neither read nor taught this and so, as guides, they are probably not encouraging their Ph. D. students to venture to explore the history of this area and era. It is time that the events comprising this Glorious Chapter of India History is appropriately included in the syllabus of history as also in the text books being taught in schools and universities.

### GENEALOGY

#### The Brāhmaṇa Hindu Śāhis Of Kabul and the Punjab

##### Pāla rulers of the Punjab

1. Bachan Pāla
- |
2. Ran Singh
- |
3. Bir Singh
- |
4. Prithvi Pāla

##### Deva Śāhi rulers of Kabul and Gandhāra

1. Kallar alias Spalapati Deva (from c.840 CE)
- |
2. Sāmanta Deva alias Vakka Deva (c. 860 - 895 CE)
- |
3. Kamalavarman (c.895–921 CE, with a gap of two years.)
- |
4. Bhīma Deva (c. 921 – 964 CE)

##### Pāla Śāhi dynasty ruling the combined Kingdom of Kabul and the Punjab

- |    |  |
|----|--|
| 5. | (5) Jayapāla Deva (c. 964–1002 CE)                           |
|    |  |
| 6. | (6) Ānandapāla (c. 1002–1011 CE)                             |
|    |  |
| 7. | (7) Trilochanapāla (c. 1011–1021 CE)                         |
|    |  |
| 8. | (8) Bhīmapāla (c. 1021–1026 CE):<br>Extinction of Śāhi rule) |

##### Non-ruling generations of Pāla Śāhis

- |  |   |
|--|---|
| 9. Given refuge ) →<br>under Kashmir ) | Rudrapāla Du rapāla                     |
|  |   |
| 10.                                    | Jyeṣṭhapāla                             |
|  |   |
| 11. Given refuge →<br>under Ajmer      | Anangapāla                              |
|  |   |
| 12.                                    | Gorakh Rai (Died at Taraori in 1192 CE) |
|  |   |
| 13. Ganesh Dev                         | Brahma Dev                              |

**Note :** The figures in brackets indicate the order of succession of the *Śāhi* rulers. The numbers on the extreme left refer to the successive generations of the *Pāla* clan.

#### References and End Notes:

1. Jawahrlal Nehru, *India's Quest, Being Letters on Indian History from 'Glimpses of World History'* p. 94, Asia Publishing House, 1963.
2. *The Cambridge History of India*, Vol. III, pp. 506-507.
3. *History of Mediaeval Hindu India* (New Delhi, reprint, 1979) Vol. II, p. 159.
4. Thakur Prasad Verma, 'Madhya Asia avam Bharat: Aitihasikavam Sanskrit Sambandhonki Gatha', *Itihas Darpan* (Vol. XV (2), pp. 27-28.
5. *Travels of Fah-Hian and Sung-Yun, Buddhist Pilgrims from China to India (400 AD and 518 AD) translated from Chinese* by Samuel Beal (London, 1869), Chapter VIII, p. 26.
6. In every 'country' (region) through which Huen Tsang passed (Nagar, Gandhara, Udyan, Takshasila) he deplored the fact that the 'non-Buddhists were very numerous' ... 'a few being Buddhists': Thomas Watters, *On Yuan Chwang's Travels in India (629-645 AD)*, (London, 1904).
7. Olaf Caroe, *The Pathans* (Karachi reprint, 1988), p. 94.
8. According to David Price, because of similarity in the letters *Re* and *Va* in Persian, this name may possibly have been *Vittel*, as the name *Vitteldas* is very common among the Hindus: *Mahomedan History ...*, (London, 1821), Vol. I, p. 454.
9. The Rutbils, later uprooted by Yaqub-i- Lais, were from the same ethnic stock as the Bhatti Rajputs: James Tod, *Annals and Antiquities of Rajasthan* (Delhi, reprint 2002), Vol. I, p. 72. Also see C.V. Vaidya, *History of Mediaeval Hindu India*, Vol. II, p. 159: "As there was a Brahman dynasty in Kabul, so there was a Kshatriya dynasty in Kandahar."
10. E.C. Sachou, tr. *Alberuni's India* (Indian Edition, New Delhi, reprint 1981), Vol. II, p. 13.
11. Andre Wink, *Al Hind* (New Delhi, Oxford University Press, reprint 1999), p. 112. "One thing is now proved, that princes of the Hindu faith ruled over all these regions in the first ages of Islamism, and made frequent attempts, for centuries after to reconquer them": James Tod, *Annals and Antiquities of Rajasthan* (Delhi, reprint 2002), Vol. II, p. 175 fn.
12. "Biladuri informs us that under the Caliphate of Muaviya Abdu-r Rahman son of Samra penetrated to the city of Kabul and obtained possession of it after a month's siege... The King of Kabul made an appeal to the warriors of India and the Mussalmans were driven out of Kabul": H. M. Elliot and John Dowson, *The History of India As Told by Its Own Historians* (Indian Edition, Kitab Mahal), Vol. II, p. 415.  
Also see Abdur Rahman, *The Last Two Dynasties of the Shahis* (Islamabad, 1979) (Delhi reprint 1988), quoting several sources like Tabri, Azraqi and Biladuri, pp. 85-86
13. Sir William Muir, *The Caliphate, its Rise and Decline*, p. 362.
14. Bosworth, C.E., *Sistan under the Arabs, From the Islamic Conquest to the Rise of the Saffarids (651-864)* (Rome, 1968), pp. 60, 63.
15. H.A.R. Gibbs, *The Arab Conquests in Central Asia*, (1923) p. 41.
16. This account of the Arab invasion of Zabul is based on the narration of Major David Price in his book *Mahomedan History ...* (London, 1821), Vol. I, Chapter XIII, pp. 454-463. Digitized by Google, it is now available on Internet for free download. Alongside each relevant page/paragraph Price has indicated *Khalast-al-Akhbar* by Khondamiras his authority. Born in Herat in 1475 CE, *Khalast-al-Akhbar* was written by him in 1499-1500. He was one of the greatest historians of his times. He came to India in 1528 and entered the service of Emperor Babar. After his death Khondamir served his son Himayun. This event is referred, among several others, by H. M. Elliot and John Dowson, *The History of India As Told by Its Own Historians* (Indian Edition, Kitab Mahal), Vol. II, pp. 416-417; James Tod, *Annals and Antiquities of Rajasthan*, Vol. II, pp. 174-175, foot notes. Andri Wink, *Al Hind: The Making of the Indo-Islamic World* (New Delhi, Oxford University Press, reprint 1999), pp. 122-123 quoting C. E. Bosworth's *Sistan Under the Arabs. From Islamic conquest to the Saffarids (654-864 AD)* (Rome, 1968).
17. Edward Gibbon, *The Decline and Fall of the Roman Empire*, Chapter XIX, pp. 487-88.
18. *Chachnama* was originally written by Ali ibn Hamid Kufi (originally of Kufa in Syria but subsequently a resident of Uch). It was later translated in Persian. Mirza Kalichbeg Ferdunbeg, Deputy Collector, translated it into English from the Persian translation (Karachi, 1900). It is now available free on Internet. English translation of important extracts available in H. M. Elliot and John Dowson, *The History of India As Told by Its Own Historians* (Indian Edition, Kitab Mahal), Vol. I.
19. A very readable account has become available recently: *ECHOES AMONG RUINS: Revisiting the Brahman Dynasty of Ancient Sindh* by Vinay Mehta. [www.echoesamongruins.com](http://www.echoesamongruins.com).
20. Nuruddin Mohammad Uffi, 'Jami ul Hikayat' in H.M. Elliot and John Dowson, *The History of India As Told by Its Own Historians* (Indian Edition, Kitab Mahal), Vol. II, pp. 176-78. Also *Tarikh-i-Ghuzida*, Ch, IV, Sec. I.
21. "As we learn from the Chinese pilgrim (Huen Tsang), the king of Kapisha was a *Kshatriya* or a pure Hindu. During the whole of the tenth century the Kabul valley was held by a dynasty of Brahmans, whose power was not finally extinguished until towards the close of the reign of Mahmud Ghaznavi. Down to this time, therefore, it would appear that a great part of the population of eastern Afghanistan, including the whole of Kabul valley, must have been of Indian descent ... The idolaters were soon driven out, and with them the Indian element, which had subsisted for so many centuries in Eastern Ariana, formally disappeared." Alexander Cunningham, *The Ancient Geography of India, The Buddhist Period*, p. 14.
22. E.C. Sachou, tr. *Alberuni's India* (Indian Edition, New Delhi, reprint 1981), Vol. II, p. 13.
23. Yogendra Mishra, *The Hindu Shahis of Afghanistan and the Punjab AD 865- 1026* (Patna, 1972); D.B. Pandey, *The Shahis of Afghanistan and the Punjab*, Delhi, 1973); Abdur Rahman, *The Last Two Dynasties of the Shahis* (Islamabad, 1979) (Delhi reprint, 1988); R.T. MOHAN,

- AFGHANISTAN REVISITED: The Brahmana Hindu Shahis of Afghanistan and the Punjab (c. 840-1026 CE)* (Delhi, 2010)
24. M.A. Stein, English translation of Kalhaṇa's *Rājatarāṅgiṇī* (Delhi, reprint 1989), V. 152-155, p.206.
  25. Mohammad Ufi, *Jami ulHikayat*, in H. M. Elliot and John Dowson, *The History of India As Told by Its Own Historians* (Indian Edition, Kitab Mahal), Vol. II, p. 173.
  26. Abdur Rahman, *The Last Two Dynasties of the Shahis*, pp. 110-116 quoting *Tarikh-i-Sistan*, pp. 255-266. Also Andre Wink, *Al Hind*, p. 125: "Muslim control of Zamindawar remained imperfect until the end of ninth century, and in Ghazni the Saffarid governor was again expelled by two Indian princes in 890-900 CE."
  27. M.A. Stein, English translation of Kalhaṇa's *Rājatarāṅgiṇī*, V. 232-233.
  28. From D.R. Sahni, 'Six Inscriptions in the Lahore Museum' *Epigraphia Indica*, Vol. xxi, no.44, 1931-32, pp. 298-299.
  29. Keilhorn, 'Khujaraho Stone Inscription of Dhanga', VS 1011' *Epigraphia Indica*, Vol. I, 1892-93, pp. 122-135: verse 43 in English translation, p. 134G.
  30. R.T. Mohan, *AFGHANISTAN REVISITED, The Brahmana Hindu Shahis of Afghanistan and the Punjab (c. 840-1026 CE)* The text of the Hund Slab Inscription of the Time of Jayapaladeva as also other Inscriptions, and description of the coins, quoted here are available in this book.
  31. D.R. Sahni, 'Six Inscriptions in the Lahore Museum' *Epigraphia Indica*, Vol. xxi, no.44, 1931-32, pp. 299.
  32. 'Mazar-i-Sharif Inscription of the Time of the Shahi Ruler Veka', *Journal of Asian Civilizations*, Vol. XXIV, No. 1, July 2001, pp. 81-86. Reproduced in R. T. Mohan, *AFGHANISTAN REVISITED ... Appendix – A*, pp. 162-63.
  33. Badaoni, *Muntakhabu-t-Twarikh*, translation by George S.A. Ranking (Patna, 1973 Edition).



## Ṭoṭeśvara Mahādeva Temple of Kadawāhā and its Inscriptions

Arvind K. Singh \*

### ABSTRACT

Of the fifteen surviving temples of Kadawāhā, the magnificent one is famous by the name of Ṭoṭeśvara Mahādeva that faces east and located in Mūrāyata group, on the west of a tank with steps. On the styles of the architecture and sculptures its construction is considered in the eleventh century, which is now confirmed by a minor inscription of the temple having the date in Saṁvat 1113 (CE 1056). Moreover, inscriptions of the temple provide significant materials for the history and culture of the region. The pilgrimages records validate the temple remained a vibrant center of religious life, individuals with Hindu names often came explicitly for the purpose of worship till the sixteenth century and even afterward.

### Introduction



Kadawāhā (24°58'; 77°57', ancient Kadambaguhā - Mattamayūra), is located about 16 kilometers north of Īsāgaḍh tahsil and about 40 kilometers north of Chanderī in district Ashoknagar of Madhya Pradesh, India. The village is famous for its temples, sculptures, and structures like

monastery, ruined mosque, wells, tanks and bāoḍī. The temples exhibit significant variations in style, motifs, etc., and probably not built by the Kachchhapaghātas, as considered by most of the scholars,<sup>1</sup> who never appear in the inscriptional record from Kadawāhā. In fact, neither the Gurjara-Pratihāras nor the Kachchhapaghātas were directly involved in the architectural activities at Kadawāhā between ninth-eleventh centuries, and the last inscription of the Gurjara-Pratihāras from the region is of CE 942-43 known from Rakhetrā.<sup>2</sup> Conversely, the later Pratihāras were particularly

active at Kadawāhā and no less than four of their inscriptions are found near the monastery and its temple<sup>3</sup> besides more than six inscriptions<sup>4</sup> from the neighboring areas. The epithet '*nṛipachakravartī*' of the later Pratihāra king Harirāja is especially recorded in a Kadawāhā inscription who travelled to the monastery seek initiation from the resident sages and gifted some villages to the pontiff on receiving *dikshā*.<sup>5</sup> The grant of certain villages to a pontiff of the Kadawāhā monastery suggests that the region was under the later Pratihāra rule at that time. The association of Pratihāra with Kadawāhā temples is further established by a minor inscription mentioning *Pratihāra* engraved on the *chandraśilā* of *maṇḍapa*'s entrance of an Akhatī group of temples.

The monastery of Kadawāhā, affiliated to the Mattamayūra sect of the Śaiva pontiffs, is sturdy and its exclusive structure, built of huge and small blocks of dressed sand-stone with large slabs, is being used for roofing purposes. The double storied large monastery building measures 93 ft. by 93 ft. having a central open square courtyard supported by pillared corridors on all sides with some

\* Professor, AIHC & Archaeology, Jiwaji University, Gwalior-474011; e-mail: pr.arvindksingh@gmail.com

meditation cells and halls.<sup>6</sup> Its exterior walls are plain with double row of windows and a small entrance on the north. This monastery was part of an expanding monastic network. It appears that the movement begun with the Śaivite saint Guhāvāsī or Kadambaguhādhivāsī in c. CE 675 and later on a regular monastery was constructed at Kadawāhā by Purandara. After its construction in the ninth or tenth century continually thrives till 15<sup>th</sup> century, though ruined now, yet built sometimes like 'fortresses' with surrounding walls and battlements. They invariably impress as epitomes of power and authority of pontiffs who presided over them and lived there in opulence and glory.<sup>7</sup>

Positively, Kadawāhā was one of the important temple towns in medieval Central India, experienced an architectural embellishments between ninth-eleventh centuries that resulted into no less than fifteen temples made of sand-stone.<sup>8</sup> Of the existing fifteen temples, Chāndlā maṭha belongs to the late ninth century, twelve are assignable to the tenth century, and Ṭoṭeśvara Mahādeva as well Marghaṭiyā Temples to the eleventh century. As for the position, one of the Kadawāhā Temples is located nearby the monastery, the remaining fourteen are clustered in eight groups that spread out around the monastery and occupy the outskirts of the village. The earliest Chāndlā maṭha, situated to the far northwest, closer in into the west is the Eklā and the Akhatī groups. The Bāga, the Marghaṭiyā, and the Khirnā groups are located to the north while to the east is the Pachhali Marghaṭa and the Mūrāyata or Talāo groups. The Mūrāyata group represents the well-known and magnificent Ṭoṭeśvara Mahādeva Temple. The Śaiva devotion in at least ten Kadawāhā Temples as well as monastery explains the prominence of Śaivism in the region.

### Ṭoṭeśvara Mahādeva Temple

The temples at Kadawāhā point out progression in vertical and horizontal enrichment. The early temples are small in size and have plain *vedibandha*, *jaṅghā*, *maṇḍapa*, with a central figure on lintel that latter developed in more decorative *vedibandha*, door lintel, pillars, ceilings and *jaṅghā*. The new conventions initiated over time could be observed in the elevations of temple base mouldings. The earlier temples are often built upon a rudimentary *jāḍyakumbha-padma-pīṭha*, ornamented with lotus petals, above which is built a fairly simple *vedibandha* of *khura*, *kumbha*, *kalaśa*, *antarapatra*,

and *kapotāli* while later temples exhibit increasingly complex *pīṭha* and a greater compression of the *vedibandha*. The formation started in simple form at Chāndlā Temple, graduated into the *maṇḍapikā* type of temple with raised platforms, *sopānas* and highly developed *maṇḍapas*, provided with high platforms and *kakshāsana* which finally reached its zenith in the Ṭoṭeśvara Mahādeva Temple. Besides, unique experimentation is noticed in one of the Mūrāyata Temple with twin sanctum and one *sikhara*. The *jaṅghā* portion of temples are elaborately ornamented by various sculptural details of divinities, *apsarāses*, *vyālas*, *kinnaras*, wrestlers, *yogīs*, *aṣṭa-dīkpālas*, and other floral, animal, and geometrical motifs. The *maṇḍapa* ceiling is profusely carved with lotus medallions and filled by other celestial mythical figures. The *sikhara* is missing in most of the temples but survive in one of the Khirnā, both Mūrāyata, and in Marghaṭiyā temples. The salient features of the sculptures are round face, high eye-brows, half-closed eye-lids, short chin, stunted and round body with full of rhythmic expressions and ornamentations.<sup>9</sup>

Of the two temples of Mūrāyata group (24°57.77 N, 77 °55.46 E), the bigger one known as Ṭoṭeśvara Mahādeva Temple is located on the north of the other temple and on the west of the tank, faces east and dedicated to Śiva (Pl.1). It measures 44 feet by 28 feet with *maṇḍapa* of 14 feet by 10.5 feet dimension. The size of the sanctum sanctorum is 9.5 feet by 8.5 feet with an entrance door of 6.5 feet by 3.3 feet. The temple is entered through a flight of stairs. This is the most developed temple of Kadawāhā that can be seen in its plan, elevation, components, and sculptures (Pl.2). The temple is highly ornamented with *pañcharatha* in plan and consists of *mukhamaṇḍapa*, *antarāla*, and plain *garbhagriha* enshrining *liṅga* with *yonī-pīṭha* at the centre and a *praṇāli* on the north. The *jagati* of the temple is elevated and *jaṅghā* has a highly decorated *adhishṭhāna* of ten mouldings comprising *ratnapaṭṭī*, *jāḍyakumbha*, *karṇikā*, *ratnapaṭṭikā*, *pushpapāṭṭī*, *karṇikā*, *ratna*, *jāḍyakumbha*, *karṇikā* and *vyālapaṭṭī*. The *vedibandha* possess *khura*, *kumbha*, *kalaśa* and *kapotapālī* separated by the *antarapaṭṭas*. Interestingly, these mouldings are decorated with miniature *chaitya*-arch motifs and *ratnapaṭṭikā* (Pl.3). The fabulously ornamented doorframe with highly polished and fine finished *sapta-sākhās* hold seated Gaṇeśa at the *lalāṭa* while the architrave bears seated Śiva, Brahmā and Viṣṇu with their

consorts (Pl. 4). Of the *sapta-sākhās*, *stambha sākhā* is decked with *kuṁbhā* and *ghaṭapallava* motifs at the top, the shaft has miniature *āmalakas* decorated with floral motifs, the lower shaft covers by all the *sākhās* and four female and one male on the extreme ends on both the sides, last one being Kubera holding mongoose on shoulder. The unique door-sill depicts deities instead of usual Udadhikumāras and motif of lion fight with elephant. The well decorated high *mukhamanḍapa* can be approached through a flight of steps. It is provided with high *kakshāsana*, sloping *chhājjas* supported by decorative dwarf walls and a pillared roof. The hexagonal shaft of the pillars support the *vitāna* carved with full blown lotus and the beams shelter a series of panels depicting forms of Śiva. The *śikhara* portions have *karṇa-śṛiṅga*, *uraḥ-śṛiṅga*, *bhūmi-āmlaka*, *skandha*, *grīvā*, *āmlaka*, *chandrikā*, *āmalasārikā*, *kalāśa* and *bijapūraka*. There are several elegant images carved out. The *jaṅghā* portion consist sculptures in two register. It is decked with the sculptures of Nāikas, *vyālas*, dancers, *mithunas*, and others. The *kapilī* wall on the south possesses Umā-Maheśvara in the upper register while the sculptures of the lower row and of the north *kapilī* are missing (Pl.5).

### Inscriptions of the Temple

This temple bears several inscriptions and mason marks. Some of the minor inscriptions engraved on the different architectural members of the temple consist only one letter like *dha*, *ga*, *ja*, *ka*, *ki*, *na*, *ya*, *śa*, *sa*, and *vi*. Other minor inscriptions might be read as Aramaṭha, Garakara, Kāravara, Maranara, Mātā, Masakara, Mavā, Ptama, Sajaka, Ṭhātata, and Vada. It seems that the names recorded in full or abbreviated form in the minor inscriptions as well as masons' marks are concerned with the artisans who helped in the construction of the temple. Besides, some inscriptions of pilgrimages are carved on the stone slab. The reading of some of the inscriptions of the temple, based on eye-copies, has been published earlier in the journal *Prāgdhārā*<sup>10</sup> but after visiting the place several times and photographing each inscription it is urgently required to revise the reading of the inscriptions and also include the new findings.

### I. Inscription of Saṁvat 1113

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on the *jagati* of the temple, which help in confirming the construction time of the temple.

TEXT

(Pl.6)

१ ॥ सं 1113 चैत्र व 8

### II. Inscription of Saṁvat 1380

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple.<sup>11</sup> It is engraved below the inscription of Saṁvat 1450 and records the name of Suśrī and his son Gumalaha who was the worshipper of Śiva.

TEXT

(Pl.8)

1. सिद्धम्<sup>12</sup> सुश्रीः सुतस्वया गुमलह शिवभक्त ॥ ॥ सं 1380.

### III. Inscription of Saṁvat 1386

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. It contains the names of Mādhava and Keśava in first line followed by the names of Adhama, his wife Haradeva, son Harakeśa and others. The date is recorded at the end. Some of the Reports mentions the date as 138[1] Āṣāḍha śudi 3 and only the names of Mādhava and Keśava.<sup>13</sup>

TEXT

(Pl.7)

1. .... या विप्र माधव केशव .... देवसवत्यः
2. ठा अधमपतिणि हरदेव सु हरकेश
3. रहुधेन भवहू । पदम वंदशु केशौ
4. संवत् 1386 वर्षे चैत्र सुदि 2

### IV. Inscription of Saṁvat 1445

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple.<sup>14</sup> It begins with *svasti* and records only the date.

TEXT

1. स्वस्ति श्री संवत् 1445 वर्षे ॥

### V. Inscription of Saṁvat 1445

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. It mentions the name Vipra. In the *Annual Report of Indian Epigraphy* (1961-62, n.: C 1441), the date is

recorded as 144? and reads in line 1 *vi-punyaaja* and in line 2 *vo-ke*.

## TEXT

1. सिद्धम्<sup>15</sup> स्वस्ति संवत् 1445 वर्षे ।
2. .... विप्रनां ज-
3. .... लोके
4. .... सुभ

**VI. Inscription of Saṁvat 1450**

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple.<sup>16</sup> It records a gift to the Brāhmaṇa Bhāgoḥara of the Gautama-gotra by Paṇḍita Rāmadāsa, son of Paṇḍita Dhanaudeva and grandson of Mujāladeva. Rāmadāsa is described as a devotee of Śiva. Willis mentions only four lines of the inscription and name of Mujāladeva as Mujādeva.

## TEXT

(Pl.8)

1. सिद्धम्<sup>17</sup> ॥ स्वस्तिः ॥ त्वंवाध्वार्स्त्वं शोयस्त्वम  
सिपवनस्त्वं कुतवहस्त्वं मापस्त्वं व्योम-
2. स्त्वम धरणि संलांस्वर्गति च । परिच्छिन्नामेवंत्वयि  
परिणतां विभ्रतुं
3. नसेन्न विष्मयप्रनव युगिह तिथत्वन्नभवतिः ॥ त संवत्  
1450
4. वर्षे वैशाख सुदि गुरौ दिने ॥ भागोहर ब्राह्मणायो गौतम  
गोत्राय
5. .... यदास्त्वादिना । पंडित श्री मुजालदेव तस्य पुत्र पंडित  
श्री धनौदेव
6. तस्य पुत्र पंडित श्री रामदासदेवः ॥ शिवभक्तः ॥ शुभं भ  
वत् ॥

**VII. Inscription of Saṁvat 1467**

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. This fragmentary inscription begins with *sidhi* followed by year and mentions the name of Valiragha.

## TEXT

1. सिधि संवत् 1467 वर्षे
2. .... बलिरघत्यसु
3. .... : सुभं भवत्

**VIII. Inscription of Saṁvat 1467**

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. It begins with the symbol *siddham* followed by *sidhi* and the date. It was written by Paṇḍita Valarāja.

## TEXT

1. सिद्धम्<sup>18</sup> सिधि संवत् । वर्षे
2. लिषायत पं बलराजसु
3. ... वरयुष ..... न्वे ...

**IX. Inscription of Saṁvat 1468**

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple.<sup>19</sup> It records the names of *tha*, i.e., *thakkura* Śrī Ratnapāla and a pāla whose name is worn out.

## TEXT

1. संवत् 1468 ..... दिने
2. ठ श्री रत्नपाल ..... पाल
3. लिषितं .....

**X. Inscription of Saṁvat 1473**

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple.<sup>20</sup> It records that at the time of a Sihikhālī was *Maṇika gumāṣṭā* of Rannod under Kadawāhā *paraganā*. Sahanā and Khuśadila were the *Malikas* of Kadawāhā *paraganā*. According to Willis it mentions an agent (*gumāṣṭā*) named *Mālīka* Sāmhikhāna and two *Mālīkas* named Sahanā and Khuśadila; also mentions Kadarāha *paraganā* and he referred the date as 1403.

## TEXT

(Pl.9)

1. सिद्धम्<sup>21</sup> ॥ सिद्धिः ॥
2. सिद्धम् ॥ संवत् 1473 वर्षे ॥ फागुण वदि 5
3. राणौद कदवाहे परगने गुमाष्टा मणिक
4. सीहीषाली समअइ ॥ कदवाहे परीगने

5. सहना षुसिदिल मलिकाः ॥ छ ॥

#### XI. Inscription of Samvat 1473

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. It records the name of *malikī* Sahanā, Khusidila and the date.

##### TEXT

1. सहना षुसिदिल मलिकी
2. संवत् 1473 वर्षे ॥

#### XII. Inscription of Samvat 1473

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. It records the names of Jāta and his son Amaramani.

##### TEXT

- १ ॥ सिद्धम्<sup>22</sup> सिधि संवत् 1[4]73 कर्तिक
- २ ॥ सुदि ..... जातस्व सुत-
- ३ ॥ स्य अमरमनि सदादये .....
- ४ ॥ सद्धर्म .....

#### XIII. Inscription of Samvat 1495

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple.<sup>23</sup> One line inscription begins with *sidhi* and followed by the date.

##### TEXT

- १ ॥ सिधि संवत् 1495 वर्षे ॥

#### XIV. Inscription of Vikrama Samvat 1512 and Śaka Samvat 1377

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab lying loose in the temple. It begins with *om* symbol followed by the adoration of divinities and date. Further, it mentions the reign of Sultāna Mahamuda Sāhi Khalavī, Chanderī-desā and the name of Daulata Khāna. Naronna, with his sons and daughters who visited the place. It also records the names of Patasa of Duga-vaṁśa and his *dharmaputra* Śrī Sutrādhara of Chānhudhāṇa-vaṁśa. His son was Rāvata Ratanapāla. The inscription was written by Mahipāla, son of Thirapāla and Sūtrādhara was Gaṁgū.

##### TEXT

(Pl.10)

1. ओं<sup>24</sup> ॥ सिधि गणपति प्रसादात् ॥ आद्यैर्ब्रम्हान  
विश्वविश्विकल
2. गगन । नास्ति ब्रम्हांडबंधं ॥ स्वर्गाद्यानपैनागा । ग्रहगण-
3. रिषस्यो ॥ नास्ति नष्टगुत्रमाला ॥ चंद्रादित्यो न वहति
4. बन्धि सरित ॥ नास्ति कालो न जीव ॥ तत्रै कौपिस्वयं भू-
5. त्रै जुगज्जुगपति ॥ पतेमास्त्रिष्टीकर्ता ॥ संवत् 1512
6. वर्षे ॥ माघ सुदि 11 रवौ दिने ॥ अथ विक्रमादित्यराजे साके
7. 1377 महाराजाधिराज श्री सुलितान महमुदसाहिषलवी
8. राज्ये चंदेरीदेसे ॥ दौलतिषान वर्धमानै ॥ सोली श्री नरोन्न  
तस्य
9. पुत्रपौत्री श्रीसमागतवात्त कूसवंश ॥ यादौ दुगवंशेते प-
10. तस्य धर्मपुत्र चान्हुधाण वंसाग श्री सुत्रधरव ॥ तस्य पुत्र  
रावतं
11. रतनपालत्यह कुसम्बसाकृत्तम पुन्यदत्तप ॥ लिषिता ठ श्री
12. थिरपाल पुत्र महिपाल ॥ सुभमस्त ॥ सूत्रधारि गंगू मढेदे

#### XV. Inscription of Samvat 1532

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. The major portion of the inscription recording the names and other details are now worn out.

##### TEXT

1. .... हीदसं जससा
2. .... भौ सिद्धयमर्च्य सं 1532 वर्षे

#### XVI. Inscription of Samvat 1553

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. It begins with a symbol of *siddham* followed by *sidhi* and the date.

##### TEXT

- १ ॥ सिद्धम्<sup>25</sup> सिधि संवत् 1553 वर्षे
2. ....

#### XVII. Inscription of Samvat 1562

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple.<sup>26</sup> It records the name of Samhū and his son, whose name is not

readable, and the date.

TEXT

(Pl.7)

1. .... संभू सुत्त
2. .... तना जयित
3. .... रि सं 1562 वर्षे

### XVIII. Inscription of Saṁvat 1562

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. The earlier scholars wrongly mentioned the date as 1162 Śrāvaṇa sudi and stated that some names of *āchāryas* are recorded in the inscription.<sup>27</sup> In fact, the date is given as Saṁvat 1562 Āṣāṇa suddi 5 Sunday and it mentions the name of Kajanutrika and his sons. It was written by Paṇḍita Valaguṇa and the devotee was *ṭha*, i.e., *ṭhakkura* Śrī Asrā.

TEXT

(Pl.11)

1. सिधि संवत् 1562 वा
2. गतवर्षे आषाण सुदि 5
3. रवौ कजनुत्रिक पुत्रयौ
4. लिखि पं श्री वलगुण कैदी-
5. द्वाराभुरतंस्य भजू ठ श्री अ-
6. स्त्रा

### XIX. Inscription of Saṁvat 1580

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on the border of the *piṭha* of Śivaliṅga-*piṭha* in the temple. It mentions Paṇḍita Padamu and others.

TEXT

(Pl.12)

- १ ॥ संवत् 1580 पं पदमु भीषावाल सैनी यषाय भज रहमीकरणं

### XX. Inscription of Saṁvat 1580

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple.<sup>28</sup> This pilgrim record mentions *ṭha* (i.e., *ṭhakkura*) Khema Mānika. It also records the name of his brother, Vāḍidhara Dhanika.

TEXT

(Pl.13)

- १ ॥ संवत् 1580 वर्षे सावन सुदि 4.
- २ ॥ बुधलि । वाडिधरस धनिक तस्य भ्राता
- ३ ॥ ठा षेममानिक चिरसरीधा

### XXI. Inscription of Saṁvat 1597

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple.<sup>29</sup> It records the name of Damodara and his son Senarāja. Earlier scholars noted the date as 1587 and a pilgrim, son of (illegible) or Śrī Ududame (?).

TEXT

- १ ॥ संवत् 1597 वर्षे
- २ ॥ ठ श्रीमद दमोदरुत्तमछ-
- ३ ॥ त्सुतु सेनराजह

### XXII. Inscription of Saṁvat 14---

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. The last two symbols of the date are not legible and it records the names of Phūṭo and Kulodhāra.

TEXT

1. संवत् 14.... दि 2 सोमदिने
2. .... द्वरज फूटो तस्य
3. कुलोधार कुलजो

### XXIII. Inscriptions in Black Ink

Interestingly, two inscriptions of later period are written in black ink on two *rathikā* of the *maṇḍapa*. This helps to understand the writing process in which the inscription was first written with ink and then engraved with the help of chisel. The inscription is not much obvious so a tentative reading is given here.

A.

TEXT

- १ ॥ सिधि । संवत् 15

B.

TEXT

- १ ॥ संवत् 1-59 वर्षे पुष ..... 8 मंगलवार भाट्टेष्वाकेर

२ ॥ सोय राहा माता सीध सावग्नोः मनसुट

3. .... परधना

#### XXIV. Inscription on the Step of the Tank

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a step of tank in front of the temple. It begins with the symbol for *siddham* and mentions the Māgha-snāna (bath) at the Ghāṭa of Mūlāyātana temple.

TEXT

(Pl.14)

१ ॥ सिद्धम्<sup>30</sup> भट्टरा ..... हासं माघस्नान घाटू

२ ॥ मूलायतण प्रासादो

#### XXV. Inscription

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. Willis gives the reading as *om siddhiḥ ślokārdhena pravakshyāmi ----- duktaṁ granthakoṭibhiḥ prakārāya pu* ----.<sup>31</sup>

TEXT

(Pl.15)

1. सिद्धम्<sup>32</sup> सिधिः स्लोकार्थं प्रविष्यामिः

2. जदिवक्तं ग्रंथकोटिभिः .....

3. प काराय पुन्यां ..... त पीडैः

#### XXVI. Inscription of Kumārapāla

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. It begins with the symbol for *siddham* and mentions the name of Kumārapāla, a devotee of Śiva.

TEXT

१ ॥ सिद्धम्<sup>33</sup>. कुमारपाल शिवभक्तः

#### XXVII. Inscription

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple, mentions only Ssidi.

TEXT

१ ॥ स्सीदी

#### XXVIII. Inscription of Chandra

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on the inner west wall of the

sanctum sanctorum of the temple. It begins with *sidhi* and mention the name of Chandra.

TEXT

१ ॥ सिधिः ॥ श्रीचन्द्रः ॥ सूरवलश्च-

२ ॥ त्तित्वे वर्णशुद्धोः

#### XXIX. Inscription of Jayata

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. It begins with a symbol for *siddham* and mentions the devotee of Śiva, Jayata and his son.

TEXT

१ ॥ सिद्धम्<sup>34</sup> सिधिः जयतस सुतस शिवभक्त

#### XXX. Inscription of Manau

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. The inscription records the name of Manau, but his father's name is not readable presently.

TEXT

1. .... लाभ पुत्र मनौः

#### XXXI. Inscription of Padamau

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. It records the name of Padamau.

TEXT

1. .... पदमौ

#### XXXII. Inscription

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. It mentions the names of *ṭhā*, i.e., *ṭhākura* Hari and Dugaupī.

TEXT

(Pl.13)

१ ॥ ठा हरि च दुगौपी

#### XXXIII. Inscription Jasahara

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. It mentions the name of Jasaharaśrī.

TEXT

१ ॥ युग जसहरश्री

**XXXIV. Fragmentary Inscription**

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. The purport of the inscription is not clear due to its fragmentary nature.

TEXT

1. .... भट्टावदेम
2. .... वदुद्यु
3. ... धहा च ..... भवत

**XXXV. Inscription of Mujavatasimha**

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. It mentions the name of Mujavatasimha.

TEXT

1. मुजवतसिंह

**XXXVI. Fragmentary Inscription**

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. It begins with the adoration of Umāpati (Śiva) and records the names of Sūlā, Mujāla and others.

TEXT

1. सिधि उमापति प्र ..... दाग्र भवे
2. .... केस्वतो ॥1
3. सूलाः भव ..... त्पद् वत्सरो तव
4. .... चलः ॥2
5. .... मुजाल्लज ..... न्नारदेद्युम .... मसितं

**XXXVII. Fragmentary Inscription**

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple.

TEXT

1. सर्वसो संवरैज
2. उरस्त्रोप संवत् .....
3. .... गणज .....
4. लजो ॥

**XXXVIII. Inscription**

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. In the

preserved portion it records Amana, Śrīkāmṭa and Ghemala.

TEXT

1. सोयमसाफूत्परह वषेद्वदीपनी
2. सो अमन श्रीकांतनुसगनगरु-
3. मेक्षनु उ ..... नोप्पादुना
4. घेमलमि .....
5. वंश्रीश्र

**XXXIX. Inscription**

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. It records the names of Sani and his son Vanī, besides Sanā's son Pano.

TEXT

1. .... सर्वपुन्य प्रसादेव सनि
2. .... [पु]त्रां वनी सना पुत्र पनो
3. .... सुभुवत्रा-
4. स्नीख कार्य

**XL. Fragmentary Inscription**

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. In the first line the name of Jahadu is readable.

TEXT

1. .... रुपस .....
2. .... द्ररिसर ..... द्यगुणा

**XLI. Inscription of Amarasīha**

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple. It mentions Amarasīha who was the devotee of Śiva.

TEXT

- १ ॥ अमरसीह शिवभक्त ॥

**XLII. Fragmentary Inscription**

The inscription is written in Nāgarī characters and Sanskrit language on a slab in the temple.

TEXT

1. .... गुरु शिरस्तु वरित्य शसि स ..... श्री

**Notes and References:**

1. Ali, Ahmed. 2005. (*Kachchhapaghata Art and Architecture*, Jaipur, Publication Scheme) considered almost all the temples of northern Madhya Pradesh and adjoining region as the Kachchhapaghata temples; Lourdasamy, K. 2012. (*Temples of Kadwaha*, Temple Survey Project (N.R.) Bhopal: p. 2) regarded the temples of Kadwaha as Kachchhapaghata temples; Deva, Krishna. 1998. (*Encyclopaedia of Indian Temple Architecture: North India Beginnings of Medieval Idiom*, Volume II, Part 3, New Delhi, American Institute of Indian Studies: p.21) stated these temples as of the Kachchhapaghata period.
2. Singh, Arvind Kumar. 2012. 'Rakhetra ki Shailotkirna Murtikala evam Abhilekha', *Itihas Darpan, Research Journal of Akhil Bharatiya Itihas Sankalan Yojana* Vol. XVII (I): 75-82, New Delhi.
3. Patil, D.R. 1952. *The Descriptive and Classified List of Archaeological Monuments in Madhya Bharat*, Gwalior, The Department of Archaeology Madhya Bharat Government: Nos. 746-753; Willis, Michael D. 1996. *Inscriptions of Gopaksetra: Material for the History of Central India (IG)*, London, British Museum: pp. 14, 112-113; Singh, Arvind Kumar. 2000. 'Inscriptions from Kadwaha, Dist. Guna (M.P.)', *Pragdhara, Journal of the U.P. State Archaeology Department* No. 10: 229-239, Lucknow; Singh, A.K. 2007. 'Kadwaha Stone Inscription of the time of Kirtipala', *Studies in Indian Epigraphy, Journal of the Epigraphical Society of India* Vol. XXXIII: 169-176, Mysore.
4. Singh, A.K. 2005. 'A Fragmentary Stone Inscription from Chanderi', *Studies in Indian Epigraphy, Journal of the Epigraphical Society of India* Vol. XXXII: 23-27, Mysore; Singh, A. K. 2006. 'Chanderi Inscription of the time of Ranapaladeva, VS 1100', *Bharati: Bulletin of the Department of Ancient Indian History, Culture & Archaeology*, Banaras Hindu University, Vol. 29: 139-144, Varanasi; Singh, Arvind K. 2006. 'Chanderi Stone Inscription of Jaitravarma', *Journal of the Asiatic Society of Mumbai*, Vol. 80: 127-136, Mumbai; Singh, Arvind Kumar. 2010. 'Paravarti Pratihara Sasaka evam Unake Abhilekha', *Itihas Darpan, Research Journal of Akhil Bharatiya Itihas Sankalan Yojana* Volume XV (II): 69-81, New Delhi.
5. Mirashi, V.V. and Shastri, Ajay Mitra. 1968. 'A Fragmentary Stone Inscription from Kadwaha', *Epigraphia Indica*, Volume XXXVII, Delhi, Archaeological Survey of India: pp.117-124.
6. Garde, M.B. 1942. *Annual Administration Report of the Archaeological Department Gwalior State (GAR)* for Vikram Samvat 1996, Year 1939-40, Gwalior: pp. 6-9; Patil, D.R. 1952. *The Cultural Heritage of Madhya Bharat*, Gwalior: p.91.
7. Misra, R.N. 1993. 'The Saivite Monasteries, Pontiffs and Patronage in Central India', *Journal of the Asiatic Society of Bombay*, Volumes 64-66, Bombay: pp.108-124.
8. For detail please see, Deva, Krishna. 1998. *Encyclopaedia of Indian Temple Architecture: North India Beginnings of Medieval Idiom*, Volume II, Part 3, New Delhi, American Institute of Indian Studies: pp.21-27; Lourdasamy, K. 2012. *Temples of Kadwaha*, Temple Survey Project (N.R.) Bhopal; Ali, Ahmed. 2005. *Kachchhapaghata Art and Architecture*, Jaipur, Publication Scheme: pp.27-32.
9. Lourdasamy, K. 2012. *Temples of Kadwaha*, Temple Survey Project (N.R.) Bhopal: p.42.
10. Singh, Arvind Kumar. 2000. 'Inscriptions from Kadwaha, Dist. Guna (M.P.)', *Pragdhara*, No. 10, 1999-2000: pp. 229-239.
11. *Annual Report on Indian Epigraphy (ARIE)* (1961-62): n. C 1441; Willis, Michael D. *IG* (1996): p.23.
12. Expressed by a symbol.
13. *GAR* (VS 1984/ AD1927-28): n. 62; Dvivedi, Harihar Nivas. VS 2004. *Gwalior Rajya ke Abhilekh (GRA)*, Banaras: n. 189; *ARIE* (1961-62): no. C 1446; *IG* (1996): p. 23.
14. *ARIE* (1961-62): no. C 1442; *IG* (1996): p.26.
15. Expressed by a symbol.
16. *GAR* (VS 1974/AD1917-18): n. 66; *GRA* (VS 2004): n. 230; *ARIE* (1961-62): no. C 1440; *IG* (1996): p. 27.
17. Expressed by a symbol.
18. Expressed by a symbol.
19. *GAR* (VS 1984/AD1927-28): n. 70; *GRA* (VS 2004): n. 242; *ARIE* (1961-62): n. C 1452; *IG* (1996): p.28.
20. *GAR* (VS 1984/AD1927-28): n. 63; *GRA* (VS 2004): n. 220; *ARIE* (1961-62): no. C 1447; *IG* (1996): p.26.
21. Expressed by a symbol.
22. Expressed by a symbol.
23. *ARIE* (1961-62): n. C 1443; *IG* (1996): p.30.
24. Expressed by a symbol.
25. Expressed by a symbol.
26. *GAR* (VS 1984/AD1927-28): n. 60; *GRA* (VS 2004): n. 354; *ARIE* (1961-62): n. C 1444; *IG* (1996): p.43.
27. *GAR* (VS 1984/AD1927-28): n. 64; *GRA* (VS 2004): n. 62; *ARIE* (1961-62): n. C 1448; *IG* (1996): p.7.
28. *GAR* (VS 1984/AD1927-28): n. 69; *GRA* (VS 2004): n. 367; *ARIE* (1961-62): n. C 1450; *IG* (1996): p.44.
29. *GAR* (VS 1984/AD1927-28): n. 61; *GRA* (VS 2004): n. 373; *ARIE* (1961-62): n. C 1445; *IG* (1996): p.45.
30. Expressed by a symbol.
31. *GAR* (VS 1984/AD1927-28): n. 68; *ARIE* (1961-62): n. C 1451; *IG* (1996): p.113.
32. Expressed by a symbol.
33. Expressed by a symbol.
34. Expressed by a symbol.





Pl.1: Ṭoṭeśvara Mahādeva Temple North-East View



Pl.2: Ṭoṭeśvara Mahādeva Temple South-West View



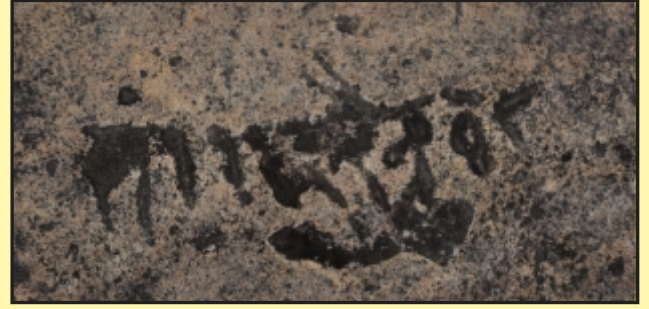
Pl.3: Ṭoṭeśvara Mahādeva Temple Back View



Pl.4: Mukhamaṇḍapa, Antarāla and Garbhagriha of the Temple



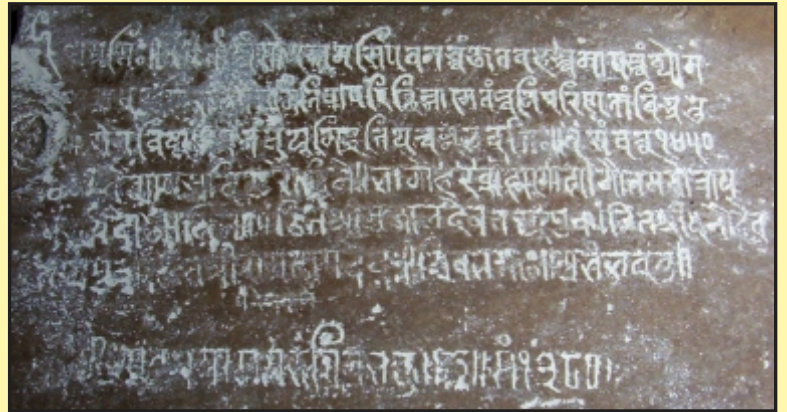
Pl.5: Details of the Adhishthāna and Jaṅghā portion of the Temple



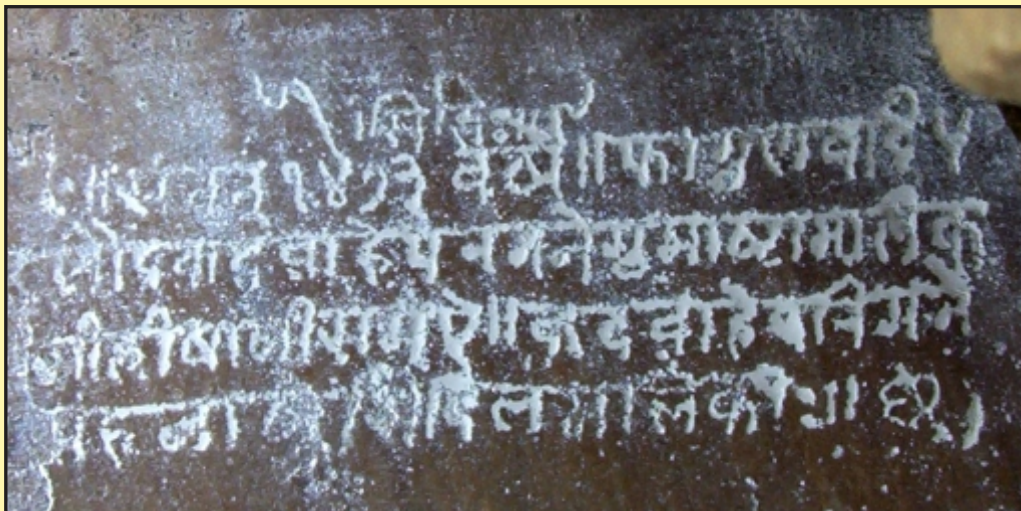
Pl.6: Inscription of Saṁvat 1133



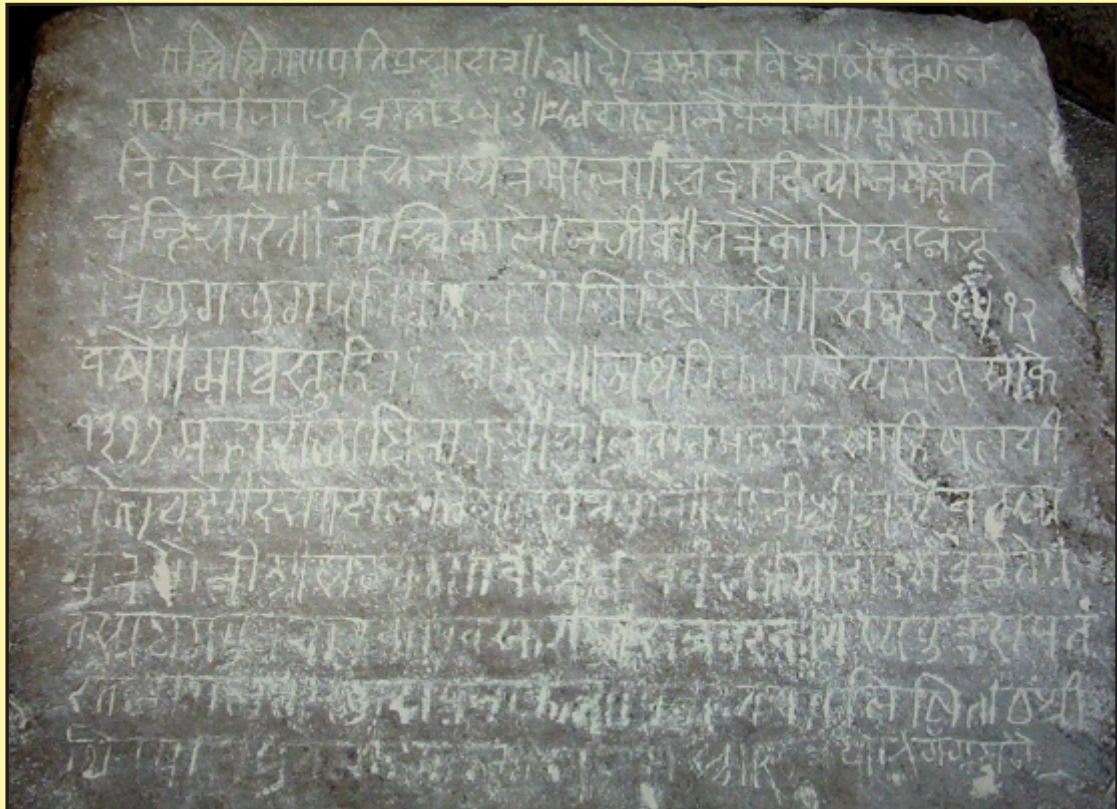
Pl.7: Inscriptions of Saṁvat 1186, 1562 and others



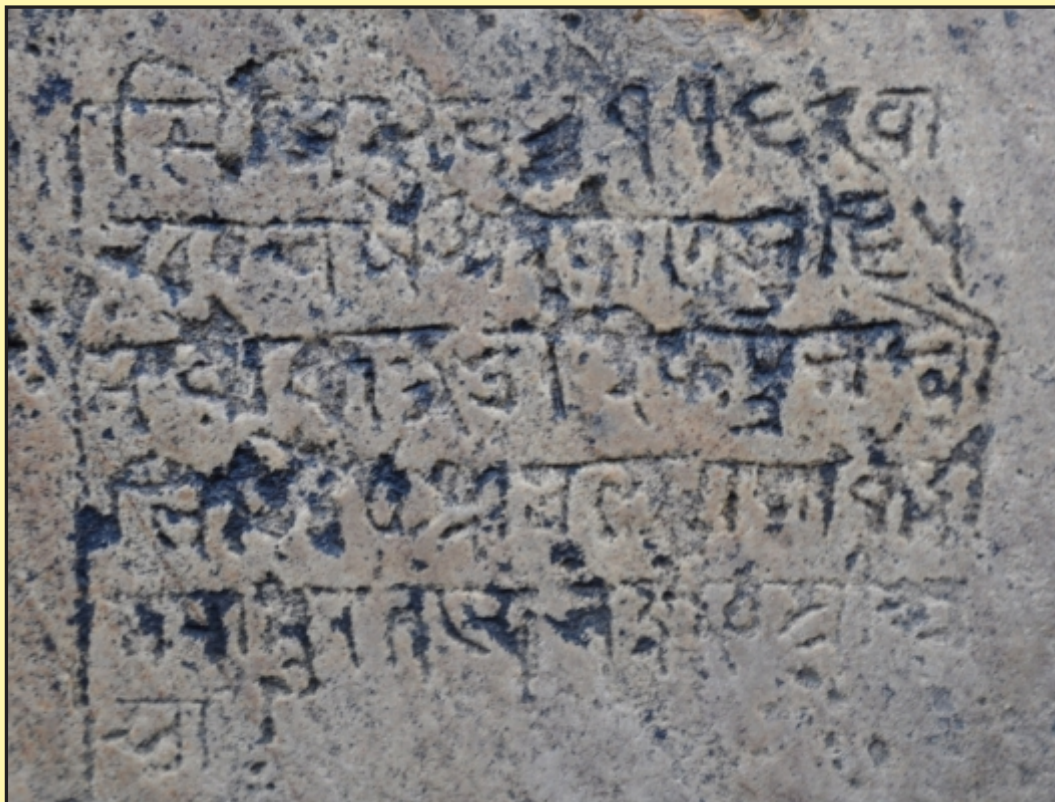
Pl.8: Inscription of Saṁvat 1380 and 1450



Pl.9: Inscription of Saṁvat 1473



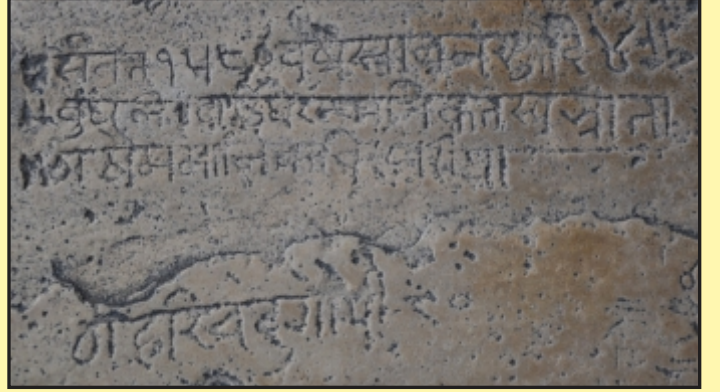
Pl.10: Inscription of Vikrama Samvat 1512 and Śaka Samvat 1377



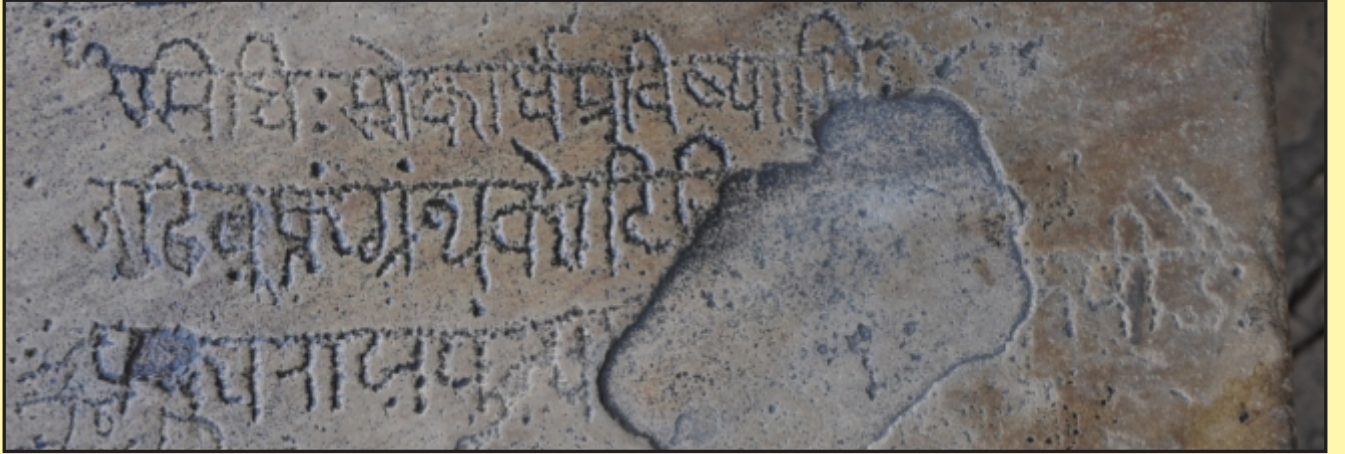
Pl.11: Inscription of Samvat 1562



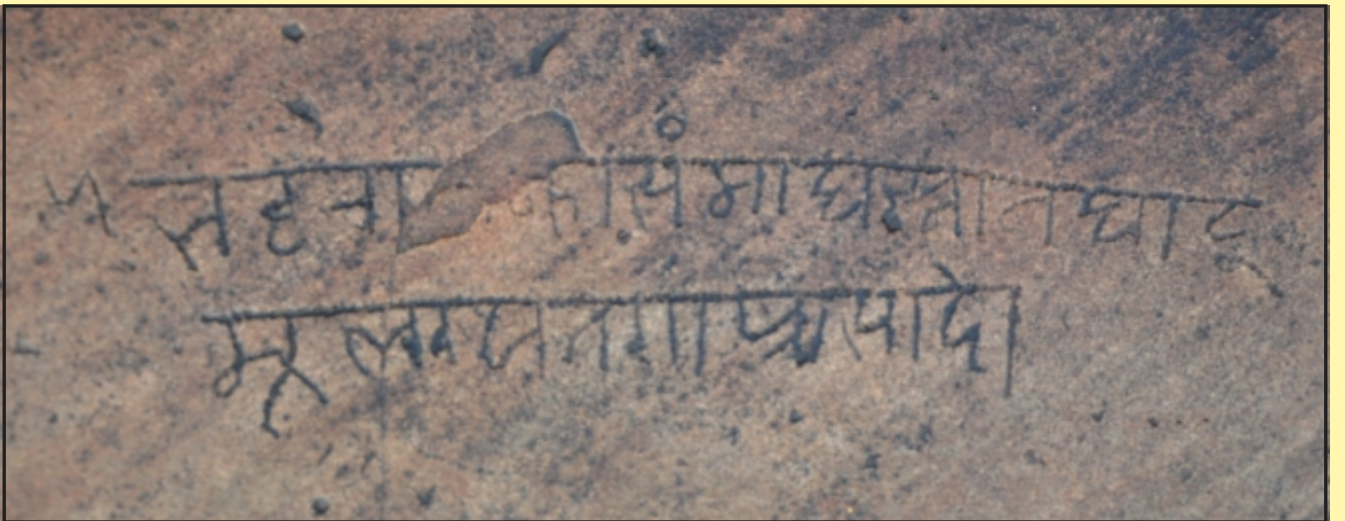
Pl.12: Inscription of Samvat 1580



Pl.13: Inscription of Samvat 1580



Pl.14: Inscription on Step of the Tank



Pl.15: Fragmentary Inscription

## चन्देलों के नवीन अभिलेख

आशीष कुमार दुबे \*

**प्र**चीन और मध्यकालीन भारतीय इतिहास की संरचना एवं पुनर्रचना में अभिलेख अतिशय महत्वपूर्ण हैं। इनसे ज्ञात तथ्य अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय एवं विवाद से परे होते हैं, क्योंकि ये पत्थर या धातु पर उत्कीर्ण होने के कारण न तो सरलता से शीघ्र नष्ट होते हैं और न इनमें फेर-बदल किया जा सकता है। ये हमारे समक्ष विषय-प्रतिपादक एवं समर्थक— दोनों रूपों में उपलब्ध होते हैं, अर्थात् हमारे समक्ष उन ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत करते हैं जो अन्य साक्ष्यों से अविदित (अज्ञात) हैं। इसके महत्व को रेखांकित करते हुए विन्सेंट स्मिथ<sup>1</sup> ने कहा है कि 'निःसन्देह भारतीय इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत उत्कीर्ण लेख हैं और उनमें अभिलेखों को प्रथम स्थान प्राप्त है। वे हमारे ज्ञान के सबसे महत्वपूर्ण और विश्वसनीय स्रोत हैं।'

दक्षिण भारतीय इतिहास पर कार्य करनेवाले टोक्यो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर नोबुरु काराशिमा<sup>2</sup> ने हाल ही में टिप्पणी करते हुए कहा है कि 'भारतीय विश्वविद्यालयों में ऐतिहासिक अध्ययन की गुणवत्ता में गिरावट आ गई है। अभिलेखों के अध्ययन के अभाव में प्राचीन इतिहास का अध्ययन इस देश में मर जायेगा। यदि ऐसा होता है तो इतिहास विचार और सिद्धान्त के आधार पर ही बनाया जायेगा जो पर्याप्त ऐतिहासिक स्रोतों पर आधारित न होगा। वह आगे कहते हैं कि 'इस देश के प्राचीन या मध्यकालीन इतिहास का अध्ययन पुरालेखों के आधार पर होना चाहिए'। पुरालेखीय दृष्टि से बुन्देलखण्ड का चन्देल राजवंश अत्यन्त समृद्ध है। बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक चन्देलों और इनके अधीनस्थ शासकों के शताधिक अभिलेख

प्रकाश में आ चुके थे, जिनका सम्पादन डॉ० एच०वी० त्रिवेदी ने *कार्पस इन्स्क्रिप्शनम इण्डिकेरम*, भाग 7, खण्ड 3 में किया है। इसके उपरान्त आठ और अभिलेख प्रकाश में आ चुके हैं।

सर्वश्री बी०आर० मणि तथा टी० रविशंकर<sup>3</sup> ने चन्देल-शासक विद्याधर (1018-1030) का 2009 में उत्तरप्रदेश के अमरोहा से प्राप्त एक ताम्रपत्र संपादित किया है, जिसका पुनर्संपादन डॉ० डी०पी० दूबे व मेरे द्वारा किया गया। इससे पूर्व इस शासक का कोई अभिलेख ज्ञात नहीं था। यह एकल ताम्रलेख है जो बीच से टूटकर दो भागों में विभक्त हो गया है। ताम्रपत्र में एक ही तरफ लेख उत्कीर्ण है जिसमें कुल 24 पंक्तियाँ हैं। ताम्रलेख की भाषा संस्कृत तथा लिपि दसवीं शताब्दी की नागरी है। वेकसिका से संवत् 1069 की श्रावण पूर्णिमा को चन्द्रग्रहण के अवसर पर ताम्रलेख जारी किया गया है। लेख में दिन का उल्लेख नहीं हुआ है। वेकसिका का समीकरण महोबा जिले में चरखारी तहसील के काशीपुर ग्राम से किया जा सकता है। अलग-अलग स्थानों से विनिर्गत बीस ब्राह्मणों को शिवभद्रपुर नामक गाँव दान देने का वर्णन है। दान दिए गए ग्राम शिवभद्रपुर की पहचान काशीपुर से 30 किमी० दूर शिवभद्र से की जा सकती है। ये दानग्रहीता ब्राह्मण अलग-अलग गोत्र, प्रवर तथा शाखाओं के हैं। इनमें वाजसनेयी शाखा के ब्राह्मणों की संख्या सर्वाधिक है।

एच०वी० त्रिवेदी<sup>4</sup> व आर०के० दीक्षित<sup>5</sup> ने विद्याधर का शासनकाल क्रमशः 1018 से 1030 ई० व 1015 से 1036 ई० के बीच स्वीकार किया है, किन्तु प्रस्तुत ताम्रलेख की तिथि श्रावण पूर्णिमा, संवत् 1069 अर्थात् 04 अगस्त, 1012 ई० ठहरती है। विद्याधर की पट्टमहिषी सत्यभामा के कुण्डेश्वर दानपत्र<sup>6</sup> की तिथि 1004 ई० है। धंग की अन्तिम ज्ञात तिथि 1002-03 ई० है। अतः ऐसे में गण्ड का शासनकाल अल्प ही रहा होगा और विद्याधर जुलाई, 1004 ई० से पूर्व

\* 4ए/2/1 म्योराबाद, इलाहाबाद-211 002 (उत्तरप्रदेश); e-mail: ashish1319@gmail.com

ही सत्तासीन हो गया था। निष्कुम्भ वंश के महाराज बलीराज, अन्य किसी स्रोत से ज्ञात नहीं हैं। राजपूतों की 36 उपजातियों में निकुम्भ एक है। *संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी* में विश्वेदेवों की माता का नाम निष्कुम्भ मिलता है जो मग थे। ऐसे में यह कहना उचित प्रतीत होता है कि क्षत्रिय कर्म करने के कारण इन मगों को राजपूतों में सम्मिलित कर लिया गया। आज भी राजस्थान के अलवर आदि जिलों में निकुम्भ राजपूतों की संख्या अधिक है जो सम्भवतः बुन्देलखण्ड से ही विनिर्गत हुए हों।

उत्तरप्रदेश के हमीरपुर जिले से चन्देल शासक सल्लक्षणवर्मा (1100-1110 ई०) का एक ताम्रलेख ए०के० सिंह और एल०एम० वहल<sup>१</sup> ने संपादित किया है। इससे पूर्व इसके शासनकाल का कोई अभिलेख ज्ञात नहीं था, परन्तु सिक्के अवश्य प्राप्त हुए थे। ये दो ताम्रलेख हैं, जो बीच से टूटने के कारण चार भागों में विभक्त हो गए हैं। पहले ताम्रपत्र में एक ओर कुल 21 पंक्तियों का लेख अंकित है जबकि दूसरे में दोनों ओर लेख का अंकन है। दूसरे में एक ओर 20 तथा दूसरी तरफ 21 पंक्तियाँ उत्कीर्ण हैं। लेख की भाषा संस्कृत तथा लिपि बारहवीं शताब्दी की नागरी है। ताम्रलेख में नीचे की तीन पंक्तियों के मध्य खाली स्थान में वृत्ताकार छिद्र बना है जिससे जान पड़ता है कि ये ताम्रलेख किसी चुले द्वारा परस्पर जुड़े थे। ताम्रलेख को लिखनेवाले तथा उत्कीर्ण करनेवाले के नामों का अभाव है और न ही चन्देलों के अन्य ताम्रपत्रों की भाँति इसकी समाप्ति हो रही है। इससे प्रतीत होता है कि इस दानपत्र के साथ और ताम्रलेख रहे होंगे। यह ताम्रपत्र मृगैल से पौष पूर्णिमा, वि०सं० 1164 (1107 ई०), सोमवार के दिन चन्द्रग्रहण के अवसर पर जारी किया गया। नवरठ तथा वातणि पत्तला में स्थित दस ग्रामों का दान 158 ब्राह्मणों को दिया गया। ये दानग्रहीता ब्राह्मण अलग-अलग गोत्र तथा शाखाओं के हैं, परन्तु इनके प्रवर और पितामह का नामोल्लेख ताम्रलेख में नहीं हुआ है। नवरठ पत्तला का उल्लेख मदनवर्मा के भारत कला भवन ताम्रलेख संवत् 1192<sup>२</sup> में भी हुआ है, जिसका समीकरण यमुना के तटवर्ती भाग से किया गया है।

गहड़वाल-नरेश गोविन्द चन्द्र (1114-1154 ई०) तथा चालुक्य-नरेश जयसिंह सिद्धराज (1094-1142 ई०) जैसे विजेताओं का समकालीन चन्देल-शासक मदनवर्मा (1128-1157 ई०) था। इसके दो ताम्रपत्राभिलेखों तथा 10 अभिलेखों का सम्पादन डॉ० त्रिवेदी ने किया है। मदनवर्मा के दो नवीन ताम्रपत्र अभिलेख हमीरपुर जिले के राठ से प्रकाश में आए हैं। इन ताम्रलेखों के प्राप्तिस्थान के विषय में कोई जानकारी नहीं है। अन्य अभिलेखों की भाँति लिपि नागरी तथा भाषा संस्कृत है। पुरालेखीय तथा शैलीगत आधार पर ये ताम्रलेख चन्देलों के अन्य ताम्रलेखों से मिलते-जुलते हैं। प्रथम ताम्रलेख विक्रम संवत् 1195 (1139 ई) तथा दूसरा विक्रम संवत् 1198 (1142 ई०)

का है। दोनों ताम्रपत्रों पर 23-23 पंक्तियाँ एक ही ओर उत्कीर्ण हैं। ये ताम्रलेख वास्तव्य वंश के धर्मलेखिन श्रीसूड द्वारा लिखे गए हैं तथा पितलहार जल्हण ने इन्हें उत्कीर्ण किया है। इन दोनों व्यक्तियों ने ही औगासी<sup>३</sup> और भारत कला भवन ताम्रपत्रों को लिखा तथा उत्कीर्ण किया था।

ताम्रपत्र की प्रथम चार पंक्तियों के मध्य चन्देलों का राजकीय चिह्न चतुर्भुजी गजलक्ष्मी अंकित है। प्रथम ताम्रलेख मदनवर्मा ने उम्बरेण्ड ग्राम में वास करते हुए चैत्र शुक्ल द्वादशी, विक्रम संवत् 1195, सोमवार के दिन शिवपूजा के पश्चात् तथा दूसरा कोटितीर्थ में स्नान करके भगवान् नीलकण्ठ योगेश्वर के पूजन-पश्चात् कालिंजर से गुरुवार के दिन कार्तिक पूर्णिमा, विक्रम संवत् 1198 में दिया। दोनों ही अवस्थाओं में दानग्रहीता ब्राह्मण पैध भट्टाग्रहार से विनिर्गत वत्स गोत्र के दामोदर शर्मा तिवाडी है। इनके पञ्चप्रवर भार्गव, च्यवन, अप्पुवान, अर्व तथा जामदग्न्य है। ये पण्डित गदाधर के पुत्र, पण्डित कूल्हण के पौत्र तथा पण्डित देहुल के प्रपौत्र हैं। द्वितीय ताम्रलेख में कूल्हण तथा देहुल के नामों के आगे 'दीक्षित' उपाधि का प्रयोग किया गया है। प्रथम ताम्रलेख में दानग्रहीता को छांदोग्य शाखा का तथा दूसरे में कौथुम शाखा का बताया गया है। पहले में पाँच हल भूमि, छः वास घर के साथ आधा बृहत् बम्हौरी ग्राम तथा दूसरे में सात हल भूमि के साथ आधा बम्हौरी ग्राम दानग्रहीता ब्राह्मण को दिया गया। यह बम्हौरी ग्राम किडायड विषय में स्थित था। बृहत् बम्हौरी एवं बम्हौरी ग्रामों का समीकरण बम्हौरी कला व बम्हौरी खुर्द से करना उचित प्रतीत होता है। बम्हौरी कला चरखारी से 10 किमी० पूर्वोत्तर और बम्हौरी खुर्द 7 किमी० पश्चिमोत्तर में स्थित है।

चन्देल-शासकों के प्राप्त अभिलेख में सर्वाधिक पन्द्रह अभिलेख परमर्दिन देव (1167-1201 ई०) के प्रकाशित हैं, जिनमें सात ताम्रलेख हैं। इन्हीं के शासनकाल का एक शिलालेख कालिंजर से प्रकाश में आया है। यह शिलालेख 20 पंक्तियों का है जो संस्कृत भाषा तथा नागरी लिपि में है। सुविकसित काव्य शैली से परिपूर्ण लेख को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग का प्रारम्भ सिद्धम् प्रतीक से होता है, तत्पश्चात् भगवान् शिव की प्रार्थना की जाती है। तीसरी से छठी पंक्ति में कीर्तिवर्मन से लेकर परमर्दिन देव तक वंशावली की व्याख्या की गई है। कीर्तिवर्मन के नाम के पूर्व 'पीयूषमयस्य वंशे' शब्द के प्रयोग से ध्वनित होता है कि चन्देल-शासक स्वयं को चन्द्रवंशी मनाते थे। यह प्रथम भाग अपनी पुष्प की बनावट के कारण द्वितीय भाग से अलग है जिसमें परमर्दिन देव के क्षत्रिय कुल के महामंत्री सलक्षण के परिवार का विवरण है। अभिलेख को लिखाने का उद्देश्य वीरसिंह की पुत्री, जो सलक्षण के पौत्र सोमराज की पत्नी थी, के द्वारा कोटितीर्थ में पञ्चायतन मन्दिर के निर्माण को कोटिबद्ध करना था।

इस काव्य-लेख को गौड़ वंश के कीर्तिपाल के पुत्र महीधर ने लिखा तथा सोधल के पुत्र महागण ने शिला पर उत्कीर्ण किया। ये दोनों ही चन्देल इतिहास के किसी अन्य स्रोत से ज्ञात नहीं हैं। अभिलेख का समापन 'मङ्गलम् महाश्रीः' शब्द तथा तिथि से होता है। लेख संवत् 1258, आश्विन शुक्ल प्रतिपदा, शुक्रवार को जारी किया गया। यह तिथि 01 अगस्त, 1201 ई० ठहरती है। कालिंजर से ही प्राप्त परमर्दिन देव का अन्तिम शिलालेख संवत् 1258 कार्तिक शुक्ल दशमी, सोमवार (08 अक्टूबर, 1201 ई०) का है। अतः वर्तमान अभिलेख पूर्व ज्ञात लेख से दो मास पूर्व उत्कीर्ण किया गया था।

मथुरा से वीरवर्मा (1250-1286 ई०) के सामन्त अजयपाल का अभिलेख प्रकाश में आया है। 19 पंक्तियों का यह लेख संस्कृत भाषा तथा नागरी लिपि में है। लेख का प्रारम्भ 'ॐ नमः शिवाय' से होता है। चन्देल-शासक वीरवर्मा को कालिंजर का अधिपति तथा अजयपाल को प्रतिहार कुल का सम्बोधित किया गया है। संवत् 1334 के भाद्रपद शुक्ल अष्टमी, रविवार को कूतल विषय में स्थित शिली ग्राम को भट्ट यशोधर शर्मा को दान दिया गया। दानग्रहीता ब्राह्मण भारद्वाज गोत्र तथा भारद्वाज, अंगिरस व बार्हस्पत्य त्रिप्रवरवाले माध्यन्दिन शाखा के हैं। ये भट्ट भूलण के पुत्र तथा भट्ट मदनपाल के पौत्र हैं। इसमें भी लेख को लिखनेवाले तथा उत्कीर्ण करनेवाले के नामों का अभाव है। उपर्युक्त चारों अभिलेख अप्रकाशित हैं तथा डॉ० डी०पी० दूबे द्वारा सम्पादन के विभिन्न चरणों में हैं।

अन्तिम चन्देल-शासक हम्मीर वर्मा (1289-1309 ई०) का मउ सहनिया<sup>11</sup> से विक्रम संवत् 1347 (1290 ई०) तथा ललितपुर<sup>12</sup> से विक्रम संवत् 1352 (1295 ई०) का ताम्रलेख प्रकाश में आया है। चन्देलों के अन्य अभिलेखों की भाँति इनकी लिपि नागरी तथा भाषा संस्कृत है। दोनों ताम्रपत्रों पर 19-19 पंक्तियाँ एक ही ओर उत्कीर्ण हैं। ताम्रपत्र की प्रथम पाँच पंक्तियों के मध्य चन्देलों का राजकीय चिह्न चतुर्भुजी गजलक्ष्मी का अंकन है तथा इसके ऊपर एक छोटा छिद्र है। मउ सहनिया के ताम्रलेख को पं० कीर्तिपाल ने लिखा है। ये ताम्रलेख गहिरवारि नामक स्थान से संवत् 1347 के ज्येष्ठ पूर्णिमा, सोमवार को जारी किया गया है। वत्स गोत्र के ब्राह्मण राउत पीथन को तालाब, कुआँ, विहार, तथा आम व महुआ के वृक्षों के साथ छिदहडा गाँव का दान दिया गया है। छिदहडा की पहचान टीकमगढ़ के ईसानगर से 12 किमी० पश्चिमोत्तर में स्थित छिदार/ छिदारी से कर सकते हैं। ब्राह्मण राउत पीथन राउत हरिपाल के पुत्र, राउत बल्लालदेव के पौत्र तथा राउत बाघदेव के प्रपौत्र हैं।

ललितपुर ताम्रलेख में उसे लिखनेवाले तथा उत्कीर्ण करनेवाले— दोनों के नामों का अभाव है। यह ताम्रलेख अषरहट से चैत्र शुक्ल त्रयोदशी, शनिवार, संवत् 1352 को जारी किया गया है।

दानग्रहीता ब्राह्मण के रूप में राजाराम का वर्णन है। इनके पिता धासीमति तथा पितामह धाधा हैं। ताम्रलेख में इनके गोत्र तथा प्रवरों का उल्लेख नहीं है। इन्हें सहदौयी विषय में स्थित पिपरहट गाँव का दान किया गया। चरखारी तथा मउ सहनिया ताम्रपत्रों की भाँति हम्मीर वर्मा को कालिंजर का अधिपति नहीं कहा गया है। इन दोनों अभिलेखों का संपादन डॉ० डी०पी० दूबे व मेरे द्वारा किया गया है।

#### सन्दर्भ :

1. स्मिथ, विन्सेंट, *अली हिस्टी ऑफ़ इण्डिया*, पृ० 16.
2. *द हिंदू*, 02 दिसम्बर, 2010, पृ० 11.
3. मणि, बी०आर० और टी०एस० रविशंकर, 'अमरोहा कॉपर प्लेट इंसक्रिप्शनस ऑफ़ विद्याधर, वि०सं० 1069', *पुरातत्त्व*, खण्ड 39, पृ० 125-130; दूबे, डी०पी०, और आशीष कुमार दूबे, 'अमरोहा कॉपर प्लेट ग्रॉन्ट ऑफ़ विद्याधरदेव', *जर्नल ऑफ़ द इपिग्राफिकल सोसायटी ऑफ़ इण्डिया*, खण्ड 38, पृ० 176-188
4. त्रिवेदी, एच०वी०, *कार्पस इंसक्रिप्शनम इण्डिकोरम*, भाग 7, खण्ड 1, पृ० 124-125.
5. दीक्षित, आर०के०, *चन्देल ऑफ़ जेजाकभुक्ति*, पृ० 73.
6. त्रिवेदी, एच०वी०, पूर्वोद्धृत, भाग 7, खण्ड 3, पृ० 651-657.
7. *संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी*
8. सिंह, ए०के० और एल०एम० वहल, 'हथोलीपुर कॉपर प्लेट इंसक्रिप्शनस ऑफ़ सल्लक्षणवर्मन', वि०सं० 1164, *प्राग्धारा*, खण्ड 13, लखनऊ, पृ० 181-192.
9. त्रिवेदी, एच०वी०, पूर्वोद्धृत, भाग 7, खण्ड 3, पृ० 399-405.
10. *वही*, पृ० 395-399.
11. दूबे, डी०पी० एवं आशीष कुमार दूबे, 'मउ सहनिया कॉपर प्लेट इंसक्रिप्शनस ऑफ़ हम्मीरवर्मदेव, वि०सं० 1347', *इतिहास दर्पण*, खण्ड 16, भाग 1, पृ० 63-65; सिंह, ए०के०, 'मउ सहनिया कॉपर प्लेट इंसक्रिप्शनस ऑफ़ हम्मीरदेव, संवत् 1347', *कोशल*, खण्ड 4, पृ० 56-59.
12. दूबे, डी०पी० एवं नीलिमा मिश्र, 'ललितपुर कॉपर प्लेट इंसक्रिप्शनस ऑफ़ हम्मीरवर्मदेव, वि०सं० 1352', *इतिहास दर्पण*, खण्ड 17, भाग 1, पृ० 70-74.



## Raktamāla Copper-plate Grant of [the Gupta] Era 180

D.P. Dubey \*

S.K. Acharya \*\*



The copper-plate, which is edited here for the first time, has been in the possession of Mr. Noman Nasir, a noted antiquarian of Dhaka in Bangladesh. So far as the available information goes, the plate comes from a village near Maahsthān in the Bogrā

district; Mr. Noman purchased it when it came to the market for sale. He mailed some good photographs of it to the first author for decipherment and publication in the middle of May 2014. We salute him for the enlightened concern to preserve and bring to light an important historical record.

This is a single sheet of copper, measuring 22.5 cm long x 11 cm broad, which is incised on both sides lengthwise. A circular seal, 5.5 cm in diameter, is soldered on the right side of the plate and is roughly oval in shape with a rim all around it. Including the seal its weight is approximately 850 g. The extremely corroded surface of the seal bears in relief seemingly a two-armed figure, possibly a goddess, standing on a full-blossomed lotus and flanked by two attendants in standing posture on either sides. Just below the pedestal there is a horizontal line and below it the badly corroded legends in raised letters are placed in two lines. It reads: 1. *si(śrī)paramabhaṭṭā[ra]ka-Vainyaguptama(t-ā)dhi* 2. *karaṇasya*. The seal

actually belonged to the *adhikaraṇa* (the office of the Board of administrators), attached to the *kumārāmātya* who is described in the inscription as favoured by the feet of the *parama-bhaṭṭāraka* (i.e., lord) meaning the contemporary Gupta monarch Vainyagupta. The seal appears resembling other seals of the *kumārāmātyas* of the Gupta period. Dikshitar (1952: 157) has drawn our attention to the figure of Lakṣmī depicted on such seals. He says, 'On them, Lakṣmī is shown standing on a lotus, with dwarfs on her either side holding a pot (*ghaṭa*) and pouring coins; elephants shown above.' There are 26 lines of writing; of these 12 lines are engraved on the obverse and 14 lines on the reverse. A slice appears to have been cut away from the bottom right corner. As a result of the damage, some letters in lines 11-12 on the obverse and in lines 13-15 on the reverse are lost. The plate bears marks of corrosion in a few places. Moreover, the inscribed text contains mistakes of omission and commission because either the person responsible for its composition had poor knowledge of the Sanskrit language or the inscriber was careless in the execution of his work. These facts make the decipherment of some letters difficult. The plate is otherwise in a fairly good condition.

The characters are of the eastern variety of the northern Gupta Brāhmī script and closely resemble those of the other epigraphs of the fifth-sixth centuries belonging to the Bogrā-Rājshāhī-Dinājpur region in Bangladesh, such as Baigrām (Basak 1931-32: 78-83), Pahāḍpur (Dikshit 1929-30: 59-64), Dāmodarpur (Basak 1919-20: 134-141), Kalaikuri (Sircar 1943: 12-26), Guṇaighar

\* Professor, Dept. of A.I.H.C. & Archæology, Allahabad University, Allahabad-211002

\*\* Professor, Dept. of History, Ravenshaw University, Cuttack, Odisha

(Bhattacharya 1930: 45-60) and Mallasārul (Majumdar 1935-36: 155-61). The inscription employs the initial vowels like *a*, *ā*, *i*, *e*, *u*. The sign for *ā* has two forms, the superior form is used in the shape of an upright stroke with a curve on the right on the upper part of the consonant such as in *raktamāl-āgrahārāt*, *kumārāmātya* (l. 1). The medial sign for *i* closely resembles with it, the only difference being that its curve is to the left, such as in *mahati* (l.1), *khaḍḍi* (l.2). Another sign for the medial *ā* is hook-like attached to the lower right part of some consonants as in *brāhmaṇo*, *pradhānādi* (l. 2), *yathā* (ll. 4, 18), etc. The subscripts *r* and *y* are indicated by long flourishes, which are prominent features of the palaeography of the eastern variety of north Indian alphabet of this period. As regards the forms of individual letters, the dental *sa* and cerebral *ṣa*, *la* and *ha*, and *ta* and *bha* are not easily distinguishable. The record contains examples of the final forms of *ta* and *ma* and the numerical signs for 2, 9, 30, 50 and 100. The word *kulyavāpa* is abbreviated as *ku* in line 20, while *dina* as *dī* in line 26.

The **language** of the inscription is Sanskrit prose excepting in the four imprecatory and benedictory stanzas in the *anuṣṭubh* metre at the end of the charter in lines 22-25. The well-known feature of the Gupta records to add a superfluous suffix *ka* to the words is also seen in this charter, as in *dattaka* (ll. 6, 10, 17), *Govardhanaka* (l. 8), *agrahārika* (l. 16), etc.

As regards **orthography**, a consonant is occasionally doubled either after or before *r*, as in *pūjyairmmama* (l.4), *dharmmeṇa* (ll. 6, 10), *svargge* (l.22), *pūrvva* (l.24), *śakkrāṣṣukkrāḥ* (l.25), etc. The word *varṣa* is written as *variṣa* in line 22 and *gupta* is written as *guupta* in lines 7 and 11. The letter *da* is unnecessarily doubled in the word *ddīnārān* (l. 5). The *visarga* is replaced by the letter *ha* in *dattaha* (l. 20) and rule of *sandhi* is violated in *sādhunā* (l. 14, 17).

The record is dated in Saṃvat 180 and supplies the day and month as 9th day of the month of Jyeṣṭha in line 26. The year is mentioned in the numerical symbols for 100, 50 and 30 in this line as well as in words (*ashīty-uttara-śata-saṃvatsare*) in line 6. This Saṃvat evidently refers to the Gupta Era current in North Bengal during CE fifth century, hence the date would correspond to May 24, CE 499-500. In line 4 the record furnishes another date

in words as *sapta-paścāśad-uttareśatasamvatsare* which stands for the [Gupta] year 157 corresponding to CE 476-77.

The object of the inscription under study is to record the restoration and transfer of the sale-deed of the purchased two *kulyavāpa* revenue-free fallow land designed for *akṣayanīvī* from the village of Govardhanaka to the locality of Khaḍḍi Raktamālikā due to the bad governance condition prevailing in the former locality. The inscription opens with the word *svasti* (hail), followed by the address of the *kumārāmātya*, who was also the leader of forces (*yūthapati*) and described as favoured by the feet of the *Parama-bhaṭṭāraka* meaning the contemporary Gupta monarch, from the headquarters of the *adhikaraṇa* (office of the Board of administration) at the *agrahāra* village of Mahati (great) Raktamāla to the brāhmaṇas, minor administrative chiefs and agriculturist householders residing at Khaḍḍi (small) Raktamālikā (ll.1-2), thus: The brāhmaṇa name Nandabhūti of the Kautsa-gotra, who had studied the four Vedas and was a follower of the Vājasaneyā *charaṇa* of the ŚuklaYajurveda (*chātūr-vidy-ādhyayana-rata-kautsa-sagotra-vājasaneyā-brāhmaṇa*) and a resident of the *agrahāra* village of Mahati Raktamāla lying under the jurisdiction of Kuddālakhāta district has informed that his revered father paid the required *dīnāras* to Suvarchasa, the *mahāmātra* of Puṇḍravardhana, in [Gupta] year 157 for purchasing two *kulyavāpa* revenue-free fallow land situated at the village of Govardhanaka for dedicating it as an *akṣayanīvī* (perpetual endowment), to be enjoyed for all time to come (*śaśvat-kāl-opabhogyam*) in favour of brāhmaṇas who hailed from the village of Puśvotika, so that they might perform their daily *paścamahāyajṣa* rites. The purpose was to gain religious merit for him. But that fell to decay by the [Gupta] year 180 due to the mal-administration (*apaśāsana*) there (ll. 3-7). This fact was already communicated to the *adhikaraṇa* by the *uparika* Brahmadatta who recommended for the transfer and creation of the land (*bhūkṣetra-parivartanam*, *bhūmi[m-i]dam kriyatām-iti*) to another locality so that the fallow land given in accordance with the *akṣayanīvī-dharma* at Govardhanaka for the brāhmaṇas of Puśvotika by the *mahāmātra* Suvarchasa of Puṇḍravardhana might not perish (*vinaśyeta*) due to the mal-administration (ll. 8-13). The inscription further records that the application of Nandabhūti

was granted and he agreed at the oral order (*āsy-ājṣā*) of the *deś-oparika* Svāmichandra to get the sale-deed of *aṣkayanivī* at the village of Govardhanaka exchanged for land grant executed on a copper-plate (*tāmrapaṭṭa-kṣetram*) in the village of Khaḍḍi Raktamālikā in the Kuddālakḥātika district. Accordingly, venerable (*pūjya*) Svāmichandra directed the concerned district officers (*viṣay-ādhikāriṇaḥ*) for the compliance of his order. Then according to this determination, two *kulyavāpa* fallow land property (*pāriṇāyya*) at Khaḍḍi Raktamālikā of the Kuddālakḥātika district was given to Nandabhūti for the religious benefit of the brāhmaṇas of Puśvotika, in accordance to the principle of perpetual endowment (*śaśvat-kālam-aṣkayanivī*), after measuring it out by 8 x 9 reeds (*nalābhyām*) by the *rabho-naivika*, assisted by the trustworthy *kulakupa*, who were deputed by the record-keeper (*pustapāla*) for the purpose of demarcating the granted land (ll. 14-22). This is followed by the four usual imprecatory and benedictory verses, described as uttered by His Holiness Vyāsa (ll. 22-25). In lines 25-26 the record states that the document was written by the Kāyastha Āryadāsa and that the plate was heated for affixing the seal by the Pustapāla Manorathadāsa.

The most striking point of historical importance that can be mentioned is that in this inscription we find the use of the title *kumārāmātya* who was also invested with the power of the leader of forces (*yūthapati*). Thus, his position was quite different from other *kumārāmātyas* mentioned in inscriptions from Bengal during the Gupta period. The words Mahati (ll. 1, 3, 16) and Khaḍḍi (ll. 2, 20), used before the names of villages Raktamāla and Raktamālikā respectively, may stand for Kalāṣ (big) and Khurda (small) prevalent in connection with the names of some villages in India from the late medieval period. Two district (*viṣaya*) revenue officers *rabho-naivika* and *kulakupa* (l. 21) of the Gupta period are mentioned in this inscription for the first time. *Rabho-naivika* (*rabhas*, impetuosity, and *naivika* from *nivī*, endowment) seems to be a revenue officer-in-charge of *aṣkayanivī* land and *kulakupa* was an officer who demarcated boundaries on four sides of land by the beam of a pair of scales. *Paścha-mahāyajṣas* (l. 9) were the five sacred duties of a brāhmaṇa householder. They are enumerated as *adhyayana*, *tarpaṇa*, *homa*, *bali* and *atithi-pūjana*, but sometimes as *bali*, *charu*,

*vaiśvadeva*, *agni-homa* and *atithi*.

The amount of *dināras* (Gupta gold coins) paid by the father of Nandabhūti to the *mahāmātra* of Puṇḍravardhana for the purchase of two *kulyavāpa* fallow State land for making *aṣkayanivī* is not specified in this inscription. As the rate was two *dināras* per *kulyavāpa* fallow land for religious purposes in Puṇḍravardhana region (Sircar 1943: 16), it may safely be presumed that his father also deposited four *dināras* for the two *kulyavāpa* fallow land in the office of the *Mahāmātra* Suvarchasa of Puṇḍravardhana. The general procedure followed in ancient Bengal for purchasing State fallow land by private persons as laid down in this grant is identical with that given in the Dāmodarpur Grants or in the Pahārpūḍ Copper-Plate Inscription of the Gupta period.

King Vainyagupta, who succeeded the Gupta king Budhagupta [CE 476-77 to CE 499-500], was known from his Nālandā seal and his Guṇaighar (Comilla district, Bangladesh) Copper-plate Grant of Gupta Era 188 [=CE 506-07]. Two more copper-plates of the king have also come to light; one, unpublished and too corroded to be read, in the Mainamati Site Museum (Morrison 1974: 98) and another of GE 184 edited by Ryosuke Furui (2014) to be published soon. That Budhagupta ascended the throne in GE 157 is undisputed, but his last date has been speculative because the date read as 180 on one of his coins is doubtful (Thaplyal 2012: 286). This inscription under publication shows that Budhagupta was dead well before Jyeṣṭha month in GE 180.

This is the only inscription or source referring to maladministration (*apaśāsana*) in the time of a Gupta king in the empire, particularly in North Bengal (modern Bangladesh) in GE 157. What were the causes responsible for such a sorry state of affair in the administration there? The answer to it is not easy to find. The Allahabad Pillar Inscription of Samudragupta records the submission of the states of Samatāṭa (Comilla, Noākhāli and Chittagāon districts) and Ḍavāka (Kachhār district including the north Kachhār hills and the Kopili valley) and others to king Samudragupta (Sircar 1965: 265, line 22). Both Samatāṭa and Ḍavāka were in Bengal. From the Meharauli Iron Pillar Inscription it appears that the different parts of Bengal were ruled by many independent kings who took up arms against the

Gupta king (Sircar 1965: 283, line 1). They were duly defeated by king Chandragupta II. The Dhānāidaha Copper-plate (Basak 1923-24: 345-49), the two Dāmodarpur Copper-plates of Kumāragupta I and the Baigrām Copper-plate of GE 128/ CE 448-49 signify that king Kumāragupta I had very strong hold over his Bengal provinces. The Puṇḍravardhana *bhukti* was the unit of his administration. No inscription has been found from Bengal during the reign of king Skandagupta; but inscriptions of his successors— Budhagupta and Vainyagupta have been found from Bengal. As he was 'one of the great Gupta rulers by all standards of judgment', his hold over Bengal would have remained intact. It appears that the Gupta rule in Bengal would have become slack during the reign of weak kings Purugupta and Kamāragupta II who ruled between GE 148/CE 467-68, the last known date of king Skandagupta and GE 157/ CE 476-77, the first known date of king Budhagupta. Taking advantage of the weakness of the central authority the provincial officers in Bengal would have become lax in the discharge of their administrative duties. King Budhagupta would have taken some time to make the administration in Bengal responsible.

The governor of the Puṇḍravardhana *bhukti* during the reign of king Kumāragupta I was designated *uparika* and in the time of Budhagupta as *uparikamahārāja*. The Guṇaighar Plate of king Vainyagupta, dated GE 188, informs the existence of *pātyuparika* (President of a Board] and *purapāloparika* (President of City governors]. This inscription reveals that in GE 157 (=CE 476-77) Suvarchasa was the governor entitled *mahāmātra* of Puṇḍravardhana, but in GE 180 Svāmichandra was *deś-oparika* and in between Brahmadatta figures as *uparika* of that province (*deśa*). The high provincial officer named *mahāmātra* was not heard of after the Maurya rule in Indian history. For the first time in the Gupta history his existence is now known again, otherwise he is unknown in the Gupta history. The two Dāmodarpur Plates of king Budhagupta's reign, one dated GE 163 (=CE 482), the date portion in the other being lost, refer to his governors of Puṇḍravardhana, *uparika-mahārājas*, Brahmadatta and Jayadatta, respectively, who are supposed to have governed that province one after the other (Thaplyal 2012: 289, 341). But the combined testimony of the Dāmodarpur Inscription of GE 163 and the present inscription reveals that Brahmadatta was *uparika* of Puṇḍravardhana

province after Jayadatta who would have occupied that post between GE 160 and GE 162, for the Dāmodarpur Grant of Budhagupta of GE 159 referring to *āyuktaka* (governor of a district, *viṣaya*) in that province does not name him.

In the seal inscription king Vainyagupta is referred as *parama-bhaṭṭāraka*, a title used for *mahārājādhirāja* in the Gupta period. In the Guṇaighar plate of GE 188, the seal attached to the Mainamati Plate and Furui's Plate of GE 184, he is mentioned as *mahārāja*, but in the Nālandā Seal (Bhandarkar 1981: 319, pl. XXXIII) he is given the title of *mahārājādhirāja*. Some historians consider *mahārājādhirāja* Vainyagupta of the Nālandā Seal and the homonym of the Guṇaighar Plate mentioned as *mahārāja*, as two different persons. But many historians think that Vainyagupta of the Guṇaighar Grant and the Nālandā Seal are identical (Thaplyal 2012: 294-95). The evidence from the present inscription may put this controversy at rest.

So far as the place names mentioned in the grant, Puṇḍravarddhana is well-known as a bigger territorial unit comprising of Bogrā-Rājshāhī-Dīnājpur region of north Bengal and its headquarters of the same name has been identified with the extensive ruins known as Mahāsthān, 12.8 km north of the town of Bogrā in Bangladesh. It was frequently mentioned as a *bhukti* in the Gupta epigraphs. It was divided into a number of smaller territorial divisions and R.C. Majumdar listed as many as twenty-four of them in the inscriptions of the Pālas of Bengal (1971: 319-20). Kuddāla-khāta/-khātika, a district in the Puṇḍravarddhana *bhukti*, may be identified with Kunda-khali in the district of South Twenty-four Parganā. The reference to this territorial division in the present record is significant in the sense that this is the earliest inscription to mention it. Of the other place names, Govardhanaka may be identified with Godabar close to Kunda-khali in the district of South Twenty-four Parganā, while the rest of the places like Raktamāla, Raktamālikā and Puśvotika are not traceable. The identification of these villages is now impossible, because of the large scale Islamization of place-names during medieval period in what is now known as Bangladesh.

Text\*

Obverse

1. स्वस्ति[II] महतिरक्तमालाग्रहारात्परमभट्टारकपादानुध्यातः

- कुमारामात्ययूथपतिरधिकरणञ्च  
2. खड्गिरक्तमालिकायां  
ब्राह्मणोत्तरान्सक्षुद्रप्रधानादिकुटुम्बिनो बोधयन्ति  
कुदालखाताधिवासात्यन्तर  
3. महतिरक्तमालाग्रहार(रे)  
चातुर्विद्याध्ययनरतकौत्ससगोत्रवाजसनेयब्राह्मणनन्द  
भूतिः] विज्ञापयति य-  
4. त्पूज्यैर्ममतात(तैः) सप्तपञ्चाशदुत्तरे शतसम्बत्सरे  
गोवर्धनकग्रामे यथानि]वृत्तविक्रयक्रमेण पुण्ड्र-  
5. वर्धने यः] महामात्रसुवर्चस(से) दत्तो(त्त)  
द्वि(दी)नारानुपस(सं)गृह्य  
समुदयबाह्याप्रतिकरखिलक्षेत्रकुल्यवा-  
6. पद्वयमक्षयनीवीधर्मेण शश्वत्कालोपभोग्य(ग्यं) दत्तक(कं)  
तदधुनैकान्तमस्यु(शीत्यु)त्तरशतसम्बत्सरे पर-  
7. मदेवैपुश्वोतिकवास्तव्यब्राह्मणांश्च पुण्याभिवृद्धये  
गोवर्धनकग्रामो गुड(गु)प्तापशासनेनाति(नि)ष्टं  
8. तस्य यः] पूज्योपरिकब्रह्मदत्त अधिकरण(णं) विज्ञापितः  
मम गोवर्धनकग्रामे पुण्ड्रवर्धनेयम-  
9. हामात्रसुवर्चसदत्तेन पञ्चमहायज्ञप्रवर्तनाय  
मातापित्रोरनुग्रहेण समुदयबाह्याप्रति-  
10. करखिलक्षेत्रकुल्यवापद्वयमक्षयनीवीधर्मेण दत्तक(कं)  
सर्व्व(र्व्वं) गोवर्धनकग्राम(मे) परमदेवैश्च  
11. पुण्याभिवृद्धये पुश्वोतिकवास्तव्यब्राह्मणानां  
गुड(गु)प्तापशासनेनातिसष्टुतन्म-  
12. क्षेत्र--- सविनस्ये(श्ये)त तथा भूमि[मि]दं क्रियतामिति यतः  
एवं विज्ञापय[य]तो----

## Reverse

13. आदेशोदकमत्र युक्तमिति तदधिक भवान् जापित(तं) एवं  
भूक्षेत्रपरिवर्तन(नं) नान्य(न्यं) ग्रामोदायकमत यत---  
14. देशोपरिकस्वामिचन्द्र(ः)र्यादेशो दत्तः तव मध्यम----  
कानाञ्चनै प्रति प्रतिपादित(तं) प्रतिवर्ष प्रत्याय साधुनाय स-  
15. कौत्ससगोत्रवाजसनेयब्राह्मणनन्दभूतिस्येतत्तामपट्ट(ट्टं)  
परिवर्तनान्यत्र ग्रामे विषयाधिकारिणः]--- क्षेत्र[त्रं]  
दापयिष्य[ष्यथ]---यतः  
16. एतदादेशादस्माकं पूज्यस्वामिचन्द्रस्यादेशो दत्तः मम  
परमदैवतोपरिकपादास्याज्ञा दत्ता  
महतिरक्तमालाग्रहारिकब्राह्मणनन्दभूतिः]  
17. विज्ञापयति साधुना  
गोवर्धनकग्रामेयसमुदयबाह्याप्रतिकरखिलक्षेत्र(त्रं) क्रीत्वा  
यन्मम दत्तकं तदधुना परमदेवो आदेशः] दत्तो

18. एषां पुश्वोतिकायब्राह्मणान्गोवर्धनकग्रामे मया निः]शुल्कं  
तत्परिवर्तन(नं) यथान्यत्र ताम्रपट्टक्षेत्रं भवेत्तथा प्रसादः  
क्रियतामिति  
19. यतः एवं विज्ञापितो पु-पुरस्यत्र ग्रामे दापयिष्य(ष्य)सीति यतः  
एवदा(मा)देशादस्मा[द] गोवर्धनकग्रामेय  
अक्षयनीवीपरिवर्तन(नं)  
20. खड्गिरक्तमालिकायां समुदयबाह्याप्रतिकरखिलक्षेत्रस्य  
कुल्यवापद्वयं दत्तह(दत्तं) कु 2 ते यूयमिति  
पलध्यातेन(पुस्तपालेन?) प्रेषितः] केनास्म-  
21. त्सविश्वसेनाधिकेन विषयकुलकुपुमिति(-कुपेन) सहः (सह)  
रभोनैविकः] कुदालखातिकरत्न्याष्टकनवकनलाभ्यां  
अपविञ्छय पारिनेयस्य (पारिणाय्यं?) च दा-  
22. स्यथ दत्त्वा च शश्वत्कालमक्षयनीवीधर्मेण  
भूपालायिस्मसोति(भूपालेशासति)[॥] उक्तञ्चभगवताव्यासेन  
[॥] षष्टिवरिष(वर्ष)सहस्राणि स्वर्गं वसति भू-  
23. मिदः [॥] आक्षेप्ता चानुमान्ता च तान्येव नरके वसेत्[॥]  
स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम्[॥] सविष्ठायां  
कृमिर्भूत्वा पितृभिः] सह पच्य-  
24. ते [॥] पूर्वदत्तां द्विजातिभ्यो यन्नाद्रक्ष युधिष्ठिर।महीं  
महि(ही)मतां श्रेष्ठदानाच्छ्रेयोनुपालनम्॥ यमो बुधाः]-सुव-  
[शनिश्चैव] शक्रः शुक्रः]  
25. वृहस्पतिः[॥] चन्द्रादित्यग्रहान्स(हास)र्व्व अभिनन्दन्ति  
भूमिदम्॥ लिखितं कायस्थ(स्थेन) आर्यदासेन [॥] तापितं  
पुस्तपालमनि(नो)रथदासे-  
26. न [॥] सम्वा[त्] 100 50 30 ज्येष्ठदि 9 [॥]

\* This inscription is edited from the photographs and the underlined readings in the text are doubtful.

## Bibliography:

- Basak, R.G. 1919-20. "Five Dāmodarpur Copper-plate Inscriptions of the Gupta Period", *Epigraphia Indica*, XV, 113-45.  
Basak, R.G. 1923-24. "Dhānāidaha Copper-plate Inscription of the time of Kumāragupta I; the Year 113", *Epigraphia Indica*, XVII, 345-49.  
Basak, R.G. 1931-32. "Baigrām Copper-plate Inscription of the [Gupta] Year 128", *Epigraphia Indica*, XXI, 78-83.  
Bhandarkar, D.R. 1981. *Corpus Indcriptionum Indicarum*, III, edited by B. Ch. Chhabra & G.S. Gai, Archaeological Survey of India, New Delhi.  
Bhattacharya, D.C. 1930. "Guṇaighar Copper-plate Inscription of Vainyagupta", *Indian Historical Quarterly*, VI, 45-60.  
Dikshit, K.N. 1929-30. "Pahāḍapura Copper-plate Grant of the [Gupta] Year 159", *Epigraphia Indica*, XX, 59-64.  
Dikshitar, V. R. R. 1952. *Gupta Polity*, Madras: University of Madras, Reprint, Delhi: Motilal Banarsidass, 1993.

- Furui, R. 2014. Personal communication through e-mail in the last week of August.
- Majumdar, N.G. 1935-36. "Mallasārul Copper-plate of Vijayasena", *Epigraphia Indica*, XXIII, 155-61.
- Majumdar, N.G. 2003. *Inscriptions of Bengal*, New Edition, Kolkata: Sanskrit Pustak Bhandar.
- Majumdar, R.C. 1971. *The History of Ancient Bengal*, Calcutta: G. Bharadwaj & Company.
- Morrison, B.M. 1974. *Lālmāi, A Cultural Centre of Early*

- Bengal: An archaeological Report and Historical Analysis*, Seattle & London: University of Washington Press.
- Sircar, D.C. 1943. "Kalaikuri Copper-plate Inscription of the Gupta Year 120", *Indian Historical Quarterly*, XIX, 12-26.
- Sircar, D.C. 1965. *Select Inscriptions*, Vol. 1, Calcutta: University of Calcutta, Second Revised Edition.
- Thaplyal, K.K. 2012. *The Imperial Guptas : A Political History*, New Delhi: Aryan Books International.

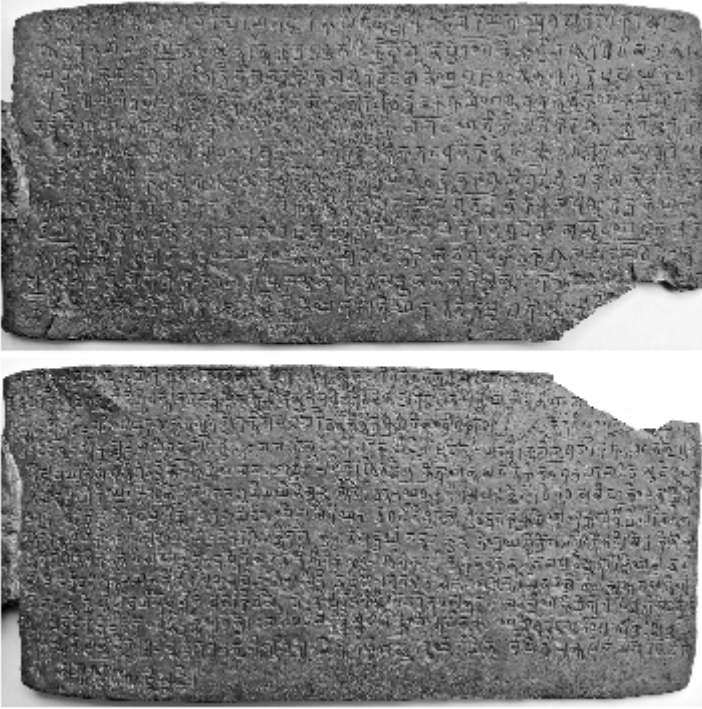


Fig. 1: Raktamāla plate of the [Gupta] year 180.



Fig. 2: Seal of the Raktamāla plate of the [Gupta] year 180.



## जयचन्द्र का अयोध्या ताम्रपत्राभिलेख : संवत् 1243

ठाकुर प्रसाद वर्मा \*

आमुख :

जिस समय हम तथा प्रो० अरविन्द कुमार सिंह गाहड़वालों पर पुस्तक लिख रहे थे, उस समय हमलोगों को अयोध्या (फैजाबाद) से मिले जयचन्द्र के इस ताम्रपत्राभिलेख की प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी थी जिसके कारण इसको अपने संग्रह में सम्मिलित नहीं कर सके थे। संयोग से कुछ समय पहले अयोध्या के सेवानिवृत्त रजिस्ट्रीकरण अधिकारी डॉ० ए०पी० गौड़ जी ने हमें सूचित किया कि उनको कीलहर्न द्वारा 1886 में संपादित यह पूरा लेख *इण्डियन एंटीक्वेरी* के भाग 15 में मिल गया है। यह प्रति उन्हें पुरातत्त्व सर्वेक्षण के कार्यालय में मिली। उन्होंने इसकी छायाप्रति हमें उपलब्ध करायी तथा इसके हिंदी में अनुवाद करने का अनुरोध किया। मैंने इंटरनेट पर खोज की तो इस जर्नल के सभी अंक डिजिटल रूप में मिल गये जो सर्वे द्वारा कराए गए थे। इन छायाचित्रों से ऐसा लगता है कि इसके पृष्ठ बहुत बुरी दशा में हैं और छायाप्रति भी अत्यन्त असंतोषजनक ढंग से की गई है जिसको पढ़ सकना दुष्कर है। उस समय के नागरी टाइप भी कुछ दूसरे प्रकार के होते थे जिनका अभ्यास आजकल नहीं होता। फिर भी इनको वर्तमान में सुलभ टाइप में रूपांतरित करके यहाँ हिंदी-अनुवाद के साथ प्रकाशित किया जा रहा है जिससे विश्वविद्यालयों में हिंदी-माध्यम से पढ़नेवाले विद्यार्थी भी इसका लाभ उठा सकें।

इस अवसर का लाभ उठाकर मैं प्राचीन भारत के

भूमिदान-संबंधी कुछ समस्याओं पर प्रकाश डालना चाहता हूँ जो अबतक बहुत स्पष्ट नहीं है, जिसका उपयोग अध्यापक तथा विद्यार्थी समान रूप से कर सकते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक लगता है कि इस ताम्रपत्र का प्राप्ति-स्थल अयोध्या है, लेकिन इसका वहाँ से कुछ भी लेना-देना नहीं है। इस दान का प्राप्तकर्ता कमौली गाँव का निवासी था जो गंगा-वरुणा के संगम पर अभी भी स्थित है जहाँ से गाहड़वाल-राजाओं के पच्चीस ताम्रपत्र एकसाथ मिले थे।

गाहड़वाल-ताम्रपत्रों की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि राजाओं की प्रशस्ति में प्रायः कोई परिवर्तन देखने को नहीं मिलता जैसा कि अन्य समकालीन राजवंशों के अभिलेखों में प्रायः दिखाई पड़ता है। एक राजा के समय में कुछ प्रशस्त्यात्मक श्लोक लिखे गए हैं और वे ही अगले राजा के दानपत्र में दुहराये चले जाते हैं। प्रत्येक नये राजा के लिए प्रशस्ति रूप में दो या तीन श्लोक जुड़ जाते हैं। इस प्रकार जयचन्द्र तथा उनके पुत्र हरिश्चन्द्र के दानपत्रों में अधिकतम प्रशस्त्यात्मक श्लोक मिलते हैं।

दूसरी विशेषता यह है कि अधिकांश गाहड़वाल-अभिलेख समूहों में मिलते हैं। सबसे बड़ा समूह पच्चीस ताम्रपत्रों का है जो अक्टूबर, 1892 में काशी के वरुणा-गंगा संगम के समीप बसे कमौली गाँव से मिला है जिनमें से चौबीस गाहड़वाल-राजाओं के राजपुरोहित वंश से सम्बद्ध थे। एक ताम्रपत्र कामरूप के राजा वैद्यदेव का था। ऐसा लगता है कि कामरूप से यह ब्राह्मण, शायद सपरिवार, अपने इस अमूल्य धन (ताम्रपत्र) के साथ काशी यात्रा पर आया था कि इसी बीच 1193 ई० में चन्दावर के युद्ध में जयचन्द्र की पराजय के बाद मुस्लिम सेना ने काशी पर आक्रमण कर दिया और सभी लोग मारे गये। इसकी सम्भावना है कि गाहड़वाल-राजाओं का पुरोहित-परिवार दुर्ग के समीप कमौली गाँव में ही रहता था जिनके मकान के किसी कोने में ये ताम्रपत्र

\* पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय; सेवानिवृत्त उपाचार्य, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी; निवास : 397-ए, गंगा प्रदूषण नियन्त्रण मार्ग, भगवानपुर, वाराणसी-221 005 (उ०प्र०); ई-मेल : tpverma2003@yahoo.co.in, thakurverma@gmail.com

भूमि में गाड़कर रखे गये थे।

इस राजवंश के संस्थापक चन्द्रदेव थे जिनका मूलस्थान चन्द्रावती में था जो बनारस-गाज़ीपुर मार्ग पर काशी से लगभग बीस किलोमीटर पूरब कैथी के समीप गंगा के किनारे स्थित था। वहाँ से चन्द्रदेव के कुल सात ताम्रपत्र मिले थे जो एक पत्थर की पेटिका में रखे गए थे और गंगा की कटान में दुर्ग की दीवार गिरने से दिखाई पड़ने लगे और बचा लिए गये। चन्द्रावती गाँव चन्द्रदेव द्वारा ही बसाया गया लगता है और उसका क़िला भी उसी ने बनवाया होगा। एक अभिलेख से यह भी ज्ञात होता है कि उन्होंने वहाँ पर 'चन्द्रमाधव' नामक मन्दिर भी बनवाया था। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि वरुणा-गंगा संगम पर उन्होंने किला भी बनवाया था और शायद तभी से वहाँ का गंगातट राजघाट के नाम से जाना जाने लगा।

गाहड़वाल-अभिलेखों के समूह में मिलने की इस विशेषता के कारण एक और लाभ हमें मिला है और वह यह है कि काशी की पाण्डित्य परम्परा के दो महान् विद्वानों के बारे में सूचना मिल जाती है। पहला नाम भद्रेनी मुहल्ले में रहनेवाले पं० दामोदर शर्मा के विषय में यह कहा जा सकता है कि भद्रेनी में उनका मकान वहीं पर था जहाँ इस समय जलकल की इमारत खड़ी है। अस्सी के जलकल की नींव खोदते समय पाँच ताम्रपत्र मिले जिनमें चार पं० दामोदर शर्मा को दिए गए दान से संबंधित हैं। पं० दामोदर शर्मा 'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण' नामक ग्रन्थ के लेखक हैं जो गाहड़वालकालीन काशिका भाषा का एकमात्र ग्रन्थ है। इससे उस काल में प्रचलित काशी की शिक्षा-व्यवस्था तथा विद्यार्थियों की स्थिति पर भी बहुत प्रकाश पड़ता है।

इसी श्रेणी में 'कृत्यकल्पतरु' के यशस्वी लेखक पं० लक्ष्मीधर के वंश के सात ताम्रपत्र भी आते हैं जिनके काशी में निवास-स्थल के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस फर्म ने उन्हें लखनऊ संग्रहालय को बेचा, वे उनकी प्राप्तिस्थल के बारे में कोई जानकारी नहीं दे सके थे। लेकिन इन दानपत्रों से हमें पं० लक्ष्मीधर के पिता पं० हृदयधर तथा उनके पाँच पूर्ववर्ती लोगों के नाम मिलते हैं जिन्होंने गाहड़वाल-राजाओं की पाँच पीढ़ियों तक महामंत्री के रूप में सेवा की थी।

इन गाहड़वाल-अभिलेखों में कुछ ऐसे गूढ़ वाक्यांश आये हैं जिनकी व्याख्या आवश्यक है क्योंकि इनको ठीक से न समझ सकने के कारण इतिहासलेखकों में भ्रान्तियाँ हैं।

**उत्तरकोसलेन्द्रस्थानीयक :** गाहड़वाल-अभिलेखों में चन्द्रदेव के लिए एक श्लोक मिलता है जिसको इतिहासकार समझ नहीं सके और यह निष्कर्ष निकाला कि गाहड़वालों का साम्राज्य इन्द्रप्रस्थ अथवा दिल्ली तक फैला हुआ था जिसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

वास्तविकता यह है कि किसी भी गाहड़वाल-अभिलेख में यमुना के पश्चिम के क्षेत्र का उल्लेख नहीं मिलता। इस अभिलेख के पाँचवें श्लोक में आता है कि :

**तीर्थानि काशिकुशिकोत्तरकोसलेन्द्रस्थानीयकानिपरिपालता भिगम्य ।**

**हेमात्मतुल्यमनिशं ददता द्विजेभ्यो येनाङ्कितता वसुमती शतशस्तुलाभिः ॥ 5 ॥**

दशरथ शर्मा लिखते हैं कि 'चन्द्रदेव को कम-से-कम दो बार कान्यकुब्ज या कुशिक का विजेता कहा गया है। इन्द्रस्थानीयक की पहचान प्रायः दिल्ली से की जाती है यद्यपि प्रथम गाहड़वाल राजा का राज्य इस क्षेत्र तक भी फैला हुआ दिखाई पड़ता है, लेकिन सम्भवतः उसने किसी युद्ध के कारण इसे अपने राज्य का भाग नहीं बनाया होगा। 1328 ई० का दिल्ली संग्रहालय अभिलेख यह बताता है कि दिल्ली (दिल्ली) क्रमशः तोमरों (1664 ई० तक) तथा उसके बाद चौहानों (1192 ई० तक) द्वारा शासित की गई, उसके बाद म्लेच्छ सहाबदीन के पास चली गयी। इस कथन का तात्पर्य यह है कि इस क्षेत्र पर चन्द्रदेव की सत्ता (लगभग 1089 से 1100 ई०) अप्रत्यक्ष ही रही है।<sup>1</sup> इस प्रकार वे दिल्ली पर गाहड़वालों में केवल चन्द्रदेव का अप्रत्यक्ष राज्य स्वीकार करते हैं। एकसा ही मत प्रायः सभी इतिहासकारों का है। लेकिन इसके पीछे का कारण यह है कि इस समासयुक्त वाक्यांश को ठीक से नहीं समझा गया। हमने इस पूरे वाक्यांश (उत्तरकोसलेन्द्र-स्थानीयक) को एक ही स्थान का सूचक माना है जिसका अर्थ होता है 'उत्तर कोसल के राजा (कोसलेन्द्र = कोसलेश रामचन्द्र) का स्थान या राजधानी अर्थात् 'अयोध्या'। इसमें इन्द्र का कोई स्थान नहीं है। इसकी व्याख्या में यह ध्यान नहीं रखा गया कि दिल्ली के लिए 'इन्द्रप्रस्थ' शब्द का प्रयोग होता है, न कि 'इन्द्रस्थान' का। अतः इसको इन्द्रप्रस्थ मान लेना किसी प्रकार उचित नहीं है। कहना नहीं होगा कि काशी, कान्यकुब्ज तथा अयोध्या— ये तीनों ही तीर्थस्थान हैं। अयोध्या में तो चन्द्रदेव ने रामजन्म के दिन बड़ा यज्ञ करके चन्द्रावती क्षेत्र के पाँच सौ ब्राह्मणों को दान दिया, जिन सभी के नाम विक्रम संवत् 1159 के चन्द्रावती (चन्दौली) ताम्रपत्राभिलेख में दिए गए हैं। वाराणसी-गाज़ीपुर मार्ग पर कैथी के समीप चन्द्रावती शायद गाहड़वालों का पैतृक निवास था जहाँ से चन्द्रदेव के चार ताम्रपत्राभिलेखों में से तीन की प्राप्ति हुई थी। इनमें कुल मिलाकर सात पत्र थे; प्रथम अभिलेख में एक, द्वितीय में पाँच तथा चतुर्थ में एक पत्र थे। तीसरे नम्बर का बंगाल एशियाटिक सोसायटी के ताम्रपत्र का प्राप्तिस्थल अज्ञात है और हो सकता है कि वह भी चन्द्रावती या कहीं समीप से ही मिला हो।<sup>1</sup>

**भूमिदान :**

प्रायः यह समझा जाता है कि राजा जब किसी ब्राह्मण या देवता या

मन्दिर को किसी गाँव का भूमिदान करता है तो वह उस सारे गाँव का मालिक बन जाता है। लेकिन वास्तव में राजा उस ब्राह्मण या देवता या मन्दिर को केवल अपने उन देयों या पावनों को हस्तान्तरित करता था जिनको वह स्मृतियों या धर्मशास्त्रों के अनुसार प्राप्त करने का अधिकारी होता था, प्रशासन के अपने अधिकार को नहीं। इसके लिए भारतीय राजतंत्र के मूल ढाँचे को समझने की आवश्यकता है।

भारतीय राज्यशास्त्र में राजा अपनी प्रजा का स्वामी नहीं, वरन् सेवक होता था।<sup>1</sup> वह प्रजा की रक्षा करता था जिसके बदले में उसे जनता से वेतन प्राप्त होता था। यह व्यवस्था वैदिक काल से चलती आ रही है; यद्यपि रक्षा तथा प्रजा के संरक्षण की व्यवस्था करने के साथ उसे वेतन के साथ सत्ता और कुछ अधिकार भी मिले थे जिनके कारण बाद के कालों में राजतन्त्र ने कुछ अधिक अधिकार हथिया लिये थे, लेकिन वह कभी भी निरंकुश नहीं हुआ था। धर्मशास्त्रों ने अनेक ऐसे नियम और नियामक बन्धन बनाये रखा जिनके कारण राजधर्म पर अंकुश बना रहा। यू०एन० घोषाल *शुक्रनीतिसार* (1.188) का सन्दर्भ देते हुए पूर्व-मध्यकालीन राजनीतिशास्त्र पर लिखते हैं कि 'पुरानी स्मृतियों में राजा के दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का चरमोत्कर्ष संरक्षण तथा करदान-पद्धति बीच के समन्वयन में देखने को मिलता है। हम देखते हैं कि ब्रह्मा ने राजा के स्वामी रूप के साथ दास्यत्व की भी व्यवस्था की है जिसमें यह कहा गया है कि वह जनता से उत्पादन का भाग उसके सतत संरक्षण के बदले भृत्ति या वेतन के रूप में पाता है।'<sup>2</sup>

यहाँ यह आवश्यक है कि हम राजा को मिलनेवाले करों तथा अन्य सुविधाओं को प्रजा के संरक्षण के बदले मिलनेवाली भृत्ति के रूप में देखें तो सारी व्यवस्था समझने में अधिक सुविधा होगी। इसके लिए जिन करों के राजा को मिलने की बात प्रायः सभी अभिलेखों में देखने को मिलती है, वे हैं भाग, भोग, कर और हिरण्य। ये समाज के सभी वर्गों को अपने अन्दर समेट लेते थे। 'भाग' वह कर (हिस्सा) होता था जो प्रजा अपनी धरती पर अपने मेहनत द्वारा पैदा करती थी। अक्सर यह उपज का छठा भाग होता था, लेकिन धरती की गुणवत्ता तथा फसल की किस्म पर यह बदलता भी रहता था। भाग वह देय है जो प्रजा अन्य उपायों से अपने स्वयं के भोग या उपभोग के लिये प्रयोग में लाती थी। अर्थात् दूध, दही, मधु आदि अन्य पदार्थ। ये पदार्थ पशुपालन द्वारा अथवा वन आदि के उत्पाद हो सकते थे।

कल्पना कीजिए कि प्रारम्भिक या वैदिक काल में जब जनसंख्या कम होती थी और प्रायः राज्य भी तदनुसार छोटे होते थे तब प्रजा या विश की रक्षा के बदले में राजा को अपने सैनिकों या यह कहें कि गाँव के चौकीदार व प्रहरियों तथा सामानों की वसूली के लिए नियुक्त अन्य कर्मचारियों के भरण-पोषण के लिए इन दायों की आवश्यकता होती थी। राजा के भोग के नाम पर कर्मचारियों का सारा

काम इसी से चल जाता था; बल्कि कुछ बच भी जाता था जो स्थानीय भाण्डागारों में जमा होता था तथा विभिन्न स्तरों के केन्द्रीय भाण्डागारों को नियमित रूप से भेजा जाता था। यह एक शाश्वत व्यवस्था थी जो कुछ नियमों का पालन करती थी और स्वतःस्फूर्त भी थी। राजा या राजवंश बदल जाते थे लेकिन यह व्यवस्था चलती रहती थी। यही नहीं जब कोई राजा कई छोटे-छोटे राज्यों को जीतकर बड़ा राज्य कायम कर लेता था, तब ऐसे में भाग और भोग तथा कर आदि में वह अपना हिस्सा स्थानीय छोटे राजा से वसूल करता था अथवा अपने कर्मचारियों के माध्यम से सीधे प्रजा से वसूल करवाता था। इसके नियम क्या थे, यह तो विस्तार के साथ मालूम नहीं है, लेकिन इस बात को मानने के प्रबल कारण हैं कि प्रजा द्वारा दिये जानेवाले भाग और भोगादि करों में कोई वृद्धि नहीं होती थी। बड़े राजा तथा अधीनस्थ राजाओं के बीच ही परस्पर कोई नियम निर्धारित हो जाता था। इसका प्रमाण यह है कि गाहड़वाल-राजाओं ने अपने दानपत्रों में जहाँ दान किए गए गाँव के भाग-भोग-कर आदि के दान की बात कही है तो वहीं उनके अधीनस्थ खदिरपाल वंश के साहस धवल आदि राजाओं ने भी अपने दानपत्रों में इन्हीं करों के दान की बात कही है। इसका अर्थ यह हुआ कि या तो दोनों ही प्रजा पर ज़ोर-ज़बर्दस्ती करके कर वसूलते थे अथवा किसी नियम के अधीन परस्पर बँटवारा कर लेते थे।

कर वसूली की यह व्यवस्था इतनी स्थायी और स्वचालित थी कि इस्लामी तथा ब्रिटिश काल तक चलती रही जब तक कि अंग्रेजों ने सुव्यवस्थित रूप से भारत के किसानों से उनके अधिकार छीन नहीं लिये। इस्लामी काल में वे राजस्व वसूली का कोई तंत्र स्थापित नहीं कर सके थे और उनकी फौजें इसके लिए प्रतिवर्ष लूटपाट करती थीं। मुगलों ने इसके लिए ज़ागीरदारी प्रथा चलाई और अन्ततः उसी बोझ के नीचे दबकर अवसान को प्राप्त हो गयी। अस्तु !

### वेतनभोगी राजा :

राजा भी प्रजा का वेतनभोगी कर्मचारी होता था, इसका एक प्रमाण इन अभिलेखों से ही निःसृत होता है। प्रायः यह प्रश्न अनुत्तरित ही रहता है कि इन भूमिदानों में सन्दर्भित व्यक्तियों में दान दिए गए ग्राम के निवासियों सहित समस्त जनपद के अनुगतों (अपने कर्मचारियों) सहित राजा, रानी, युवराज, मंत्री, पुराहित, प्रतिहार, सेनापति, भाण्डागारिक, अक्षपटलिक आदि अधिकारियों का उल्लेख करके विज्ञापित किया जाता है। कुछ विद्वानों का यह विचार है कि ये पदनाम सामन्तों तथा उनकी राजा-रानियों का उल्लेख करते हैं। लेकिन उस दशा में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि शेष सभी अधिकारियों के नाम भी सामन्तों से सम्बद्ध होंगे। लेकिन ऐसा नहीं है। ऐसी स्थिति में यही निष्कर्ष निकलता है कि राजा स्वयं तथा उसकी रानी और युवराज— ये सभी उसी प्रकार राज्य के कर्मचारी हैं जिस प्रकार मंत्री, पुराहित आदि। जिस प्रकार राजा का

अभिषेक होता है, उसी प्रकार युवराज तथा पट्टमहिषी का भी अभिषेक होता है और उन्हें राजकोष से वेतन मिलता है तथा वे अपना कर्मचारी-समूह तथा कार्यालय रखने के अधिकारी होते हैं।

इस प्रकार की राज्य-व्यवस्था संसार में अन्यत्र उपलब्ध नहीं थी।

मूल अभिलेख तथा अनुवाद :

1. ॐ स्वस्ति ॥  
अकुण्ठोत्कण्ठवैकुण्ठकण्ठपीठलुठत्करः ।  
संरम्भः सुतारम्भे स श्रियः श्रेयस्तु वः ॥  
आसीदशीतद्युतिवंशजातक्षमापाल-
2. मालासु दिवंगतासु ।  
साक्षाद्विवस्वानिव भूरिधाम्ना नाम्ना यशोविग्रह  
इत्युदारः ॥ 2 ॥  
तत्सुतोऽभून्महीचन्द्रश्चन्द्रधामनिभं निजं ।  
येनापारमकूपार-
3. पारे व्यापरितं यशः ॥ 3 ॥  
तस्याभूतनयो नयैक(र)सिकः क्रान्तद्विषन्मण्डलो  
विध्वस्तोद्धतवीरयोधतिमिर श्री चन्द्रदेवोनृपः ।  
येनोदारतरप्रतापशमिताशेष
4. प्रजोपद्रवं श्रीमद्गाधिपुराधिराज्यमसमं  
दोर्विक्रमेणार्जितम् ॥ 4 ॥  
तीर्थानि कशि-कुशिकोत्तरकासशलेन्द्रस्थानीयकानि  
परिपालयताधिगम्य ।  
हेमात्मतु-
5. ल्यमनिशं ददता द्विजेभ्यो येनाङ्किता वसुमती  
शतशस्तुलाभिः ॥ 5 ॥  
तस्यात्मजो मदनपाल इति क्षितीन्द्रचूडामणिर्विजयते  
निज-गोत्र-चद्रः ।  
यस्याभिषेक-
6. कलशोल्लसितैः पयोभिः प्रक्षालितं कलि-रजः पटलं  
धरित्र्याः ॥ 6 ॥  
यस्यासीद्विजय-प्रयाण-समये तुङ्गाचलोच्चैश्चल  
न्मद्यत्कुम्भि-पदक्रासम-भरभ्रश्य-
7. न्मही-मण्डले ।  
चूडारत्न-विभिन्न-तालुभगलित-स्त्यानासृगुद्भासितः  
शेषः पेष-वशादिव क्षणेमसौ क्रोडे निलीनाननः ॥ 7 ॥  
तस्मादजायत निजायतबाहु-

8. वल्लिबद्धावरुद्ध-नव-राज्यगजो नरेन्द्रः ।  
सांद्रामृत-द्रव-मुचां प्रभवो गवां यो गोविन्दचंद्र इति  
चन्द्र इवाम्बुरांशः ॥ 8 ॥  
न कथमप्यलभन्त रणक्षमांस्ति-
9. सृषु दिक्षु गजानथ वज्रिणः ।  
ककुभि बभ्रमुरभ्रमु-वल्लभ-प्रतिभटा इव यस्य  
गजघटा ॥ 9 ॥  
अजानि विजयचन्द्रो नाम तस्यान्नरेन्द्रः सुरपतिरिः-
10. व भूभृत्यक्ष-विच्छेद-दक्षः ।  
भुवन-दलन-हेला-हर्म्य-हम्मीर नारी-नयन-जलद-  
धारा-धौत-भूलोक-तापः ॥ 10 ॥  
लोक-त्रयाक्रमण-केलि-वि शृंखलानि प्र-
11. ख्यात-कीर्त्ति-कवि-वर्णिता-वैभवानि ।  
यस्य त्रिविक्रम-पद-क्रम-भांजि भान्ति प्रोज्जंभयन्ति  
बलि-राज-भयं यशांसि ॥ 11 ॥  
यस्मिंश्चलत्युदधिनेमि-मही-ज-
12. यार्थमाद्यस्करीन्द्र-गुरु-भार-निपीडेतेव ।  
याति प्रजापतिपदं शरणार्थिनी भूस्त्वङ्ग-तुरङ्गनि-  
वहोत्थरजश्छलेन ॥ 12 ॥  
तस्मादद्भुत-विक्रमादथ जयच्च-
13. द्राभिधानः पतिर्भूपानामवतीर्ण एषभुवनोद्धाराय  
नारायणः ।  
द्वैधीभावमपास्य विग्रहरुचिंधिकृत्य शान्ताशया सेवन्ते  
यमुदग्रबन्धन-
14. भयध्वन्सार्थिनः पार्थिवाः ॥ 13 ॥  
गच्छेन्मूर्छामतुच्छां न यदि कवलयेत्कूर्मपृष्ठाभिघात  
प्रत्यावृत्तश्रमात्तो नमदखिल-फणास्वासवात्यासहस्रं ।  
उद्योगे
15. यस्य धावद्धरणिधर-धुनी-निर्झर-स्फारधारा-  
भ्रश्यद्दान-द्विपाली-बहुल-भर-गलद्वैर्य-मुद्र फणींद्रः  
॥ 14 ॥  
सोयं समस्तराजचक्रसंसेवितचरणः [ 1 ]
16. स च परमभट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर-  
परममाहेश्वर-निजभुजोपार्जित-श्री-कान्यकुब्जाधिप  
त्य-श्री-चंद्रदेव-पादानुध्यात-परमभट्टारक
17. महाराजाधिराज-परमेश्वर-परममाहेश्वर-श्री-  
मदनपालदेव-पादानुध्यात-परमभट्टारक-

- महाराजाधिराज-परमेश्वर-परममाहेश्वराश्वपतिगजप  
 18. ति-नरपति-राजत्रयाधिपति-विविध-विद्या-विचार-  
 वाचस्पति-श्री-गोविन्दचंद्रदेव-पादानुध्यात-परमभट्ट  
 19. टारक-महाराजारधिराज-परमेश्वर-परममाहेश्वराश्व-  
 पति-गजपति-नरपति-राजत्रयाधिपति-विविध-  
 विद्या-विचार-वाचस्पति-श्री-विजयचंद्रदेव-  
 पादानुध्यात-परमभट्टटारक-महाराजारधिराज-  
 परमेश्वर-परमेश्वर-परममाहे  
 20. श्वर-श्व-पति-गजपति-नरपति-राजत्रयाधिपति  
 -विविध-विद्या-विचार-वाचस्पति-श्रीमज्जयचंद्रदेवो  
 21. विजयी ॥ ॥ असुरेस पत्तलायां कमोली ग्राम  
 वासिनो निखिल-जनपदानुपगातानपि च राज-राज्ञी-  
 युवराज-मंत्रि-पुराहित-प्रतीहार-सेनापति-भांडागारि  
 काक्षपटलिक-भिषग्नैमित्तिकान्तःपुरिक-  
 22. दूत-करि-तुरग-पत्तनाकरस्थान-गोकुलाधिकारि  
 -पुरुषानाज्ञापयतिबोधयत्यादिशति (1) विदितमस्तु  
 भवतां यथोपरि-लिखित-ग्रामः स-जाल-स्थलः  
 23. स-लोहलवणाकारः स-मस्त्याकरः स-गर्तोषरः स  
 गिरि-गहन-निधानः स मधूकाम्र-वन वाटिका-  
 विटप-तृण-यूति-गोचर-पर्यन्तः सोर्द्धाधश्चतुराघाट-  
 वि  
 24. शुद्धः स्व-सीमा-पर्यन्तास्त्रिचत्वारिंशदधिक द्वादश-  
 शत-संवत्सरे आषाढे मासि शुक्लपक्षे सप्तम्यां तिथौ  
 रवि-दिने अङ्कतोपि संवत् 1243 आषाढ सुदि 7 ।  
 25. वौ । अद्येह श्रीमद्वाराणस्यां गंगायां स्नात्वा विधिवन्मंत्र  
 -देव-मुनि-मनुज-भूत-पितृगणांस्तर्पयित्व तिमिर-  
 पटल-पाटन-पटु-महसमुष्णरोचिसमुपस्थौषधि-  
 26. पति-शकल-शेखरं समभ्यर्च्य त्रिभुवन-त्रातुर्भगवतो  
 वासुदेवस्य पूजां विधाय प्रचुर-पायसेन हविषा  
 हिवर्भुजं हुत्वा मातापित्रोरात्मनश्च पुण्ययशोभिवृद्ध-  
 27. ये अस्माभिर्गोकर्ण-कुश-लता-पूत-कर-तलोदक-  
 पूर्वकं भारद्वाजगोत्राय भारद्वाजांगिरसबार्हस्पत्येति-  
 त्रिप्रवराय राउत-श्री-आढले (?) पौत्राय राउत-श्री-  
 दूटा-  
 28. पुत्राय डोडराउत-श्री-अणंगाय चंद्राक्क  
 यावच्छासनीकृत्य प्रदत्तो मत्वा यथा-दीयमान-भाग-  
 भोग-कर-प्रवणिकर-प्रभृति-नियतानियत

- समस्तादायानाज्ञाविधे-  
 29. यीभूय दास्यथेति ॥ ॥ भवन्ति चात्र श्लोकाः ।  
 भूमिं यः प्रतिगृह्णाति यश्च भूमिं प्रयच्छति ।  
 उभौ तौ पुण्यकर्माणौ नियतं स्वगर्गगामिनौ ॥ 15 ॥  
 शंखं भद्रासनं च्छत्रं वरश्वा वरवार  
 30. णाः ।  
 भूमिदानस्य फलमेतत्पुरंदर ॥ 16 ॥  
 षष्ठिं वर्ष-सहस्राणि स्वर्गे वसति भूमिदः ।  
 आच्छेता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत् ॥ 17 ॥  
 बहुभिर्वसुधा भुक्ता राजभिः सग-  
 31. रादिभिः ।  
 यस्य यस्य यदा भस्मिस्तस्य तस्य तदा फलं ॥ 18 ॥  
 स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुधरां ।  
 स विष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृभिः सह मज्जति ॥ 19 ॥  
 तडागानां सहस्रेण वाजपेयशतानि च ।  
 32. गवां कोटिप्रदानेन भूमिहर्ता न शुद्धयति ॥ 20 ॥  
 वारिहीनेष्वरण्येषु शुष्ककोटरवासिनः ।  
 कूष्णसर्पाश्च जायन्ते देवब्रह्मस्वहारिणः ॥ 21 ॥  
 न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्य  
 33. ते ।  
 विषमेकाकिनं हनित ब्रह्मस्वं पुत्रपौत्रिकं ॥ 22 ॥  
 वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्यमापातमात्रमधुरा  
 विषयोपभोगाः ।  
 प्राणास्तृणाग्रजलविन्दुसमा नराणां धर्म सखापर-  
 34. महो परलोक्याने ॥ 23 ॥  
 यानीह दत्तानि पुरा नरेन्द्रैर्दानानि धर्मार्थयशस्कराणि ।  
 निर्माल्यवान्तप्रतिमानि तानि को नाम साधुः  
 पुनराददीत ॥ 24 ॥

अनुवाद :

ॐ स्वस्ति । श्री लक्ष्मीजी के वे हाथ हम सबका कल्याण करें जो सुरति के प्रारम्भ में भगवान् श्रीवैकुण्ठ (विष्णुजी) के पीठ पर अकुण्ठित उत्कण्ठा के साथ फिराये जाते हैं (1) । जब सूर्यवंश में उत्पन्न राजवंशों की मालिका स्वर्गगत हो गई तब साक्षात् विवस्वान् (सूर्य) की भाँति अमित तेजस्वी यशोविग्रह नाम के महान् व्यक्ति ने जन्म लिया (2) । उनके पुत्र महीचन्द्र हुए जिन्होंने अपना अपार यश समुद्र के पार तक विस्तारित किया था (3) । उनके पुत्र राजा चन्द्रदेव हुए जो नीतिशास्त्र के मर्मज्ञ थे और जिन्होंने उद्धत-वीर योद्धाओं के अन्धकार को (चन्द्रमा की भाँति) नष्ट कर दिया था और जिन्होंने अति महान् प्रताप

से समस्त प्रजाओं के उपद्रव को नष्ट करके परम विक्रम के साथ कान्यकुब्ज (कन्नौज) के अधिराज्य को जीत लिया था (4)। काशी, कान्यकुब्ज (कुशिक) तथा अयोध्या (उत्तरकोसलेन्द्र-स्थानीक) आदि तीर्थों को प्राप्त करके परिपालन करते हुए जिन्होंने निरन्तर अपने शरीर के तौल के बराबर स्वर्ण का दान करते हुए इस पृथिवी को सैकड़ों तुलाओं (तराजुओं) से अंकित कर दिश था (5)। उनके पुत्र विजयी मदनपाल हुए जो अपने गोत्र में मानो चन्द्रमा समान थे और राजाओं के मुकुटमणि थे जिनके अभिषेक के कलशों से छलकनेवाले जल से इस धरती के समस्त कलरज (कलियुग में होनेवाले दुर्गुण) धुल गए थे (6)। जिनके विजय-प्रयाण के समय पर्वतों के समान ऊँचे-ऊँचे मदभरे हाथियों के पदभार से धरती झुक जाती थी और शेषनाग के मुकुट रत्न उनके शीश में गड़ जाने के कारण उन्होंने अपना लहलुहान सिर मानो क्षणमात्र के लिये झुका लिया हो (7)। उनसे वैसे ही पृथिवी पर गोविन्दचन्द्र पैदा हुए जैसे चन्द्रमा चारों ओर अमृत की वर्षा करता हुआ समुद्र में से निकलता हो (और) जिन नरेन्द्र ने, जैसे कोई मदमत्त हाथी को अपने वश में कर लेता है, वैसे ही अपनी लताओं जैसी लम्बी भुजाओं में इस नवार्जित राज्य को बांध लिया था (8)। उनकी सेना ने हाथियों की घटा को जब अपने समान कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं मिला, तब वे मानो बादलों के समान इन्द्र के क्षेत्र में घूमने लगती थीं (9)। उस नरेश से मानो इन्द्र की भाँति राजाओं के पंख काटने में कुशल विजयचन्द्र पैदा हुए (इन्द्र ने उड़नेवाले पर्वतों के पंख काटकर उन्हें स्थिर कर दिया था), जिन्होंने धरती को दलित करनेवाले हम्मीर (अमीर या सुल्तान) के हर्म्य (जनानखाने) में रहनेवाली नारियों की आँखों में उमड़नेवाले आँसू के बादलों से बरसनेवाली जलधारा से इस पृथिवी के सन्ताप को नष्ट कर दिया था (10)। तीनों लोकों पर आक्रमण करके युद्ध में जिन्होंने विख्यात और कवियों द्वारा वर्णित राजाओं के वैभवों को नष्ट कर दिया था और जिनके त्रिविक्रम के (समान) तीन पगों के भय से बलि को भी अपने राज्य के जाने का भय पैदा हो गया था (11)। जब वे ससागरा पृथिवी को जय करने के लिए निकलते थे, तब उनके मद बहते हाथियों के पद-भार से पीड़ित पृथिवी मानो दब जाती थी और वह मानो धूलि का रूप धारण करके शरणार्थिनी बनकर ब्रह्मा (प्रजापति) के सिंहासन के पास तक पहुँच जाती थी (12)। उनसे अद्भुत विक्रमवाले जयचन्द्र नाम धारण करनेवाले राजाओं के राजा पैदा हुए मानो साक्षात् नारायण ने ही भुवन के उद्धार के लिए अवतार धारण किया हो तथा जिनके उग्र दण्ड के भय से युद्धप्रिय राजाओं ने द्वैधीभाव और विग्रहभाव छोड़कर शान्तभाव का सेवन किया (13)। उनकी सेनाएँ जब निकलती हैं, तब हाथियों के मस्तकों से निकलनेवाले मद की धाराओं को देखकर ऐसा लगता है मानो चलते-फिरते पर्वतों से झरने फूट रहे हों जिससे कूर्म पृष्ठ पर होनेवाले आघात से सहस्र

फणोंवाले शेषनाग मानो गहरी मूर्च्छा में चले गए हों और उनका श्वास अवरुद्ध हो गया हो (14)।

**पंक्ति 16 से 20 :** वह मैं समस्त राजाओं के समूह से संसेवित चरणोंवाला परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परममाहेश्वर अपनी भुजाओं से श्रीकान्यकुब्ज का आधिपत्य प्राप्त करनेवाले **श्रीचन्द्रदेव** के चरणों का ध्यान करनेवाले परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परममाहेश्वर **श्रीमदनपालदेव** के चरणों का ध्यान करनेवाले परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परममाहेश्वर अश्वपति, गजपति, नरपति, राजत्रयाधिपति, विविधविद्या-विचारवाचस्पति **श्रीगोविन्दचन्द्रदेव** के चरणों में ध्यान करनेवाले परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परममाहेश्वर, अश्वपति, गजपति, नरपति, राजत्रयाधिपति, विविधविद्याविचारवाचस्पति **श्री विजयचन्द्रदेव** के चरणों में ध्यान करनेवाले परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परममाहेश्वर अश्वपति, गजपति, नरपति, राजत्रयाधिपति, विविधविद्याविचारवाचस्पति **श्रीमत् जयचन्द्रदेव विजयी** ।।

**पंक्ति 20 से 22 :** असुरेस पत्तला के अंतर्गत कमोली ग्राम के निवासी समस्त जनपद के अनुगतों तथा राजा, रानी, युवराज, मन्त्रि, पुरोहित, प्रतिहार, सेनापति, भाण्डागारिक, अक्षपटलिक, भिषक् (राजवैद्य), नैमित्तिक (ज्योतिषि), आन्तःपुरिक, दूत, हाथियों-घोड़ों-पत्तन-खानों आदि के अधिकारियों, गौशाला के अधिकारियों, आदि पुरुषों (राजकर्मचारियों) को ज्ञापित करता हूँ, सम्बोधित करता हूँ तथा आदेश देता हूँ।

**पंक्ति 22 से 24 :** आप सबको विदित हो कि ऊपर उल्लिखित ग्राम में जल-स्थल सहित, लोह-लवण (नमक) की खानों सहित, मछली पालने के स्थानों सहित, गड्ढों सहित, गड्ढों तथा ऊसर भूमि सहित, ऊँचे तथा नीचे स्थलों (गिरि-गहन) में स्थित आम-महुआ के पेड़ों के वन-बगीचे, घास तथा फूस के गोचर मैदान तक ऊपर और नीचे चारों कोने शुद्ध सहित अपनी सीमा तक।

**पंक्ति 24 से 29 :** संवत् बारह सौ तैंतालीस में आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की सप्तमी तिथि, दिन रविवार, अंकों में संवत् 1243 आषाढ़ सुदि 7, रविवार। आज मैं यहाँ वाराणसी में गंगा में स्नान करके विधिवत् देव-मुनि-मनुष्य-भूत तथा पितृगणों आदि का तर्पण करके, अंधकार को नष्ट करनेवाले तथा वनस्पतियों के स्वामी चन्द्रमा को अपने शिर पर धारण करनेवाले भगवान् शिव की अर्चना करके, तीनों लोकों के रक्षक भगवान् वासुदेव की पूजा करके, प्रचुर पायस (दुग्धादि से) हवन संपन्न करने के उपरान्त माता-पिता तथा अपने स्वयं के पुण्य तथा यश की अभिवृद्धि के लिये कुश से पवित्र हाथों में गोकर्ण

(गाय का कान) लेकर भारद्वाज गोत्रवाले भारद्वाज-आंगिरस-वार्हस्पत्य— त्रिप्रवरवाले राउत श्री आदले के पौत्र राउत श्री टूटा के पुत्र डोडा-राउत श्री अनंग को जब तक चन्द्र और सूर्य हैं, तब तक के लिये शासनीकृत करके मेरे द्वारा दिया गया दान, यथा— भाग-भोग-कर और प्रवणिकर आदि नियत तथा अनियत— सभी दायों (राजा को मिलनेवाले सभी पावनों) को आज्ञापूर्वक देता हूँ।

**पंक्ति 29 से 34 :** (भूमि दान के सम्बन्ध में) ये श्लोक कहे गए हैं :

जो भूमि को प्राप्त करता है तथा जिसकी भूमि दान दी जाती है, वे दोनों ही पुण्य को प्राप्त होते हैं तथा निश्चयपूर्वक स्वर्गगामी होते हैं (15)। हे इन्द्र ! शंख, सिंहासन, छत्र, हाथी और घोड़े— ये भूमिदान के फल होते हैं (16)। भूमि का दान करनेवाला साठ हजार वर्षों तक स्वर्ग में बसता है तथा उसमें बाधा पहुँचानेवाला तथा उसका समर्थन करनेवाला इतने ही वर्षों तक नरक में बसता है (17)। यह पृथिवी सगर आदि राजाओं द्वारा विविध कालों में भोगी गई, लेकिन वह जब-जब जिसकी रही है, तब-तब दान का फल उसी को मिलता रहा है (18)। अपने द्वारा अथवा दूसरे के द्वारा दान दी गई भूमि का जो अपहरण करता है, वह पितरों सहित कीड़ा बनकर विष्ठा में घुलता है (19)। भूमि का हरण करनेवाला हजारों तालाबों को बनवाने अथवा सैकड़ों वाजपेय यज्ञों को करने अथवा करोड़ों गायों का दान करने के बाद भी शुद्ध नहीं होता (20)। देवताओं तथा ब्राह्मणों को दिये गये भूमि का हरण करनेवाला जलविहीन रण्ण (मरुभूमि) में अथवा सूखे पेड़ की कोटर में काला सर्प होकर पैदा होता है (21)। विष को विष नहीं कहते ब्रह्मस्व (ब्राह्मण को दिया गया दान) को ही (असली) विष कहते हैं, क्योंकि विष तो अकेले एक को ही मारता है लेकिन ब्रह्मस्व पुत्र-पौत्र सहित सबको मार डालता है (22)। सुखोपभोग में मधुर लगनेवाला पृथिवी का यह आधिपत्य वायु के झोंके में घास के पत्ते पर बनी बूँद के समान है। मनुष्यों को परलोक में ले जानेवाला सखा धर्म ही है (23)। प्राचीन काल के राजाओं द्वारा दिये गये ये जो दान हैं धर्म, अर्थ और यश को देनेवाले हैं, लेकिन ये शिव को चढ़ाये गये निर्माल्य तुल्य ही हैं, इनका पुनर्दान कर देना ही श्रेयस्कर है (24)।

**सन्दर्भ :**

1. वर्मा, टी०पी० एवं ए०के० सिंह, 2011, *इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ़ दि गहड़वालाज़ एण्ड देयर टाइम्स* (2 भागों में), नयी दिल्ली
2. *ए कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया*, खण्ड 4, भाग एक, पृ० 386
3. ये संख्याएँ हमारा ग्रन्थ *इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ़ दि गहड़वालाज़ एण्ड देयर टाइम्स* (आई०जी०टी० से दी जा रही है जो गहड़वाल-अभिलेखों का अद्यतन संग्रह है। अधिक जानकारी के लिए इस ग्रन्थ का पृ० 90 तथा आगे देखें।
4. देखिये, वी०एम० आपटे रचित *वैदिक एज़*, पृ० 488, यहाँ पर आपटे ने

वसिष्ठधर्मसूत्र के आधार पर बहुत सुन्दर प्रस्तुति की है। वर्मा एवं सिंह द्वारा रचित *आई०जी०टी०* पृ० 288 भी देखें

5. घोषाल, यू०एन०, *दि स्ट्रगल फॉर एम्पायर*, पृ० 272-73



## सिरवन्त ताम्रपत्राभिलेख (सिद्धार्थनगर, उत्तरप्रदेश) वि०सं० 1417 (ई० 1360)

ठाकुर प्रसाद वर्मा \*

**भूमिका :**

उत्तरप्रदेश के सिद्धार्थनगर ज़िले से चौदहवीं शताब्दी के एक भूमिदानलेख का ताम्रपत्र के रूप में मिलना इतिहासकारों के लिए अपने में एक समाचार है। इसकी सूचना 'एन्युअल रिपोर्ट ऑफ़ आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया'<sup>1</sup> में प्रकाशित हुई थी। पुष्पा प्रसाद ने इस पर एक लेख इण्डियन हिस्ट्री काँग्रेस में पढ़ा था।<sup>2</sup> उत्तरप्रदेश के आयकर आयुक्त पद से सेवानिवृत्त तथा इतिहासकार मेरे मित्र डॉ० विजयपाल सिंह ने भी अपनी पुस्तक 'राप्ती तट का इतिहास' में इस पर कुछ लिखा है जिसमें हमारा सन्दर्भ दिया गया है। उन्होंने ताम्रपत्र की एक छायाप्रति हमें दी थी जिसका उद्घाटन हमने तथा जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर में प्रोफेसर डॉ० अरविन्द कुमार सिंह ने करके डॉ० विजयपाल सिंह को दिया था। उन्होंने इस ताम्रपत्र के इतिहास पर अपनी विद्वत्तापूर्ण टिप्पणी के साथ उक्त पुस्तक में प्रकाश डाला है।<sup>3</sup> इसकी चर्चा आगे की जायेगी।

यह ताम्रपत्र सम्प्रति लखनऊ राजकीय संग्रहालय में संरक्षित है जिसकी संग्रहालय संख्या, डॉ० सिंह के अनुसार, क्रमांक ए-4310 है। यहाँ इस लेख के माध्यम से एक बार पुनः इस महत्वपूर्ण अभिलेख पर प्रकाश डाला जा रहा है जिससे चौदहवीं शताब्दी में उत्तरप्रदेश के इस उपेक्षित क्षेत्र के इतिहास पर नया प्रकाश डाला जा सके।

**सिरवन्त की स्थिति और पृष्ठभूमि :**

यह आवश्यक लगता है कि इस महत्वपूर्ण मौर्यकालीन ग्राम सिरवन्त की भौगोलिक स्थिति तथा उसके इतिहास का एक सर्वेक्षण कर लिया जाय। सिरवन्त इस समय एक ब्राह्मण बहुल गाँव है जो सिद्धार्थनगर (पुराने बस्ती) ज़िले में गोरखपुर-गोन्डा लूप लाइन पर पड़नेवाले चिल्हिया स्टेशन से लगभग तीन किलोमीटर दक्षिण में स्थित है। तहसील मुख्यालय बाँसी से नौगढ़ जानेवाले मार्ग पर सनई गाँव का चौराहा पड़ता है, वहाँ से पश्चिम की ओर शोहरतगढ़ जानेवाली सड़क पर कुछ ही दूरी पर बायें हाथ सिरवन्त का प्राचीन गाँव स्थित है। सिद्धार्थनगर ज़िला मुख्यालय नौगढ़ से यहाँ की दूरी लगभग 10 किमी है। वहाँ के निवासी श्री गिरिजेश धर द्विवेदी हमारे मित्र और वरिष्ठ सहपाठी भी रहे हैं। पचास के दशक में उनके आग्रह पर एक बार मैं उनके गाँव सिरवन्त गया था। उस समय मैं एम०ए० का विद्यार्थी था। वहाँ पर मैंने दो ऐसे कुएँ देखे जो लगभग पट चुके थे और जिनकी जगती मौर्यकालीन ईंटों की बनी थी। एक कुआँ बहुत पतले मडार का था जिसकी जगती बहुत पतली लगभग चार-पाँच फुट परिधि में थी और उसकी जुड़ाई बहुत सुन्दर थी। इसमें सूजा-पट्टी (wedpel-shaped) ईंटें लगी हुई थीं जो एक ओर पतली तथा दूसरी ओर चौड़ी होती हैं और इनका प्रयोग मण्डलाकार कुओं की जोड़ाई में होता है। श्री द्विवेदी ने गाँव में आबादी के भीतर एक ऐसे स्थल को दिखाया जो लगभग छः या सात फीट चौकोर था और जहाँ पर पैर पटकने पर धप्प-धप्प की आवाज़ होती थी। लगता था कि उसके नीचे की भूमि कुछ पोली थी और वह पिधान-जैसी किसी चीज से ढकी हुई थी। जो भी हो, उस समय मैं साधनविहीन विद्यार्थी था और केवल उसकी स्मृति लेकर वापस आ गया।

\* पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय; सेवानिवृत्त उपाचार्य, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी; निवास : 397-ए, गंगा प्रदूषण नियन्त्रण मार्ग, भगवानपुर, वाराणसी-221 005 (उ०प्र०); ई-मेल : tpverma2003@yahoo.co.in, thakurverma@gmail.com

### सोहगौरा कांस्यपत्र का सिलमते :

बाद में सोहगौरा का कांस्यपत्र मेरे अध्ययन<sup>1</sup> में आया। उस समय तक यह मौर्य पूर्व काल का माना जाता था। डॉ० दिनेश चन्द्र सरकार<sup>2</sup> ने इसे तथा तीन अन्य लेखों को मौर्य लेखों से अलग विविध लेखों की श्रेणी में रखा है। मैंने अपनी पुस्तक<sup>3</sup> में सोहगौरा तथा पिपरहवा धातुकलश-अभिलेखों को अशोक के काल के लेख माना है। इस सोहगौरा लेख में उल्लिखित दो गाँवों— वसगाम तथा सिलमते, पर मेरा ध्यान गया जहाँ पर मौर्य काल में दो कोष्ठागार बनाये जाने एवं उनमें कई प्रकार के अन्न रखने की बात कही गई है जिनका उपयोग केवल अकाल के समय लोगों को राहत पहुँचाने के लिए ही किये जाने का आदेश था। मैं विद्यार्थी-जीवन में सिरवंत गाँव जा चुका था, अतः मेरा ध्यान इस ओर गया कि उसे ही सिलमते कहा गया है। इस लेख की प्रथम दो पंक्तियों में इन दो गाँवों के अतिरिक्त दो और स्थानों के नाम आये हैं जिनमें यह आज्ञा श्रावस्ती के महामात्र द्वारा मनवसिति नामक शिविर (कट) से दी गई थी। इस प्रकार चार पंक्तियों के इस छोटे से मौर्यकालीन लेख की प्रथम दो पंक्तियों में कुल चार स्थलनाम मिल जाते हैं। लेख इस प्रकार है :

#### 1. सवतियन महमतन ससने मनवसिति क

#### 2. ड (।\*) सिलमते वसगमे च...

यह कांस्य फलक मिट्टी के सांचे में ढालकर बनाया गया है जिसमें सांचे में लिखे गये अक्षर बहुत स्पष्ट ढंग से खोदे नहीं जा सके हैं। 'महमतन' का त 'ग' जैसा दिखता है लेकिन यह जानते हुए भी कि इसका पाठ करनेवालों ने इसे 'ग' ही पढ़ा है, फुटनोट में 'महमतन पढ़ें'— ऐसा लिखा है। इसी प्रकार 'वसगमे' के बाद के अक्षर को फ्लीट और डॉ० दिनेश चन्द्र सरकार ने 'व' पढ़ा है जिसका आधार यह है कि वे 'सिलमते' को 'वसगमे' का विशेषण मानकर 'श्रीमती' तथा 'श्रीमान्' अर्थ करते हैं। लेकिन हमने इनको सिरवंत तथा वसगाम/बांसगांव— दो अलग-अलग स्थान माना है, इस कारण इसे 'च' पढ़ा जाना चाहिये। इसका एक कारण यह भी है कि इस लेख में 'एते दवे कोठगलानि' अर्थात् ये दो कोष्ठागार कहा गया है। वे इन दोनों कोष्ठागारों को बांसगांव में ही मानकर चल रहे हैं जबकि मुझे इसमें दो गाँवों का उल्लेख दिखाई पड़ रहा था, क्योंकि वसगमे के बाद जिसे उन्होंने 'व' पढ़ा है, उसे मैं 'च' पढ़ना चाहता हूँ।

### सिरवंत की प्राचीनता :

सिरवंत या सिरिमन्त या श्रीमन्त एक प्राचीन और मौर्यकालीन स्थल है। वास्तविकता तो यह है कि यह समूचा क्षेत्र ही बुद्ध की चर्या से जुड़ा हुआ है और उस समय के अवशेषों से भरा हुआ है। विद्वानों और पुरातत्त्वज्ञों ने इस पर बहुत कुछ काम भी किया है। डॉ० देबला मित्रा ने

कपिलवस्तु की खुदाई करवायी। इसके बाद डॉ० के०एम० श्रीवास्तव ने पिपरहवा के स्तूप की खुदाई 1972 में करवाकर बुद्ध के उन शरीर-अवशेषों को खोद निकाला तो तथागत के परिनिर्वाण के तुरन्त बाद स्तूप में निखात किये गये थे। इसके लगभग सौ साल बाद 1897-98 में बर्डपुर के अंग्रेज़ ज़मीन्दार पेप्पे को उसी स्तूप के ऊपरी स्तर पर जो अवशेष तथा बुद्ध का अभिलिखित धातुकलश मिला था, वह अशोक के काल में शाक्यों द्वारा स्तूप के पुनर्निर्माण के समय निखात किये गये थे। इस विषय में हमने सप्रमाण विस्तार से लिखा है।<sup>4</sup> लुम्बिनी का अशोक स्तम्भ तथा लेख बहुत पहले से लोगों की जानकारी में है। चीनी यात्री हुएन त्सांग ने भी इसकी चर्चा की है।

सिरवंत से प्राप्त इस मध्ययुगीन अभिलेख के ऐतिहासिक महत्त्व ने सिरवंत को नये सिरे से चर्चा में ला दिया है जिसके कारण हम इस क्षेत्र के कुछ ऐसे पुरास्थलों की पहचान और चर्चा करना चाहते हैं जिनके बारे में अभी तक कोई जानकारी नहीं थी। इनके लिए इन पंक्तियों के लेखक ने स्वयं सर्वेक्षण करके साहित्य तथा अभिलेखों को आधार बनाकर जानकारी एकत्र की है।

इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि सिरवंत गाँव की पहचान सोहगौरा के मौर्यकालीन कांस्यपत्र के सिलमते से की गई है, तो दूसरे स्थल वसगाम की पहचान गोरखपुर जिले के बांसगांव की पहचान पहले ही की जा चुकी है। लेकिन यह बात बहुत कम लोगों को मालूम थी कि यह कांस्यपत्र बांसगाँव से छः मील पूरब स्थित सोहगौरा गाँव के निवासी पं० सर्वजीत प्रसाद राम त्रिपाठी ने तत्कालीन जिला कलक्टर डॉ० विलियम हुई (Dr. William Hoey) को सौंपा था जिसकी सूचना 1895 में *Proceedings of the Asiatic Society of Bengal* के पृष्ठ 84 तथा आगे में छपी थी। श्री हुई के पत्रों से ऐसा लगता है कि उनमें और त्रिपाठी जी में दोस्ती थी और उनमें परस्पर पत्राचार होता था। एक अन्य अंग्रेज़ श्री विलियम वोस्ट (Mr. William Vost) के दिनांक 12 मार्च, 1903 के पत्र से कुछ और बातों का पता चलता है। वे लिखते हैं कि 'सौभाग्य से मेरा परिचय सोहगौरा के पंडित सर्वजीत प्रसाद राम तिवारी से हुआ, ये वही सज्जन हैं जिन्होंने ताम्रपत्र डॉ० हुई को दिया था। वे बांसी, उनवल तथा सतासी (रुद्रपुर) के श्रीनेत राजाओं के गुरु तथा पुरोहित हैं।'<sup>5</sup> यह सूचना बहुत महत्वपूर्ण है जिसका सम्बन्ध इस मध्यकालीन ताम्रपत्र के दान पानेवाले पुराहित से माना जा सकता है। संयोग से जिनका नाम सव्वजित त्रिपाठी ही था।

अब इस परिक्षेत्र के कुछ पुरास्थलों की पहचान तथा विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है जो भगवान् बुद्ध तथा मौर्यकाल के इतिहास से सम्बद्ध है।

**चिल्हिया गाँव :** गोरखपुर-गोन्डा लूप पर इसी गाँव के नाम पर एक स्टेशन भी है। किसी समय यह महत्वपूर्ण और धार्मिक स्थल रहा होगा। सिरवन्त ताम्रपत्राभिलेख में 'चिल्हदेवीजलदुर्ग' स्थान का नाम आता है जहाँ से यह दानपत्र जारी किया गया था। इसकी पहचान डॉ० विजय पाल सिंह ने इसी चिल्हिया गाँव से की है तथा यह सम्भावना प्रकट की है चौदहवीं शताब्दी में यह एक जलदुर्ग रहा होगा। जिसका एक तात्पर्य यह भी निकलता है कि यहाँ पर किसी छोटे-मोटे सामन्त या स्वयं राजा धर्मदेव सिंह का किला रहा होगा। यहाँ चिल्हदेवी का कोई मन्दिर भी रहा होगा। मैं इस बात का पता नहीं लगा सका कि यहाँ पर इस नाम का कोई मन्दिर है या नहीं। बचपन में हमने पुरनियों से चिल्हिया को 'कनवा टेसन' भी कहते सुना है। इस कारण यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस गाँव या स्टेशन का एक अन्य नाम 'कनवा' भी रहा होगा। इसकी पहचान अशोक के निगाली सागर स्तम्भलेख के 'कनकमुनि बुद्ध' से की जा सकती है। इस लेख में कहा गया है कि 'देवानां प्रियदर्शी राजा ने अपने अभिषेक के चौदहवें वर्ष में कनकमुनि बुद्ध के स्तूप को दो गुना बड़ा करवाया। अभिषेक के छब्बीसवें वर्ष में स्वयं यहाँ आकर पूजा की और शिलास्तम्भ स्थापित करवाया।' चार पंक्तियों का स्तम्भलेख जिस स्थान पर उत्कीर्ण है, वह इस समय चिल्हिया नगर से लगभग बीस किमी उत्तर, भारत-नेपाल सीमा पर नेपाल के अन्दर निगलिहवा नामक गाँव में निगालीसागर नामक एक तालाब के समीप पड़ा हुआ है। स्थानीय लोग इसे 'भीमसेन की निगाली' (तम्बाकू पीने की नली) कहते हैं। शायद इसी कारण इस तालाब तथा गाँव का नाम पड़ा। निगलिहवा गाँव लुम्बिनी तथा कपिलवस्तु के लगभग बीच में पड़ता है। इस स्तम्भ पर मध्यकालीन किसी मल्ल राजा का अभिलेख भी उत्कीर्ण है। ऐसा कहा जाता है कि मल्ल-राजाओं ने इस स्तम्भ को किसी और स्थान से लाकर रखा था। इस स्तम्भ पर अशोक के अभिलेख में कनकमुनि का नाम उत्कीर्ण होने तथा वहाँ से साठ-आठ किमी पर दक्षिण दिशा में चिल्हिया के पुराने नाम कनवा के आधार पर हमें लगता है कि कनकमुनि का स्तूप इसी चिल्हिया में रहा होगा जहाँ से मल्ल-राजाओं ने इसे स्थानान्तरित कराया होगा। बौद्ध साहित्य में कनकमुनि तथा क्रकुच्छन्द नाम के दो पूर्व-बुद्धों का उल्लेख मिलता है। चिल्हिया स्टेशन से पश्चिम छः किमी पर अगला स्टेशन शोहरतगढ़ कहलाता है। इस समय शोहरतगढ़ एक बड़ा कस्बा है जिसको वहाँ के ज़मीन्दार बाबू शोहरत सिंह ने बसाया था। हमारे बचपन में शोहरतगढ़ का दूसरा नाम चान्दापार कहा जाता था। ऊपर कहा जा चुका है कि सनई चौराहे से शोहरतगढ़ जानेवाले मार्ग पर सिरवन्त गाँव पड़ता है। हमारा अनुमान है कि चान्दापार नाम क्रकुच्छन्द बुद्ध के नाम का संक्षिप्त लोकप्रचलित नाम है। यद्यपि यहाँ कोई पुराने अवशेष नहीं बचे हैं, तथापि इसे पुरास्थल होना चाहिये।

यहाँ से उत्तर की दिशा में एक सड़क नेपाल सीमा के अन्दर कपिलवस्तु कस्बे में जाती है। सीमा पर ही लोरिक की कुदान नामक दो टीले सड़क की बायीं ओर थे जिनकी खुदाई पुरातत्त्वज्ञ देबला मित्रा ने कराई थी। उसकी रिपोर्ट भी प्रकाशित है। यह पहले बौद्ध स्तूप था, बाद में इस पर शिव मन्दिर बना लिया गया। दो टीले आसपास होने के कारण लोक अनुश्रुतियों के नायक लोरिक भाइयों के नाम पर इसे 'लोरिक की कुदान' नाम दिया गया।

इस प्रकार चिल्हदेवी का यह मध्यकालीन जलदुर्ग भगवान् बुद्ध की परिचर्या क्षेत्र रहा है जिसकी यात्रा सम्राट् अशोक ने अपने अभिषेक के छब्बीसवें वर्ष में की थी लेकिन यहाँ पर निर्माणकार्य चौदहवें वर्ष में ही शुरू हो चुका था। उल्लेखनीय है कि अभिषेक के आठवें वर्ष में अशोक ने कलिंग को जीता था। इस युद्ध में अशोक के अनुसार लाखों लोग मारे गए थे तथा विस्थापित हो गए थे जिसका सन्ताप अशोक को दो वर्षों तक सताता रहा। दसवें वर्ष में वह बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए और बारहवें वर्ष में उन्होंने बुद्ध की अस्थियों के साथ अपनी 256 पड़ावों की यात्रा की। इस यात्रा का समापन बुद्धपूर्णिमा के दिन अशोक ने सारनाथ में किया जहाँ भगवान् के अवशेषों को मंच पर आरूढ़ कराकर एक उपदेश किया। इसमें उन्होंने यह दावा किया कि धम्म बढ़ेगा और कम-से-कम डेढ़ गुना बढ़ेगा। उन्होंने यह भाषण मागधी भाषा में दिया था और यह उन्हें इतना प्रिय लगा कि इसे पत्थर पर उत्कीर्ण कराकर इसे सारे साम्राज्य में प्रसारित करवाया। इन्हें लघुशिलालेख कहा जाता है और देश के विभिन्न भागों से अबतक 18 लघुशिलालेख मिल चुके हैं।<sup>10</sup>

### सिरवन्त ताम्रपत्र की विषयवस्तु :

सिरवन्त के इस ताम्रपत्र की विषयवस्तु इस प्रकार है :

'विक्रम संवत् 1417 के चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी तिथि दिन बुधवार (डॉ० पुष्पा प्रसाद ने गणना करके इसकी तिथि 25 मार्च, 1360 ई० निकाला है) को महानृपति धर्मदेव सिंह, जिनकी उपाधियाँ राव, भूप, नारायण आदि थीं, ने महाराज श्री जयसिंह से विचार करके (किसी खेत के) पाँच भागों में साढ़े तीन भाग (अपना हिस्सा), जो हाटा देश के अंतर्गत बडहर डीहा गाँव में है, उसको, (आम और महुआ आदि सभी सीमा से युक्त) श्री सर्वजित त्रिपाठी को संकल्प करके दान कर दिया। सेनापति श्री सवास तथा आज्ञापाल फोगू ने मेरी अनुमति से इस ताम्रपट्ट का निष्पादन किया। अंकों में 1417 चैत्र सुदि 8 बुद्धवार। यहाँ पर साक्षी श्री माधवाचार्य त्रिपाठी के साथ श्री गणिका: भी साक्षी हैं। धाता बनकर पंडित श्री पदमुक ने इस ताम्रपट्ट को छिन्दित किया। शुभ हो। जो भी राजागण भविष्य में होनेवाले हैं, वे राजा धर्मसिंह के इस दान (का सम्मान करें)।'

अन्त में शापात्मक तथा आशीर्वचनोंवाले दो श्लोक दिए गए हैं जो अशुद्ध संस्कृत में हैं। वास्तव में यह सारा ताम्रपत्राभिलेख ही अशुद्ध संस्कृत में लिखा गया है और ऐसा लगता है कि पुराने संस्कृत-दानपत्रों की प्रेतच्छाया मात्र है। उल्लेखनीय है कि छोटे रजवाड़ों में अधिक पढ़े-लिखे पण्डित नहीं होते थे।

#### महत्त्व :

यह ताम्रपत्र इस क्षेत्र के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उस समय दिल्ली पर मोहम्मद-बिन-तुगलक का उत्तराधिकारी फिरोजशाह तुगलक राज्य कर रहा था। लेकिन उसका शासन केवल राजधानी के आसपास तक ही सीमित था। ऐसे में गोरखपुर क्षेत्र के हिंदू-राजाओं पर उसके किसी प्रकार के नियंत्रण की बात भी नहीं सोची जा सकती। वे स्वतन्त्र राजाओं की भाँति आचरण कर रहे थे। इस ताम्रपत्र में फिरोज या दिल्ली के सुल्तान के नाम का न होना यही दर्शाता है कि दिल्ली शासन का कोई नियन्त्रण इस क्षेत्र पर नहीं था।

उस समय पूरे गोरखपुर में तीन ही राजवंश— बाँसी, उनवल तथा सतासी (वर्तमान रुद्रपुर) का शासन था। इन सभी पर श्रीनेत वंश के राजाओं का राज्य था जो सभी एक ही कुल के थे तथा निःसन्तान होने पर परस्पर संतान गोद ले लेते थे। डॉ० विजय पाल सिंह ने अपनी पुस्तक 'राप्तीतट का इतिहास' में बाँसी तथा सतासी (रुद्रपुर) के राजाओं की विस्तृत वंशावली क्रमशः पृ० 240-41 तथा पृ० 247 पर दी है। इसके साथ ही इनके इतिहास पर कुछ चर्चा पृ० 96 से 99 पर एवं इस ताम्रपत्र की विषयवस्तु का विस्तृत ऐतिहासिक विश्लेषण पृ० 194-97 तक किया है। यह सारी सामग्री अब तक अप्रकाशित थी और उसको प्रकाश में लाने का श्रेय उन्हीं को जाता है जो उनके विस्तृत अनुभव, शोध-प्रवृत्ति तथा स्वयं द्वारा सभी स्थाओं के व्यक्तिगत सर्वेक्षण का परिणाम है। वे इसी क्षेत्र के निवासी हैं तथा उन्होंने उपर्युक्त पुस्तक के साथ 'बस्ती जिले का इतिहास' (1990) लिखकर अपना ऋषिऋण चुका दिया है और आयकर आयुक्त पद से सेवानिवृत्त होने के बावजूद इतिहासकार होने का श्रेय अर्जित कर लिया है।

यहाँ हम कई बातों पर उनसे सहमत न होने के कारण बाँसी सहित सरयूपार क्षेत्र के इतिहास पर एक नये दृष्टिकोण से विचार करना चाहते हैं जिसकी अधिकांश सामग्री उनकी पुस्तकों पर आधारित है।

**राजनीतिक इतिहास :** इस ताम्रपट्ट से यह निश्चित हो जाता है कि इसकी तिथि 1360 ई० है और इस समय धर्मसिंह नामक एक 'महानृपति' उस क्षेत्र में राज्य कर रहे थे जो सम्भवतः महाराज जयसिंहदेव के अधीन थे, अथवा उनके निकट संबंधी भी (भाई?) थे। इसका कारण यह है कि किसी खेत के पाँच भागों में से 'साढ़े तीन

भाग' धर्मसिंहदेव का था और शेष भाग जयसिंहदेव का था। धर्मसिंह ने अपना अंश किसी सर्वजित त्रिपाठी नामक ब्राह्मण को दान कर दिया था और इसके लिये उन्हें महाराज जयसिंहदेव से परामर्श (विचार) की आवश्यकता पड़ी थी। स्वाभाविक है कि दोनों एक ही कुल के थे तथा इस सम्पत्ति के पुश्तैनी हिस्सेदार भी। इसकी चर्चा आगे की जायेगी।

बाँसी तथा सतासी के राजवंशों की जो सूची डॉ० विजयपाल सिंह ने प्रकाशित की है, उनमें धर्मसिंह नाम के किसी राजा का नाम नहीं मिलता। जबकि जयसिंह नामक एक राजा का उल्लेख सतासी के राजाओं की सूची में मिलता है जो छठी पीढ़ी में पड़ते हैं। वे राजा होरिल सिंह के पुत्र थे तथा उनके पुत्र का नाम राजा दिग्विजयसिंह तथा पौत्र का नाम राजा वसन्त सिंह था (पृ० 247)। वसन्त सिंह का पुत्र मानसिंह हुआ जिसे गोरखपुर में मानसरोवर तथा कवलदह नामक दो पोखरों के निर्माण का श्रेय दिया जाता है। मानसिंह के बाद राजा रायसिंह, उनके बाद राजा सुजानसिंह तथा उनके बाद राजा रुद्र का नाम आता है जिन्होंने मुगलों से अपने को मुक्त कर लिया था। इनकी तिथि लगभग 1610 ई० दी गई है।

**सतासी का श्रीनेत राजवंश :** डॉ० सिंह ने गोरखपुर के विभिन्न मुहल्लों तथा पोखरों के नाम के आधार पर उनके निर्माण के श्रेय इस वंश के राजाओं को दिया है। वे लिखते हैं (पृ० 98-99) कि 'गोरखपुर नगर के उत्तर-पश्चिम भाग में मानसरोवर व कवलदह पोखरों के निर्माण का श्रेय मानसिंह को दिया जाता है जो सतासी वंशावली में वसन्त सिंह के तुरन्त बाद हैं। पुराने सर्वेक्षणकर्ताओं (बुकानन, कनिंघम, कार्लाइल) के मानसरोवर निर्माण का समय 950 से 1000 ई० के आसपास माना है। इससे दो अर्थ निकलते हैं या तो अनुमान की त्रुटि है या मानसिंह बसंतसिंह के पहले हुए। वसन्त सिंह का समय 15वीं शती का मध्य है। अधिक सम्भावना यही है कि पहले मानसरोवर बना क्योंकि पुराना गोरखपुर वहीं है। दूसरे, वसन्त सिंह ने राज्य को अच्छी तरह स्थापित हो जाने के बाद किला दक्षिण की ओर बनाया होगा जहाँ वसन्तपुर मोहल्ला बसा है। सामान्य स्थिति में महल किले से हटकर होता था, युद्ध की स्थिति आने पर राजपरिवार किले में चला जाता था। इस वंश के रायसिंह ने रायगंज (मोहल्ला) बसाया, ऐसा माना जाता है। सुजान सिंह को अकबर की सेना का सामना करना पड़ा था और सम्भवतः अधीनता भी स्वीकार करनी पड़ी थी। रुद्रसिंह के समय श्रीनेतों ने मुगलों का जुआ उतार फेंका (लगभग 1610 ई०)। परन्तु गोरखपुर पर निरन्तर आक्रमण की आशंका को देखते हुए उन्होंने वैकल्पिक राजधानी के लिए राप्ती-गोर्ग संगम के पास रुद्रपुर नगर बसाया और वहाँ दुग्धेश्वर मन्दिर भी बनवाया।'

**बाँसी का श्रीनेत राजवंश :** बाँसी आजकल एक बड़ा

कस्बा है जो वर्तमान में राप्ती नदी के दाहिने तट पर बसा हुआ है। नदी के उस पार नरकटहा नामक कस्बा है जहाँ पर राजा बाँसी का विशाल किला और उसके अन्दर महल की कई इमारतें हैं। इसमें वर्तमान राजा जय प्रताप सिंह निवास करते हैं जो विधायक भी हैं। दोनों कस्बे मिलकर नगरपालिका का निर्माण करते हैं जिससे इनकी आबादी का अनुमान लगाया जा सकता है। पहले राप्ती नदी बाँसी कस्बे के दक्षिण में बहती थी और बाँसी नरकटहा एक थे। इस नदी को अब 'बूढ़ी राप्ती' कहा जाता है। किसी समय एक बाढ़ में राप्ती ने अपना रास्ता बदल दिया और बाँसी-नरकटहा के बीच बहने लगी। कहा जाता है कि पहले राजा का किला बाँसी में था जहाँ आजकल 'टेकधर का थान' नामक मन्दिर है। यह भी प्रचलित है कि राजा के किसी दुराग्रह के कारण एक ब्राह्मण ने आत्महत्या कर ली थी और मरने के बाद राजपरिवार को तंग करने लगा जिससे राजा को बाँसी छोड़कर नरकटहा में स्थानान्तरित होना पड़ा। दूसरा मत यह भी है कि किसी मुस्लिम आक्रमण के कारण राजा को बाँसी से हटना पड़ा था। इसी प्रकार बाँसी की स्थापना के विषय में भी दो मत प्रचलित हैं। एक के अनुसार इस वंश के राजा वंशदेव सिंह ने इसे बसाया था तो दूसरी किंवदन्ती यह है कि श्रीनेत राज्य का बँटवारा दो हिस्सों में हुआ जिसमें एक राज्य में सतासी गाँव थे और दूसरे में बयासी गाँव थे। सतासी गाँवों के राजा गोरखपुर में स्थापित हुए और बयासी गाँवों के राजा ने जिस स्थान पर अपनी राजधानी बसाई, उसे ही बाँसी कहा जाने लगा।

इस राजवंश के इतिहास के विषय में डॉ० विजयपाल लिखते हैं (96) 'बाँसी राज्य की वंशदेव सिंह के पूर्व पूर्ण वंशावली नहीं मिलती। परम्परा में वंशदेव सिंह, जिनकी मृत्यु 1484 ई० में हुई थी, इस वंश की 19वीं पीढ़ी के कहे जाते हैं और चन्द्रसेन 34वीं पीढ़ी के। गज़ेटियर के अनुसार श्रीनेतों का राज्य 13वीं शताब्दी के पूर्व नहीं बना।' डॉ० विजयपाल सिंह ने जो सूची बाँसी राजवंश की दी है, वह लगता है गज़ेटियर के आधार पर है तथा उसमें धर्मदेव सिंह का नाम नहीं है। लेकिन इस वंश के प्रथम राजा का नाम जयसिंह प्रथम- दिलीप सिंह का नाम आता है जिसको वे यह कहकर खारिज़ कर देते हैं कि 'श्रीनेतों की वंशावली में बाँसी के प्रथम शासक का नाम भी जयसिंह है, लेकिन उनका समय 12वीं शती के अन्त में पड़ता है। अतः रामसिंह प्रथम से 12 पीढ़ी पूर्व जो जयसिंह है, अधिक सम्भावना यही है कि दानपत्र जारी करनेवाले उन्हीं के सामन्त हैं। (196)।' लेकिन पृ० 240 पर दी गई वंशावली में रामसिंह प्रथम का नाम तो आता है जिनका काल 1678 से 1716 ई० दिया गया है, लेकिन जयसिंह द्वितीय के नाम का कहीं पता नहीं मिलता। इसके अलावा सतासी राज की वंशावली में एक जयसिंह नाम मिलता है जिनके एक भाई बाबू दीप सिंह, कनराई, वासूडीहा (के निवासी) का उल्लेख मिलता है। धर्मसिंह नाम के किसी

भाई या पट्टीदार का नाम नहीं मिलता। लेकिन सिरवन्त ताम्रपट्ट के इस अभिलेख पर भी अविश्वास नहीं किया जा सकता जो 1360 ई० में लिखवाया गया था और जिसमें एक नाम जयसिंह हमें सतासी राजवंश की सूची में मिलता है। अतः इस बात की सम्भावना की जा सकती है कि दोनों जयसिंह एक ही व्यक्ति रहे हों।

लेकिन इसमें एक कठिनाई है। जयसिंह की सातवीं पीढ़ी में पड़नेवाले रुद्रसिंह की तिथि 1610 ई० दी गई है और यह कहा गया है कि उन्होंने मुग़लों की सत्ता से अपने को मुक्त करा लिया था। इस प्रकार दोनों के बीच में 250 वर्षों का अन्तराल पड़ता है और प्रत्येक पीढ़ी को 35.7 वर्ष शासनकाल मिलता है जो बहुत अधिक दिखाई पड़ता है। इसके समाधान का कोई मार्ग हमें नहीं दिखाई पड़ता। ताम्रपट्ट की तिथि को आधार मानकर सोचें तो इस कालखण्ड में ऐसा कोई राजवंश हमें नहीं दिखाई पड़ता जिसने गोरखपुर-बस्ती मण्डलों में शासन किया हो। केवल श्रीनेत राजकुल के लोगों के ही इस भूखण्ड पर शासन का प्रमाण मिलता है। इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गज़ेटियरों की इन वंशावलियों में त्रुटि है और इनमें सुधार की गुंजाइश है।

अतएव वर्तमान परिस्थितियों में यही स्वीकार करना समीचीन होगा कि बाँसी के राज्यकुल में धर्मसिंह देव नाम का कोई राजा हुआ होगा; क्योंकि बाँसी राज्य उस क्षेत्र तक फैला हुआ था जिस क्षेत्र से यह ताम्रपट्ट जारी किया गया था। यह भी ऐतिहासिक तथ्य है, जैसा कि परवर्ती कालों में दिखाई पड़ता है कि श्रीनेतों के ये राजवंश परस्पर सम्बन्ध बनाए हुए थे तथा निःसन्तान होने की स्थिति में एक दूसरे के कुल से बच्चे गोद ले लिया करते थे। उदाहरण के लिए 19वीं शताब्दी के अन्त में बाँसी के राजा रतनसेन सिंह निःसन्तान थे और उन्होंने उनवल के श्रीनेत राजवंश से अपने उत्तराधिकारी राजा पशुपति प्रताप नारायण सिंह को गोद लिया था। इसी प्रकार यह मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए कि महाराज जयसिंहदेव तथा महानृपति धर्मदेव सिंह एक ही कुल से निःसृत हुए होंगे क्योंकि दोनों को ही हाटा देश के बडराडीह गाँव में एक खेत (?) का साझा स्वामित्व प्राप्त था जिसमें पाँच में से साढ़े तीन धर्मसिंह के थे और शेष के स्वामी महाराज जयसिंह थे जिसके कारण उनकी सहमति लेने की आवश्यकता पड़ी थी।

डॉ० सिंह ने इन स्थानों की पहचान सिद्धार्थनगर ज़िले के स्थानों से की है। वे लिखते हैं (197) 'कुछ विद्वान् इसे बड़हलगंज से जोड़ते हैं जो स्पष्टतः केवल नाम साम्य देख रहे हैं। ताम्रपत्र जहाँ से मिला है, अधिक सम्भावना यही है कि उसी के पास सके क्षेत्र से वह संबंधित रहा होगा।' स्पष्टतः यह हमारे उस सुझाव का उल्लेख है जिसमें हमने इन दोनों नामों, (हाटादेशांतर्गत बडहरीडीहागामो) के

हाटा बाजार तथा बड़हलगंज— इन दो सुप्रसिद्ध स्थानों से तुलित करने की बात कही थी। उस समय हमारे सामने सोहगौरा कांस्यपत्र के दो स्थानों— सिलिमते वा वसगमे (सिरिमन्त तथा वंशग्राम या बाँसगाँव) का उदाहरण था जो उसी गोरखपुर-बड़हलगंज राजमार्ग पर पड़ते हैं। मैं इन दोनों स्थानों सहित सोहगौरा की यात्रा भी कर चुका हूँ। इसके अतिरिक्त 1987 में ऊपर उल्लिखित 'युगयुगीन सरयूपार' का संपादन करते समय श्री चन्द्रमौलि शुक्ल का लेख 'सरयूपार के एक पुरातत्त्व अन्वेषक' का प्रमाण भी मेरे मन में था जिसके कारण मैंने उक्त सुझाव दिया था। लेकिन सम्भवतः डॉ० सिंह उसका अवलोकन नहीं कर सके अथवा उसके महत्त्व पर ध्यान नहीं दिया।

ऊपर लिखा जा चुका है कि डब्ल्यू० वोस्ट के अनुसार 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सोहगौरा के निवासी सर्वजित प्रसाद राम त्रिपाठी बाँसी, उनवल तथा सतासी (रुद्रपुर) के राजाओं के गुरु तथा पुरोहित थे। अब यदि इसे सिरवन्त ताम्रपत्र के दान प्राप्तकर्ता सब्जित त्रिपाठी के सन्दर्भ में देखा जाए, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि तीनों श्रीनेत राजपरिवारों का राज-पौरोहित्य त्रिपाठी परिवार में कम-से-कम चौदहवीं शताब्दी से चला आ रहा था। यह 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक बना रहा। त्रिपाठी-परिवार की एक शाखा बाँसी के समीप चेतिया नामक गाँव में आकर बस गई थी जो बाँसी राजपरिवार के पुरोहित थे। वे हमारे परिवार के भी पुरोहित थे। हमको याद है कि मेरे बचपन में चेतिया के गुरु बाबा हमारे घर भी पधारते थे और कई दिनों तक टिक जाते थे। उस समय हमलोगों को भी प्रसाद रूप में खुशबूदार भात खाने को मिलता था। अस्तु !

अतः इतिहास की इन कड़ियों को परस्पर बैठते हुए यह कहना अनुचित नहीं होगा कि सिरवन्त ताम्रपत्र के सब्जित त्रिपाठी बड़हलगंज के पास ही कहीं निवास करते थे और नृपति धर्मसिंह तथा महाराज जयसिंह के राजपरिवारों के पुरोहित थे जिनको धर्मसिंह ने यह दान दिया था। सेनापति सुवास तथा आज्ञापाल फोगू के विषय में कोई जानकारी नहीं है जिन्होंने इस ताम्रपत्र की सहमति दी थी। लेकिन साक्षी त्रिपाठी श्री माधवार्य के विषय में यह कहा जा सकता है कि शायद वे सब्जित त्रिपाठी के कुल के रहे हों जो महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे। ताम्रपत्र के लेखक अथवा तक्षण करनेवाले पण्डित श्रीपदमुक के बारे में भी कोई जानकारी नहीं है।

जहाँ तक चिल्हदेवी जलदुर्ग की पहचान का प्रश्न है, डॉ० विजयपाल सिंह की पहचान एकदम सटीक है जिन्होंने इसे गोरखपुर-गोन्डा लूप लाइन पर पड़नेवाले चिल्हिया स्टेशन से की है। हमने ऊपर यह उल्लेख किया है कि हमारे बचपन में स्थानीय लोग इसको 'कनवा टेसन' कहकर सम्बोधित करते थे जिसके आधार पर हमने इसकी पहचान कनकमुनिबुद्ध के स्थान से की है जिसका उल्लेख

अशोक के निगालीसागर स्तम्भलेख में किया गया है। जहाँ तक चील्हदेवी जलदुर्ग की बात है, हज़ारों किलोमीटर वर्ग का यह क्षेत्र भूगर्भ विज्ञानियों द्वारा 'गंडक डिप्रेशन' नाम से जाना जाता है जिसका संबंध हिमालय पर्वत के निर्माण के साथ है। क्षेत्र में विकास के कारण सड़कें बन जाने के कारण यातायात सुगम हो गया है, नहीं तो हमारे बचपन में बरसात में बाढ़ के कारण बाँसी से लेकर ककरही तक का पूरा क्षेत्र जलमग्न हो जाया करता था तथा नाव से ही यात्रा की जा सकती थी जिसमें पूरा दिन लग जाता था। वह नाव रातभर बाँसी में बँधी रहती थी और दूसरे दिन सवारियों को लेकर ककरही के लिए रवाना होती थी। यह त्रासदी पूर्वी उत्तरप्रदेश के उत्तरी भाग तथा संलग्न बिहार को अनेक शताब्दियों तक झेलनी पड़ती थी। अतः चील्ह में जलदुर्ग का होना कोई अनहोनी बात नहीं है।

ताम्रपत्र की भाषा संस्कृत होते हुए भी बहुत भ्रष्ट है। आशीष-शापात्मक श्लोक भी शुद्ध नहीं हैं। यह ताम्रपत्र दो खानों में लिखा गया है। मूल दानपत्र ऊपर के खाने में है तथा आशीष-शापात्मक अंश दूसरे खाने में उत्कीर्ण हैं। दोनों खाने दोहरी रेखाओं से अलग किए गए हैं। डॉ० विजयपाल सिंह ने इन दोनों भागों के दो अलग उत्कीर्णक द्वारा उत्कीर्ण बताया है, लेकिन यह सही नहीं है। लेख के ऊपर बायीं ओर एक तलवार, बीच में सूर्य और चन्द्रमा तथा एकदम दायीं ओर अंकुश बना है जो सम्भवतः इस राजवंश के प्रतीक-चिह्न हो सकते हैं। लेकिन इस पर कोई अनुमान लगाना ठीक नहीं होगा।

वस्तुतः सिरवन्त का 1360 ई० का यह ताम्रपत्र इस क्षेत्र के क्षेत्रीय इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है।

#### ताम्रपत्र का मूलपाठ \*

- १ ॐ सिद्धिः ॥ विक्रमादूर्द्ध्व (ध्व) श(स)प्तदसा (शा) धिक चतुर्दशशत संवत्सरीय चैत्रशु
- २ क्लाष्टाम्यां वु(बु)धवार । क्षितायां । चिल्हदेवीजलदुर्गे । राय भूपनारायण [ ]
- ३ त्यादि विविध विरुदावली राजी (जि) विराजमान महानृपति श्रीमद्ध
- ४ र्मशीहदेवैः । महाराज श्री जयशिंहदेव सह विजार्य (विचार) कृ [त]वा पंच य
- ५ वरवेन तेस सार्द्धत्रयं दापि(यि)तवान तन्मध्ये हाटादेशान्तर्गत वड
- ६ हरडीहाग्गामो सजल स्थल साम्रसमधूक चतुः सि(सी)मावछिन्नं वि

\* ताम्रपत्र से । इस पाठ को हमारे अनुरोध पर ग्वालियर के प्रो० अरविन्द कुमार सिंह ने संशोधित किया है।

- ७ धाय । तृपाटि (त्रिपाठि) श्रीसर्व्वजित कृते संकल्प दत्तं । सेनापति स्त्री (श्री) सु
- ८ बासा आज्ञापाल्य फोगूहयाउभयोनुमतेन ताम्रपट्टं निष्पायि(दि)
- ९ तं(म्) । अंकेपि संवत् १४१७ समयो चैत्रशुदि ८ बु(बु)द्धे । अत्रार्थे साक्षिणणक्ष
- १० : तृजाटि (त्रिपाठि) श्री माधवाचार्य । शोजनित्ये श्री गयिकाः साक्षिणा
- ११ नाम्नाभूताश्चा पंडित श्रीपदुमकेन ताम्रपट्टं लिषितमिदं ॥ शुभम् ॥
- १२ ये किच्छन्ति भूपालाः भविष्यन्त्यपरैर्भुवि । नृपेण धर्मसिंहेण
- १३ दत्त ग्रामो सहैः स्थलैः ॥ पालयध्व महीपाल नृप दत्तां वसुंधरां । लो
- १४ भमोहाद्यत्मायेन स्वस्वात्ममुक्तताद्रव ॥ गोधनेपिवधे पापाः ये पापाः
- १५ द्विजद्रातने । तानतर्थस्सुलभत्ते हि ये घ्नान्तिमहीमिमां ॥

- धातुकलश अवशेष' भारतीय इतिहास संकलन पत्रिका, (1985), अंक 3 'अवध का क्षेत्रीय इतिहास विशेषांक', पृ० 207-210
8. शुक्ल, चन्द्रमौलि, 'सरयूपार के एक पुरातत्त्व अन्वेषक', युगयुगीन सरयूपार (गोरखपुर परिक्षेत्र का इतिहास) संपादक ठाकुर प्रसाद वर्मा एवं अन्य, वाराणसी (1987), पृ० 15 से 18
9. सरकार, दिनेश चन्द्र । पूर्वोद्धृत, पृ० 68
10. Verma, T.P. 'Writing in the Vedic Age, Harappan and Asokan Writing', *Itihas Darpan*, Vol. 18 (1), 2013, p. 47 ff.



### बायें पार्श्व में दायें पार्श्व में

गोता	नं
तीमा	ड ३ । ६
त्रा १ ये	रभ ६ ।
नमस्य	नी २
ल्हण	
देवा	

### सन्दर्भ :

1. *Indian Archaeology : Annual Report, 1960-61*, A. 104. लेकिन मैंने अपने स्रोतों से जब इसकी पुष्टि करनी चाही, तब यह सन्दर्भ सही नहीं निकला ।
2. Indian History Congress, Proceedings of the 54th Session, as quoted by Dr. Singh.
3. विजय पाल सिंह, राप्ती तट का इतिहास, छत्रपति कल्याण समिति, भिरिया ऋतुराज, बस्ती, उ०प्र०, 2005, पृ० 194-197 । तथा फलक ।
4. Verma, T. P. Identification of Place Names in Sohgaurya Bronze Plaque', *Journal of the Epigraphical Society of India*, Volume Seventeen, pp. 12-17.
5. Sircar, D.C., *Select Inscriptions*, Volume I, (1965) Calcutta, pp. 79 ff.
6. Verma, T.P. *The Palaeography of Brāhmī Script, in North India*, (1971) Varanasi, Chapter II.
7. Verma, T.P. 'The Question of Originality of Inscribed Vase of Piprahva', *Giridharasri, Essays on Indology*, Dr. G.S. Dikshit Felicitation Volume, 1987, Edited by A.V. Narasimhamurthy and K.V. Ramesh, Delhi, pp. 85 ff. इसके साथ ही देखें : ठाकुर प्रसाद वर्मा 'कपिलवस्तु (पिपरहवा) से प्राप्त बुद्ध के



## Metaphysical Basis of Jain Ethical Tradition

John Mohammad Paul \*



From the very beginning there has been freedom of religious thinking in India. This led the people to remove the evils that crept into the prevailing society. The people were disgusted with old philosophical dogmas and were striving for simple methods

of worship and easier means of escape from the ills of this mundane existence. Before this, *Upaniṣads* had already raised their voice against complicated rites, rituals and scarifies. In due course, this opposition grew stronger and took the shape of a religious revolution.<sup>1</sup>

Moral conduct involves a theoretical knowledge of the ethical values as well as their practice in life. The Jains formulate quite clearly that desire and aversion, pleasure and pain, are not pure psychic elements, on the contrary, they are interpreted in the material sense as *karma* in a *pudgala*. *Ācāraṅga*, the earliest of the Jain canonical texts, contains a most eloquent plea for a life above sensuous temptation. Similar sentiments are reflected in other *śramaṇic schools* and sects. Since pleasure itself is a snare rather than good, its rational pursuit could only mean the ordering of life in such a way that no one could gradually win freedom from the craving for pleasure. One should learn to value spiritual freedom as the highest good. The rules for the householder are designed to subserve the ends of virtue within the context of sensuous and practical life.<sup>2</sup> In Jainism pleasure depended on the

senses and desires i.e. material pleasure must be essentially distinguished from the pure pleasure innate in the soul. The Jains have mapped out the ethico-spiritual development into fourteen stages called the *Guṇasthānas*. *Guṇas* stand for specific characteristic of the *jīvas* as constituted by faith, knowledge and conduct, while *sthāna* indicates a stage of purity. Thus it stands for the particular stages of purity through which the character evolves. The Vedic concept of moral law is understood in terms of an impersonal an immortal social tradition. The doctrine of an eternal and impersonal ethos is only a metaphysical projection of this social ethical doctrine which is adopted to uphold and ritualize the obligatory forms of a varied social tradition. Jainism rejects this notion of revelation as the source of moral knowledge. The source of morality is in the knowledge and the faith which are natural powers of the soul. In this way right action depends on right knowledge i.e. what we are to do comes to be indirectly a function of what there is. Thus moral law is nothing but the natural form of action.<sup>3</sup>

Jainism is a doctrine of reality. Reality cannot be denied ontologically, but the self should not be enticed by it. The Jainas do not renounce the world as such, but they avoid all forms of violence. Any act of violence, physical, verbal, or mental committed in this life will have its repercussions and produce results in this next life, thus forging another link in the chain of Karma, which fastens a man to the cycle of life and death.<sup>4</sup> The Jains reject the authority of the Vedas and deny the conception of god as the creator of the world. According to them the soul has *anantajñāna*, *anantadarśana*,

\* Research Scholar, Vikram University, Ujjain (M.P.)

*anantasukha and anantavīrya*, i.e., the infinite knowledge, infinite insight, infinite bliss and infinite power are latent in the soul of men.

Another feature of Jainism is that there is infinite number of souls with various degrees of consciousness. As regards rules of practical morality their first principle is '*Ahimsā*' or non-injury to any kind of living creature. In fact, scrupulous regards for the sanctity of animals is one of the most prominent marks of Jainism.

The Jain tradition sought to ground ethics on the needs and logic of man's higher spiritual nature. It emphasized the curbing of passions, the training of human faculties to follow the self-imposed regulation of spiritual freedom rather than the heteronomy of natural desire and impulses. In short, the realization of spiritual perfection. The Jains however, strongly hold that action has reality and relative freedom and, that it needs to be regulated by principles which can be discovered through spiritual intuition. The Jain view is said to be the affirmation of the world.<sup>5</sup> Action has its source in the innate spontaneity or power of the soul. Real happiness is the state of *mukti or mokṣha*, release from the bondage of *karma*. It is difficult to gain that state, but not impossible since man is *ananta-vīrya*. He has in him infinite capacity and power to subdue and conquer the effects and influence of *karma* and gain liberation.<sup>6</sup> Mental activity in turn induces physical motion and the result is the inflow of material particles, in particular of the infinite and ubiquitous subtle particles, of *karman* which contacts the soul and cover up its parts in diverse ways.<sup>7</sup> Action is the real complex of spiritual, mental and physical elements with a variable degree of freedom such that the complex may be tending towards its erosion or enhancement.<sup>8</sup>

Jainism shows the way to salvation, that is, it leads a soul to the state of an *Arhat* or a *Siddha*, which can be attained only by mystic realization.<sup>9</sup> At every level action remains the expression of the soul's energy and its power to cause a real change to itself and its environments.<sup>10</sup>

Mahāvīra did not believe in god and consequently rejected the view that the world has been created by god who exercises personal control over it.<sup>11</sup> He held that the universe is composed of certain matters and it never comes to an end. The matter only changes its form. Thus there is clearly an

influence of *Sāṅkhya* philosophy on Mahāvīra so far this point is concerned. He further held that the emancipation of man does not depend on the mercy of any outside authority, rather than the man is the maker of his own destiny.<sup>12</sup>

Jainism emphasized the effects of good and bad deeds upon a man's future births and ultimate salvation; decried caste, preached religion in the common language of the people, and lastly, encouraged the idea of giving up the world, and organized a Church of Monks and Nuns.<sup>13</sup>

As a religious system, Jainism is a very austere religion, demanding considerable self-restraint of its votaries. Jainism rejected the authority of the *Vedas* and objected to the *Vedic rituals* and the Brahman supremacy. It advocated a very holy, ethical and elevating code of life and severe asceticism and extreme penance for the attainment of *mokṣha* or the highest spiritual state. Modern Jainism embodies these very doctrines of Mahāvīra.<sup>14</sup> One implication of this doctrine is that the distinction of good and evil must be held to be objective and independent of subjective relativity. Another implication is that action must be held to create an unconscious and persistent force which remains connected with the psyche of the agent and has the capacity of directing it into situations. Beginning as a state of the mind or *bhava-karman*, action generates a bodily resultant, *dravya-karman* or mind is *pudgala-karman*.<sup>15</sup> That good and evil are originally distinct states of the commonly accepted by the Jains and the Buddhists.<sup>16</sup>

*Ahimsā* is the fundamental ethical concept and the central doctrine of Jainism. In Jaina terminology, the word *Ahimsā* has a much wider connotation than its literal meaning, the entire Jaina *Ācāra* is based on the principle of *Ahimsā*, and not only the monks but the householders also must avoid *himsa* to the greatest possible extent. All sins are caused by *himsā*; indeed any passion is *himsā*.<sup>17</sup> As Hemacandra says, *Ahimsā* is the beneficent mother of all beings; it is the elixir for those who wander through the ocean of reincarnation.<sup>18</sup>

For strengthening the vows of *Ahimsā*, five Bhavanas have been prescribed in Jainism - that is to say, care in speech, thought, movement, food and drink. Violence leads to loss of peace and enmity here and worse evils in after life. The painful consequences of violence for others must be contemplated on the analogy of violence to oneself

without such a sense of equality or unviseralization of the subject. It is impossible to really practice virtue. The Jain concept of purity of the will, recognition of the similar and equal nature and claims of all other souls to regulate action in the light of such recognition. This constitutes the process of *ahimsā*. Apart from the control of violent emotions towards other human beings, the principle of *ahimsā* in Jainism implies vegetarianism. The principle of *ahimsā* has its relevance in the current political life as well shown by Gandhi. The writings of Jaina scholars like that of Hemacandra reveal that one basic principle of arthaśāstra was acceptable to Jain scholars who only emphasized the king's duty of helping the cause of Jain faith, being just and impartial and avoiding war as much as possible.<sup>19</sup> The spread of pacifism, however, can be effective only if human nature is sufficiently educated morally and spiritually not to seek the settlement of disputes even at the expense of others. In other words, unless the Jaina ideal of equality between oneself and the others is distributely realized in a society, the ideal of non-violence cannot be effectively adopted collectively. The tenants of Jainism are equally valid in present day world when violence and materialism are regaining rampart. Jain principle can serve as a beacon light in this direction.

#### References:

1. Sharan, *History of India*, Sanjeeva Prakashan, 1st (Ed.). Meerut, p.65.
2. G.C. Pande, *Lecture on Jainism*, Published by Delhi University Press, p.15.
3. *Ibid.*, p.20.
4. A.K. Majumdar, *Concise History of India*, Chanakya I.A.S. Academy, Delhi, p.329.
5. *Ayaranga, 1.1-5*, See, G.C. Pande, *Op. cit.*, p.6.
6. A.K. Majumdar, *Op. cit.*, p.329.
7. *Pravacanasāra, II. 76*, p.216.
8. *Akalanka on Tattvārthasūtra*, Vol. II, p.490.
9. A.K. Majumdar, *Op. cit.*, p.330.
10. *Pravacanasāra, 2.88*, *Op. cit.*
11. S.C. Raychoudhary, *History of Ancient India*, Surjeet Publications, Delhi, 1st Ed., p.105.
12. *Ibid.*, pp.105-106.
13. R.C. Majumdar, *Ancient India*, Motilal Banarsidass, Delhi. p.169.
14. Sharan, *Op. cit.*, p.74.
15. *Cf. Samayasara, 3.88-91; cf. Amrtandra and Pravacanasāra, 2.30.*
16. The Buddhist use word *Cetana* while the jains speak of *Bhava*.
17. A.K. Majumdar, *Op. cit.*, p.330.
18. *Ibid.*, p.331.
19. G.C. Pande, *Op. cit.*, p.28.

## Indo-Japan Common Social Customs : A Review

G.K.Lama\*



hough India looks little less advance today in spheres of science and technology as compared to a few countries of Asia and the Western nations, nevertheless, India's cultural heritage is rich, and as a matter of fact, there was a time when she

used to be regarded as the *Jagadguru* –the intellectual mentor of the world, and her glory stood at the pedestal. She has produced great philosophers from the time of her very inception who, by their preaching and practices, have proved themselves to be the prophets and progenitors of great spiritual, cultural and social upheavals, and have made lasting imprints on various cultures and civilizations of the world.

Spirituals and religious bonds appear to be of over-whelming significance in that they are the forerunners of all other aspects of the Indo-Japanese relations, and it is through them that India and Japan first knew each other. India's reverential image in Japan finds a reflection in the story that is told to Japanese children by their grand-mothers depicting India as *Tenjiku* (paradise)-an old Japanese name for India (Das 1969:180). As a matter of fact, there are many religious traditions that co-exist in Japan, *i.e.* Buddhism, Shinto, Christianity, Confucianism, Folk religion, and many other New Religious Movements. However, it is

only through the first two religions that both, India and Japan, look to be spiritually inter-linked to a great extent.

### Common Social Customs

Apart from the spiritual and religious bonds, there is also to a great extent the similarity in most of the festivals that are celebrated in both the countries. Here, it would be proper to say that these social customs too are largely the off-shoots of the twin religions of Shinto and the Buddhism. These proximities in the above-mentioned spheres are important in determining the enthusiasm of the peoples of two countries to get closer. The familiarity of celebrations can be appreciated in respect of the following customs.

### Four Buddha Festivals

Of the many festivals observed in Japan in the memory of Gautama Buddha, the three outstanding are his birthday, the day of enlightenment and the day of *Nirvāṇa*. The dates are quite different from those in India. Now a fourth festival (an old Buddhist festival in India) – *Higan*, has been chosen for his preaching and propagating the Lord's message (Kosho Yamamoto 1960:3).

Annually, on April 8th, the birthday of *Śākyamuni* (Buddha)—the founder of Buddhism is celebrated throughout Japan. Every temple of note observes the ceremony of *Kan-Butsu-e* or “Baptizing ceremony of Buddha”, which consists mainly of pouring “Sweet tea” from tiny ladles over a small statue of the infant Buddha as an expression of devotion, and then drinking the beverage. This day is also called the 'Flower Day' in Japan (Nakamura 1961:3-4).

\* Asst. Prof. (Archæology), Dept. of A.I.H.C. & Archæology, Centre of Advanced Study, Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi-221 005 (U.P.); Mob.: 09956275758; e-mail: gklama09@gmail.com

### **Moon-Worship**

The moon is worshipped both in India and Japan. In Japan *Jugoya* (Sep. 27) is said to be the night when the Japanese people admire and make offerings to the harvest moon. Formerly, there was another day to view and fete the autumn moon. This was called *Jusanya* (13th evening) which comes a month after *Jugoya*, or on October, 25. In ancient days, full moon viewing became an elaborate custom. The people went on boats to rivers or sea-shores to view the *Jugoya* moon, or gathered at restaurants on hill tops or riverside. A display of fireworks was held at the River *Sumida* to amuse the moon worshippers on the river: The old Rite of moon-feting is still kept up. A table or stand is set up in the garden, and fruits and vegetables are offered to the moon. Moon-Viewing dumplings are made, and flowering *Susuki* or Japanese pampas are placed in vases in honour of the moon. Children particularly look forward to this rite.

### **Sun-worship**

Sun-worship is still a popular faith in Japan, particularly old folk both in cities and rural areas are seen worshipping the sun every morning. Rising early, they step outside, and facing the eastern sky, they clap their hands and bow thousands the sun. Such prayer to the sun is made in India too by religious minded Hindus. To the Japanese people, the sun rules their life. The sun gives them food, and so they must be thankful to it. When children waste food, mothers warn them that they will anger the sun and be punished (Lal 1963:44).

### **Altar in every home**

The Japanese too like Indians maintain altars in their homes for worshipping gods. Practically, every orthodox Japanese home is provided with a Shinto or Buddhist family-altar or both. The Shinto-altar, called *Kami-Dana* (or Gods Shelf) is provided for worshipping the Shinto deities, chiefly the Goddess *Amatrasu*, the ancestress of the Royal family of Japan. The Shinto family altar has no image or statue. The *Butsudan* or Buddhist altar became popular in Japan after the Emperor Temmu issued an order in the third month of CE 686 to the effect that every family should be provided with a Buddhist family altar and the Sūtra. This old custom of Japan seems to remain despite the people's loss of faith in many ancient traditions.

### **Purification Ceremony**

There is also complete identity of outlook as to the

observance of the Purification ceremony. The Japanese, as a race, are one of the cleanest people. Like the Hindu traditional Brahmins, they never permit shoes to enter the house. They believe in purification of both soul and body. At the entrance of a Shinto shrine, there invariably stands a large basin of water. Sometimes, it is an elaborate and artistic basin, made of stone or metal, placed under the high roof supported by lacquered pillars. Then again, it is often a simple and small wooden or stone basin.

It is customary for all people entering the shrine compounds to wash their hands, and rinse their mouths at the basin. There are small wooden or metal dippers placed at those basins, for use by visitors. This custom of washing and rinsing at the entrance of a shrine is based upon the belief that the shrine compound is sacred and things evil may not enter. Persons sick or with evil thoughts are not permitted to approach the shrine. Thus, to purify one's soul and body, the custom of washing hands and rinsing mouths has developed.

### **Bells, Drums and Hand-clapping**

In Japan, huge bells and drums are to be seen in every temple, and it is fascinating to see women devotees beating drums with deep religious fervor. Huge bells are symbolic of Buddhist temples, but *Taiko* or drums represents Shinto shrines. Not only various kinds of drums are used in *Gakaku* or sacred Shinto Music, but also drums are beaten at the common services held at various Shinto shrines and Buddhist temples. Worship by hand-clapping too is an indispensable practice. As pious persons approach shrines, they softly clap their hands before they bow or pray. The hand-clapping is a customary habit at all places of worship and during all rites. The hand-clapping is done to concentrate one's attention, and also arouse the spirit of the shrine and draw its attention to the prayer or worship to be offered (IB 1968:133-134).

### **Kārtika-Baths & Pilgrimage**

The Buddhist in Japan celebrate a winter festival of whole month's bare foot-pilgrimage and cold water baths reminding one of the *Kārtika* month's celebrations in India. This is called *Kan-Mairi* or 'Kan-worship'. What happens is that during the *Kan*, or coldest season, which generally lasts for 30 days – from early January to early February many devout Buddhists make pilgrimages on each night to various temples. In former days, these devotees

were naked, save for a loin cloth, and were bare-foot, and at each temple they visited, they would often pour cold water over their naked bodies. This ablution is sometimes observed today, with the idea their prayers will be accepted because of this devotion.

In addition to Kārtik-Baths-pilgrimage, the Indian as well as the Japanese people undertake long pilgrimage for pleasing the gods and attaining spiritual salvation. Likewise the Indian people too, go on pilgrimage to the four sacred corners of their vast country. The Japanese also are very devout pilgrims. The pilgrimage to the 88 temples in Shikoku, South of the Inland sea, is most famous of all religious pilgrimages in the country. All the 88 temples are connected with the faith and life of Kobo Daishi, the great Buddhist priest who studied in China at the beginning of the 9th century and established the great temple of *Koyasan* and *Wikayams*. The whole course (The pilgrimage of the 88 temples) is about 700 miles long, and on foot it takes more than 40 days. Pilgrims from all parts of the country meet on the road or at inns, and become friends. Just as the Indians give alms to the local people in the belief that this will pave their road to salvation. The craze of '*Mukti*' is common in both of India and Japan (IB 1968:136).

#### The Homa-rite

The *Homa* (or '*goma*' as it is called in Japanese) is a Sanskrit term meaning fire sacrifice. It is a kind of religious rite performed in India as well as in the esoteric Buddhism of China and Japan. Its origin can be traced back to the ancient Indo-Iranian period and the *Rgveda* records that a fire festival for the fire god *Agni*, was performed at a very early time. When a fire sacrifice is made on an altar, the flame ascends to heaven and reaches the mouth of the fire-god, and the god is thus enabled to subdue devils and give happiness to mankind (Lal 1963:45).

#### Prayers for Rain

Prayers for rain are observed in many countries, but the practices performed in Japan will take one back all the way to the Himalayan valley of Kullu (India), where the villagers not only pray to the gods but punish the priests and village-gods to force them to bring rains for their own safety from punishment.

The custom in Japan is that the farmers and their families gather at village shrines or temples and offer their prayers for rain. Sometimes they climb high mountains in the neighbourhood and

hold prayer meetings on mountain tops. Also *Amagoi-odori* or rain-praying dance is held in many localities. Such dances held at night are usually, very noisy with the beating of big drums and bells to arouse the god of rain. Rain prayers are often made to statues of *Jizo* (*Kṣitigarbha*). In olden days, when farmers in the Kyoto district desired rain, they used to go to the *Enryakuji* Temple and made the priest offer rain-prayers. In many parts of the country, farmers carried statues of *Jizo* and threw them into rivers or lakes believing that *Jizo* would bring rain to save him from drowning.

#### Kailas of Japan

The Japanese people worship in the same way as do the Indians. *Fuji San* (Mount Fuji) is the Kailas (Holy Mountain in India) of Japan. The perfect, majestic and conical peak of Mount Fuji, rising in sublime grandeur 12,395 feet above sea-level, is the highest, as well as the most famous mountain in Japan. Just as pilgrims in India go to visit Badrinath, Kedarnath, and Kailash, the Japanese have a season of pilgrimage to Mount Fuji (Nakamura 1961:3-4).

#### Sacred-Ropes

The Hindu *Bandanwār* (sacred rope) is hung before Shinto shrines and over the entrance to homes and sacred places. This is made from rice-straw and used in abundance during the New Year festival week. A Japanese legend says that when goddess *Amaterasu*, divine ancestress of the Imperial family of Japan, hid herself in a cave because of repeated offences of her brother Prince Susano, a rope was put across the entrance of the cave by Prince Futodoma to prevent her from going back to the cave again. Since then straw ropes are believed to sanctify the place or thing around which they are put. The *Bandanwār* is a very old Hindu custom which denotes happy celebrations and keeping off the evil spirits (Nakamura 1964:52).

#### Sanctification of Cow

The cow is a holy creature both for the Japanese people and the Hindus. The Japanese who had never killed a cow until 1856 (the visit of Townsend Harris, First American consul to Japan), have raised a tree-*stūpa* in honor of the first butchered cow in the precincts of *Gyokusenji* temple at Shimoda, near the decaying stump of citrus tree to which was tied the cow that was first butchered to entertain the American diplomat. This was an unusual slaughter as Buddhist and Shinto religions strictly prohibited the use of meat for food. The diplomat was

accommodated in the temple (during the war, the Japanese kept prisoners in temples). When it became known that Mr. Harris was a beef-eater, the owners of cows throughout the neighborhood were so alarmed that they built high railings around their cow-sheds in order to prevent their cows from being butchered for the American diplomat. This memorial to the first butchered cow has an interesting background connected with a legend of Buddha in a previous incarnation.

### 108—Sacred Number

In India, the number 108 has long been regarded as very sacred and *Śri 108* is used as a prefix before name of sages and great scholars. The same applies to Japan. On the New Year's midnight, 108 booms of gong are heard from every temple to announce "Happy New Year". A Japanese diplomat told me of the significance of 108 tolls. He said that according to Chinese calendar, they had in Japan 13 months, 24 atmospheres and 72 climates, making the total 108 in all; hence the 108 booms of the gong. In India, the Hindus and the Buddhists use Mala string of 108 beads for prayers. According to Buddhists in Japan, man has 108 worldly cares, which can be dispelled if one fingers a string of 108 beads for one's prayers. The Buddhists repeat the holy mantra of *Namo Amida-Butsu* just as Mahatma Gandhi recited 'Ram-Nam' (Conze 1980:94-95).

### Faith in Fortune Telling

In Japan, many shrines of the country give *Mikuji* (sometimes called *Omikuji*) or written oracles to the worshippers on their requests. Sometimes small payments are demanded for giving *Mikuji*. This is a practice which is very much in vogue even in the present Indian Hindu society. In Japan, visitors to such shrines who have faith in the virtues of the *Kami* regarding their present and future. Particularly, when such visitors are troubled or are unable to decide on some important questions, they wish to be guided by the Kami's wish of the Kami regarding any particular matter, they ask for *Omikuji* at the shrine office.

The faith in sooth-saying is so intense that even the street fortune-teller are very popular in Japan, for the orthodox Japanese consult them on various occasions. If, for instance, orthodox Japanese has to move away from one dwelling place to another, he will meet a fortune-teller concerning the lucky direction for him, for in this country a direction is lucky or unlucky according to the

circumstances of each of either sex. If a person is infected with a protracted or serious disease, a fortune-teller is consulted to see under what evil star the patient was born, and whether or not his attendant physician is good for him. When a young man or girl is going to get married, his or her mother or father will see a fortune-teller to ask whether or not the match proposed will be a good one. In this way, a fortune-teller is consulted on every good or bad occasion, and his advice has a strong bearing upon the daily-life of the orthodox Japanese who seem to believe in fortune telling. It can fairly be said that this practice of fortune telling is completely identical with that obtaining in the case of the Hindus in India.

### The Family System

Japan, like several other things, has imported the family system from India, and is faithfully preserving it to her advantage. While there have been several in-roads into the Indian family system because of poverty, social evils, and slavery, and there is tendency to put an end to family system, Japan has been saved by the very system in this age of competition. There are reasons to believe that the family system itself is not bad since it teaches real co-operation and sacrifice for the common unit. These days, other members of an Indian family are regarded burden to an earning member. In Japan, on the other hand, everyone works, and they are a blessing to the family. That is the beauty of the family system in Japan.

The outstanding difference between the family system in India and Japan on the one hand and the family system in Europe and America on the other, is that while in the former case parents and children form the nucleus of the family. The family in India and Japan is commonly called a large family or a patriarchal family, while the family in Europe and America is said to be a small family or modern family. The former is strong family in the idea of constancy, aiming at preservation of the family name, family lineage, family occupation and communal property. A new family in the case of the latter, is created by a man and woman, and is dissolved when they die or are separated. In short, the longevity of the couple is that of the family.

### The Doll-Festivals

The Doll-Festival is common both in India and Japan. The Japanese Doll-Festival, thus, reminds one of the South Indian Doll-Festival celebrated

during the *Navarātr* festival on the occasion of *Durgā-pūja*.

The South Indian celebration is very elaborate. The center on which the Festival of *Navarātri* moves is an array of dolls, called the *Kulu* in the Tamil language. In anticipation of *Navarātri*, many middle-class homes and all the rich ones have a number of dolls stored carefully in boxes; and each year during the season new dolls are added. The dolls are indigenous origin, handmade by about three or four thousands South Indian families. Dolls of glass, and wood are also available, but most of them are made of clay, and gaily painted. In *Kulus* many of the dolls represent mythological figures familiar to every Indian like 'Lord Kṛṣṇa' and 'Subramanya' and Sage 'Nārada'. Here, for instance, is Śrī Kṛṣṇa playing his pipe and behind him, the cows and calves listening in rapt attention. Here is a figure of *Sarasvatī*—the goddess of learning, playing on her *Vinā*, a stringed instrument loved by South Indians. Here is a *Mahā Viṣṇu*, the protector of the world, lying on *Ādiṣeṣa*, the thousands-headed snake. Here is the 'Maharṣi Nārada' with his *Capala* (musical percussion instrument), seeking someone on whom he can play some trick for the greater good of man and of God. Themes other than mythological ones are also represented among the dolls. For instance a bride and a groom, a snake charmer, a policeman etc. Modern political ideas are also not wanting. The South Indian patriot of the early days is portrayed taking the oxen's place, dragging the oil mill lever, sentenced to hard labour by an alien government.

In Japan, 'The Peach-Fete', more popularly known as the "Festival of the Dolls", a time honoured festival for girls is held yearly on third day of the third month—3rd March. The dolls are not the everyday dolls usually played with, but are ceremonial dolls, a heritage of the household, handed down, many of them, from generation to generation for a few days' display in the best room of the house at this festival time, after which they were carefully boxed and put away until the next year. Parents, who are able to do so, buy new sets of dolls for a girl baby since the preceding festival, and relatives and friends make gifts of dolls. Usually a set consists of at least 15 dolls, all in traditional costumes. The display also includes miniature household articles which often are exquisite artistic productions : a chest of drawers, *Libachi* (charcoal

heater), a dinner table set, bowls, toilet stand, musical instruments, a palanquin in which the dolls are supposed to go out, and other tiny articles—lacquered, if the purse permits. The dolls most highly valued are the *Dairi-Sama*, which represent the Emperor and Empress in resplendent court costumes of silk. They are attended by their minister, court ladies, and musicians. All are displayed on a tier of steps, usually fine, from 3 to 6 ft. long and covered with bright red cloth. The Imperial couple occupies the top step, the Emperor at the left of the Empress. Court ladies and banquet trays are and dishes occupy the second tier; the other dolls are arranged on the lower tiers. Peach blossoms, symbolizing happiness in marriage, are always among the decorations of the stand; also, being full and round, the peach blossoms signify the feminine characteristics of softness, mildness, peacefulness. Many marriages take place on the day of the Doll-Festival.

### Transmigration of Soul

The Japanese believe in the Hindu theory of transmigration of soul and there are many stories in Japanese literature which support this belief. In this connection, there is a story of the twice born man which is often narrated to support this view. The story is that in the province of 'Tyō' in 'Shikoku', there is a small village called 'Fotoke Mura' in which lived a peasant named 'Sakuta'. While dying at the age of sixty, Sakuta informed his villagers that he had a dream last night that he would be reborn. When the villagers ridiculed his testimony to this effect, Sakuta asked them to tattoo on his forehead the words *Fotoke mura no Sakuta*, and pledged that the same words would appear on his forehead after his rebirth. The tattooing done, *Sakuta* quietly passed away. And about three years after Sakuta's death, a baby was born to a wealthy family in 'Maruyama' in 'Kyoto' (Hackmann.1994:86). Curiously enough, on the forehead of the baby were marks like Chinese characters, which though small and faint at first, grew large and clearer as the child grew, until at last they distinctly read *Fotoke Mura no Sakuta*. And the ideographs were erased only after a spoonful of earth taken from Sakuta's grave in *Fotoke-Mura* was sprinkled on the forehead of the baby as directed by a sooth-sayer.

The faith in the transmigration of the soul has been widely stressed in the great Hindu epics. The *Bhagavadgītā* says: *The soul is never born nor*

*dies; nor does it exist on coming into being. For it is unborn, eternal, everlasting, and primeval; even though the body is slain, the soul is not. As a man discarding worn-out clothes, takes over new ones; likewise the embodied soul, casting off worn-out bodies, enters into others which are new. Weapons cannot cut it nor can fire burn it; water cannot drench it nor can wind make it dry. Lord Kṛṣṇa further says to Arjuna : The death of him who is born is certain; and the rebirth of him who is dead is inevitable. It does not, therefore, behoove you to grieve over an inevitable event.*

### **Cremation of the Dead-body**

There is a great deal of similarity between the practice as to cremations of the dead men in both of India and Japan. In Japan, funeral customs vary greatly according to different districts, but most funerals now-a-days are conducted by Buddhist rites. The basic rules for a Buddhist funeral are given in an ancient Sutra. It reads: *Cleansed with hot water, dressed in cotton cloth, placed in a golden coffin, sprinkled with ointment, covered with aromatics, burned in a fire, bones collected and placed in a tower.* According to these instructions, the dead formerly were washed with hot water. The task was called *Yukan* (hot water bathing), which was an important part of the funeral ceremony in the past. This practice has died out in the cities, but in some rural districts it is still observed. The dead are dressed in white cotton clothes, not only because the Sutra says so, but also because white is considered pure and clean.

### **Śrāddha-Festival & Ancestor-worship**

As an extension of the faith in the transmigration of soul, the Japanese as well as Indians believe that the soul is immortal, and that it is only the physical body that dies. Death simply means the separation of the soul from the body that ceases to live. From this belief in immortality of the soul have come various customs.

The Japanese celebrated the *Śrāddha*-Festival (Re-union with the dead ancestors) with high religious fervor and in solemnity. It is called the Festival of *Obon*. It is derived from the Sanskrit *Olaban* meaning a festival for the spirits of the dead ancestors. *Śrāddha* is one of the oldest Hindu festivals which Buddhism adopted, and in Japan it came through China in the middle of the seventh century. The Japanese Buddhist holds the time-honoured annual festival of *Obon*, the 'Feast of

Lanterns', for three days starting from July 13 for the well-being of the spirits of their dead dear ones. During the period, they live very near the spirits of those gone, inviting them to the earthly adobe for the annual family reunion. In rural districts, where the community life is simple and unsophisticated, the reception given to the spirits of the dead relatives is much more realistic than in a city. The people feel the presence of the spirits and even talk to them for their own satisfaction. So real, so homely and so unquestioning is their attachment to the spirit-world that the scene of the "Feast of Lanterns" in the countryside is full of pathos. Groups of brothers and sisters may be seen here and there walking along narrow paths across the paddy fields. During the season, Buddhist families invite priests to have them offer prayers to console the spirits. House-wives make special delicacies for the entertainment of the living and the dead members of their families. In the evening of July 15, they place a dish of white rice dumplings on the table as offerings to the spirits so that they may take the food with them for lunch on their way home to the other world. The head of the family once again lights the entrances of the house with the burning of helm reeds for the spirit relatives who are departing for the other world.

Other than *Śrāddha*-Festival, the Japanese keep their ancestors in high reverence. The first bowl of cooked rice is offered to the ancestors every morning (as in orthodox Hindu homes). Whenever the family has special food, either made at home or given by others, it is not eaten before it is first offered to the spirit of the family ancestors. When a marriage or graduation of a son from school, or other important event takes place, the matter is reported to the ancestors. The Emperor follows this custom, and reports all important state and court affairs to the 'Grand shrine *Ise*' where the spirits of the Imperial Ancestors live.

The Hindus in India offer equally great respect to their ancestors. In the months of October-November, the traditionalist Hindus offer water to the *Pipala* tree after taking bath in the morning for the comfort of their ancestors. Thus ancestor worship forms a spiritual part of the Hindu religious life too. One of the outward symbols of such a custom is very much in evidence in the rainy month all over Bengal, in localities inhabited by Hindus. It takes the form of lights fixed to the tops of high

poles, and placed on the terrace. These are called *Ākāśa-pradīpa*, and represent wishes and hopes of the family for its preservation and the repose of the ancestors' souls. This practice is part of the invocation to 'Viṣṇu', the Preserver, which begins before sun-rise each day during this month, and is completed, with the lighting of oil lamps in the evenings. The *Tulasī* plant, which is established as a family god in most homes, is also kept as the symbol of "Vishnu", and worshipped regularly by the women folk for the welfare of the family. The privilege of lighting the *Ākāśa-pradīpa* is denied to those whose line of direct male descent has become extinct. In the olden days, the *Dīpāvalī* Illuminations too, were labors of love and almost a part of the festive rituals. It is, one presumes, to meet the exigencies of the festive rituals which constitute modern life that the illuminations have remained, more brilliant and effective than ever, but the original idea has been sacrificed.

#### Post-World War Era & Multi-Lateral Cultural Exchanges

In the past, cultural interchange between India and Japan was one-sided. In short, Japan played always the part of receiving Buddhist culture through the intermediation of China. On the contrary, Japanese culture left almost no footmarks on the Indian soul. The trend underwent a sea-change since the beginning of the 20th century.

The Indo-Japanese Cultural Co-operation in the 20th century may be said to have begun on a more or less reciprocal basis with the visit to India in 1902 of Baron Okakura Kakuzo. His friendship with Rabindranatha Tagore and other Indians who were impressed by Japan's rapid progress and tended to look up to Japan as the model for nascent India paved the way for greater contacts between the intellectuals of the two countries. Okakura's plea that:

*'Asia is one and that the basic Ideals of all Asiatic countries were identical was a great source of inspiration in the political and cultural fields.'* inspired Tagore to observe that: *'the voice of the East came from him to our young men. That was a significant fact, a memorable one in my life.'* Sri Aurobindo, one of the initiators of the revolutionary movement in Bengal, which later spread to other parts of the country, acknowledged 'the inspiration of Baron Okakura.

Okakura's visit to India deserves notice on

account of the two-fold importance of his influence—political and cultural. He was a pioneer among the Meiji artists and belonged to the Japanese School of Art which was holding out successfully against the invasion of Western Schools of Art in Japan. He was instrumental in arranging prolonged visits of some leading artists of Japan to India. Two of them, Yokoyama Taikwan and Hishida Shunso, lived with Tagore family for a couple of years, and "the Memorial of the Co-operation", to quote Tagore, "is still alive in the Modern art Movement started in Bengal", under the leadership of Abanindranatha Tagore.

Okakura also sent an instructor of *Jiu-Jitsu* who stayed at Shanti Niketan for some time training pupils and teachers in this form of self-defense. Around this time, a number of Indian students also visited Japan for training in Industries, especially ceramics and textiles, and established industrial units in India on their return.

During the thirties, India attracted several scholars and artists from Japan. Two of them whose visits should not go unnoticed were Yoni Noguchi, a noted poet who spent several weeks in India delivering lectures at Calcutta and other Universities, and Nosu, a famous painter who executed a series of frescoes on the life of the Buddha at the Vihāra built at Sarnath.

From India's side, Rabindranatha Tagore, who visited Japan in 1924, 1929 and 1961 was during the first three decades of the present century the most outstanding cultural ambassador of India to that country. He left such a deep impression on the Japanese mind as would never be forgotten. His memories of visits to Japan have been collected in book form under the title *Japan-Yātri*, and remain perhaps the most penetrating and sympathetic study of Japanese life in any Indian language. In recognition to such lovely works the "Tagore Memorial Association" in Japan was founded in 1961 on the occasion of his Centenary festival—a ceremony which was held with great respect and splendor, while a number of books and pamphlets were published in his honor. From a bibliographical appendix attached to the commemorative volume issued by the above-mentioned Association, one can see that Japanese publications concerning Tagore that appear between 1914 and 1961, number more than 500. On the same occasion, the "Collected Works of Rabindranatha Tagore" in

Japanese translation was published in eight volumes together with a supplement.

Among other great leaders of spiritual life well-known to the Japanese people, mention may be made of Swami Vivekananda. There exists in Japan a special group sympathizing with his thought. On the occasion of his Centenary in 1964 a cordial celebration took place in Tokyo and several publications were dedicated to the saint's memory.

Mahatma Gandhi's ideal of peace and his practical morality too deeply impressed the Japanese nation, especially in the difficult time after World War II. A considerable number of books and papers have been written on his life and principles. Unfailingly, a grand Centenary ceremony in his honor was held in Japan too in 1969.

The late Prime Minister, Jawaharlal Nehru also left an indelible impression upon the Japanese people. As a statesman and pacifist, he gained high esteem, and his personal visit to Japan in 1957 strengthened the feeling of respect and familiarity towards him. It gave clue to the foundation, through the sponsorship of the Indian Embassy and the Japanese Ministry of Foreign Affairs, of the "Japan-India society" with two centers in Tokyo and Kyoto. Ever since, the society has been playing an active part in promoting mutual understanding and cultural exchange between the two countries. Nehru's principal works, including *Discovery of India* and *Autobiography* can be read in Japanese translation.

The years following World War II found both India and Japan pre-occupied with their respective problems of national reconstruction, problems which though different were in each case overwhelming in their magnitude. Nevertheless, thanks to the vision and foresight of the leaders in both countries, early efforts were made to revive and strengthen economic and cultural ties. In 1949-50, the Indian Prime Minister sent an elephant, together with a message of good-will to Japan in response to requests from Japanese children. Consequently, in 1950-51, the good-will evoked by India's presentation of two giant salamanders and two bears from Japan to India. This year itself, a set of books on India was presented to the Tokyo University. In 1952-53 an exhibition of Indian art was sent to Japan. In 1954-55 fraternal delegates of the Japanese National Commission for UNESCO were invited to attend the first Conference of the

Indian National Commission for UNESCO in New Delhi, and in the same year, some Indian films were presented to the Misuka Women's Association, Japan. Between 1954-55 and 1956-57, scholarships were institute for the study of the Japanese language, fellowships and travel grants were given for study and research by Japanese students at Indian Universities, and a UNESCO travelling exhibition of Japanese students visited India. In 1956, Indian delegates participated in the Regional Conference of Representatives of National Commission and Indian dance troupe led by Smt. Mrinalini Sarabhai visited Japan.

It was at this stage that India and Japan signed a Cultural Agreement in October, 1956. It is remarkable that while the main Japanese interest lay till recently in Indian philosophical studies, that of India has been in the study of modern Japanese life and technical development which in its more extensive assimilation and adaptation of the modern civilization of the west offers a useful field of study to India. Thus the Agreement was, in effect, recognition of the need for enlarging the area of cultural communication between the two countries. Appropriately, the provisions of the Agreement include:

1. Promotion of better understanding between the two countries by means of books and publications, lectures, concerts and theatrical performances, art and cultural exhibitions and radio and films;
2. Exchange of professors, scholars, students and members of scientific and cultural institutions;
3. Provision of facilities for training of each others' nationals in scientific, technical and industrial institutions;
4. Provision of facilities for establishment of cultural institutions of either party in other country;
5. Encouragement of competitions between sports teams of the two countries;
6. Award of scholarships to each others' students; and
7. Provision of facilities in the museums, libraries, etc., of either country to the nationals of the other country.

Although the agreement was not followed, as was envisaged, by regular biennial exchange programmes, the field of interest in cultural

exchanges between the two countries has grown larger.

The year following the agreement was marked by a Japanese offer of scholarships for Indian students and the visits to Japan of a delegation of Indian litterateurs for participating to the P E N. International Conference at Tokyo and of an Indian dance and music troupe. The same year, the Government of India extended their sympathy to the victims of flood in Japan, and sent 3,000 lbs of Indian tea as a gesture of their sympathy.

In 1958-59, Swami Ranganathananda visited Japan to attend the IX International Congress for the History of Religions and undertook a six week lecture tour. The same year, a dance and music troupe also went to Japan from India consisting of eminent artists like Ravi Shankar, Kamla Laxman and Damayanti Joshi which simulated great interest in Indian dancing and music.

In 1959-60, a five member delegation from India participated in the 2500th Buddha Jayanti Celebrations in Japan, and two distinguished Japanese scholars, Prof. Hajime Nakamura and Prof. Masakiyo Miyamoto came to India (Singhal. 1984:47-49). The same year, a six member team of Japanese Archaeologists and historians visited India to see the ancient monuments. Two Japanese mountaineering teams also came during the year in an attempt to climb *O Chuya* and *Gaurishankar*. A Cultural team, including an expedition of tiger-hunters sponsored by *Yominri-shinebun* visited India in December of the same year. In this year itself, the President of India donated a sum of Rs. 14,000 towards the construction of Library buildings of the Otani University, which is world renowned for the Buddhist studies. Also, the Government of India, through their Embassy in Tokyo, donated 3,000 lbs of tea to the Japanese people as a token of sympathy for the suffers from the typhoon which wrought unprecedented havoc in Japan (Snelling 1987:173).

In 1960-61, the Rev. Riri Nakayama, chief priest of the *Hozenjit* Temple, Tokyo, paid a visit to India, as did the famous philosopher Dr. D.T. Suzuki who was in the same year honored by the Indian Council for Cultural Relations with the Fellowship of the Council. The same year, an all women Mountaineering team successfully climbed the *Deo Tibba* peak in the Kulu valley. A delegation from Indian parliament headed by its Speaker Shri

Ananthasayanam Ayyanger also Visited Tokyo in this year to attend the 49th Inter-parliament Union Conference.

In 1961-62, India was represented by a delegation of 29 eminent scholars and performing artists in dance and music in the East-West Music Encounter held at Tokyo. The Government of India presented a rhinoceros to the Tokyo Metropolitan Zoo as a gesture of good-will and friendship towards Japan. Japanese scholars participated in the Centenary Celebrations of Indian Archaeology held in New Delhi, in the same year. Mr. Y. Tsutsumi a member of the Japanese Parliament and ex-Chairman of the House of Representatives came to India on a good will mission, as a Special Envoy of the Prime Minister, Mr. Ikeda. The Japanese Vice-Minister of Justice, Mr. Yoshitsuju Baba, visited India to study the reforms being carried out in the Lucknow Jail.

In 1962-63, Prof. Suniti Kumar Chatterji, Savant and National professor, and Kumari Kamla, a well-known dancer, visited Japan, and professor N. Yamamoto, noted Economist came to India on a lecture tour. Also, a "Central and Southern India Expedition Team", consisting of 8 Japanese specialists, visited India this year to study certain medical problems and to acquaint themselves with the cultural aspects of life in India.

In 1963-64, Prof. Sambamoorthy visited Japan on a lecture-tour, and an Indian delegation led by the Director, Development Center for Music Instruments. All India Handicrafts Board, Madras, and consisting of 12 *Kathak* dancers visited Tokyo to participate in the conference of the International society for Music Education of Youth and Adults. Also, a Youth Good-Will Mission consisting of 19 members, sponsored by the Japanese parliamentary delegation consisting of six members travelled through India in September this year.

In 1964-65, delegates from Japan came to India to participate in the XXVI International Congress of Orientalists held in New Delhi. The *Nichigeki* dancing team of Japan toured India in January this year under the sponsorship of the Japanese Embassy in New Delhi. The team's performances entitled "spring-time splendour of Japan", and consisting of classical, folk and modern dances in four shows spread over two days, and delighted packed houses in Bombay. Students, Good-will Mission consisting of three Japanese

students visited India in August this year under the sponsorship of the Asia Fellowship Society of Japan. The same month, two Buddhist groups consisting of thirteen and fifteen members respectively toured India for more than a fortnight, visiting places of Buddhist interest. Mr. Masayoshi Ohira, Foreign minister of Japan, attended the funeral of the late Prime Minister Jawaharlal Nehru, and joined the public Meeting of Condolence at the Ramlila Grounds in New Delhi along with Indian leaders and leaders of other Countries. In this very year, Smt. Indira Gandhi (then Minister of Information and Broadcasting, Govt. of India), the Regional president of the International Co-operative Alliance, visited Japan on her way to the United States in the month of April to attend the conference of the International Co-operative Alliance, which had been organized with particular reference to the "Role of Co-operation in social and economic development" in collaboration with central Union of Cultural Co-operation, Japan. A delegation led by Mr. S. D. Misra, Deputy Minister (Co-operation) also represented India at the Second Asian cultural Co-operative conference held in Tokyo in the same month to discuss measures to be taken in future for the development of Cultural co-operatives in the region, and for strengthening mutual co-operation. Mr. Shriman Narayan, then member of the Planning Commission, paid a visit to Japan in April at the invitation of the Chairman of the Japanese Committee for studies on Economic Development in India and Japan. In the month of October, two Child Ambassadors with an adult escort visited Japan for one month at the invitation of the International Children's Good-Will Association, Tokyo. They carried with them colorful Indian toys and friendly letters for the Japanese children. The Child Ambassadors visited Nikko, Osaka, Kyoto, Nara, and other places. They also witnessed the Olympic Games on the special invitation of the Mayor of Tokyo.

In 1965-66, Prof. K. Doi, Head of the Department of Hindi, Tokyo University, visited India. The Japanese Prime Minister's special Envoy Mr. K. Kawashima visited India in September. Several leaders of Japanese Parliament (Diet) too visited India. A number of dignitaries from India too, official as well as non-official, including Jayachamaraja Wadiyar, Governor of Madras, Dr. Karna Singh, Governor of Jammu and Kashmir, Dharma Veera cabinet Secretary to the Govt. of

India, C.P. Ramaswami Aiyar. Vice-Chancellor of Annamalai University, P.C. Sen, Chief Minister of West Bengal, and the Deputy Minister in the Ministry of External Affairs, Dinesh Singh visited Japan.

In 1966-67, the Indian National Commission for UNESCO participated in the 8<sup>th</sup> UNESCO International Child Art Exhibition held in Japan. The late Indian Jurist Dr Radha Vinode Pal visited Tokyo on the special invitation of the Japanese Government to receive the first class order of the Sacred Treasure conferred on him by His Majesty, the Emperor of Japan. A Japanese youth Good-Will Mission sponsored by the Youth Bureau of the Japanese Prime Minister's Office and a Japanese Medical Survey team also visited India. At the invitation of the Indian Council for Cultural Relations, a Japanese dancing team was sent by the Japanese society for International Cultural Relations, under the sponsorship of the Japanese Government.

In 1967-68, the famous *Novnurma Kyogen* Dancers of Japan came to India in connection with the East-west Theatre Seminar and Festival held in New Delhi. Shri B.R. Bhagat, Minister of state in the Ministry of External Affairs, represented India at the funeral of the former Prime Minister of Japan, Mr. Yoshida. In the same year, Dr. Mulk Raj Anand, Chairman of the *Lalit Kala Academy*, participated in the International Symposium on Fine Arts in the East and the West, held in Tokyo.

In 1968-69, a large number of important persons from India visited Japan e.g. Dr. N. Sanjiva Reddy, Speaker of the Lok Sabha, D.R. Gadgil, Deputy Chairman of the Planning Commission, C. N. Annadurai, Chief Minister of Madras, S. Nijalingappa, President of the All India Congress Committee. Important visitors from Japan to India were Mr. Koichiro Asai, Special Envoy of the Minister of International Trade and Industry and Minister in-charge of *Expo-70* and Dr. Shiroschi Nasu, former Ambassador of Japan in India. Three Parliamentary delegations visited India in the month of October (Menon *et al.* 1968:7-13).

Many of the visits and exchanges in the field of Cultural Collaboration enumerated above were materialized at the instance of or with the active support of the respective governments. There are other Government sponsored and private organizations in India which have all contributed in

no small measure to promoting Cultural exchanges with Japan—the foremost among them being the Indian Council for Cultural Relations, an Organization setup by the Government of India in 1950 for the specific purpose of promoting international understanding and closer cultural ties between India and other countries. In 1961, the Council organized in New Delhi the Asian History Congress which was attended by distinguished delegates from most of the Asian countries. Japan was represented at the Congress by Prof. T. Yamamoto Professor of History and Mr. M. Ara, Lecturer in Indian History at the Institute of Oriental Culture, Tokyo University. In 1966, Dr. M. Ishidate, Director National Institute of Hygienic Sciences, Japan, and Dr. Saburo Okita, Director, Japan Economic Research Center were invited to attend an international Seminar on *India and South-East Asia* which was also organized by the Council in New Delhi. From among the many distinguished scholars and artists from Japan who have visited India in recent years under the auspices of the Council, mention may be made of Rev. Kesho Ohtani; Dr. Saburo Kikuchi, Director of the Afro-Asian Culture Center, Tokyo; Mr. Tatuo Morimoto, noted writer; Dr. Senjen Gakura, noted painter; Prof. Hajime Nakamura; Prof. Yoichi Nakagawa, well-known novelist; Prof. G.H. Sakari, Professor of Buddhism and Indian philosophy at Otani University; Prof. Ujitani; Prof. A. Hirakawa who came here to work at the *Bhandarkar Oriental Research Institute*, Poona, on a Project relating to Chinese Buddhism; Mr. Yukio Mishima, the well-known author; and Dr. Miss K. Tsurumi, writer and Professor of Sociology, Sekei University. Two Japanese parties of performing artists have been to India in recent years, one in 1963 and another in 1966. These performances of Japanese dance and music were organized by the Council in New Delhi.

Scholarships for studies in India, travel grants and hospitality given by the Council to Japanese students and research workers include travel grants to Miss. K. Lizuka for a study tour in connection with research on Indian architecture, and to Messrs S. Suzuki and K. Nakano, students of Tokyo University in 1963-64. A scholarship was granted by the Government of India in 1964-65 also to Japanese student for studies and research in an Indian University. Japan too has not lagged behind in encouraging studies by Indian students in Japan by the grant of scholarship from time to time. In

1954-55, the Japanese Government offered two scholarships to Indian students for the study of Japanese language and literature in Japan. In 1959-60, the Japanese Government again granted scholarships to two Indian students. Two scholarships were granted again in each of 1962-63 and 1963-64. In 1964-65, the number of scholarships granted by Japan to Indian student was four. As in the previous year, the Japanese Government gave six scholarships to Indian students in 1966-67 (Menon *et al.* 1968:17-21).

Communication in the field of sports too has not been less impressive, and it has been extended by the visits of Japanese hockey, football and tennis teams to India, and the participation of an Indian Sports Contingent in the Tokyo Olympiad in 1964. They have also been a number of encounters between the sportsmen of the two countries in the Asian games.

#### Epilogue

The brief account given above would show an increasing cultural commerce between the two countries. Although what has most impressed the people of India about today's Japan is the "miracle" of economic recovery and development. The love of beauty of the Japanese people has not failed to make its impact. This is evident in the increasing adaptation in India of the Japanese textile designs which reveal a wonderful sense of color and motifs, and the cultivation of the Japanese art of flower-arrangement in a growing number of modern Indian homes. *Ikebana* and *Sugetsu* Schools have already established themselves in Delhi and one or two other places. The influence of Japanese landscape gardening is also found in the ordering of the several public and private gardens in India, including the beautiful *Buddha Jayanti Park* on the Western Ridge and the *Roshanara Garden* in Delhi.

However, it will be noticed for reasons already stated, that the progress of Cultural Co-operation between the two countries has not been even, and that some important facets of cultural life of the two countries have not received the attention they deserve. It was realized in the R-T Conference, 1968 that Cultural Collaboration should cover all aspects of intellectual and creative activities relating to education, Science and Culture. The aforesaid suggestions were understood to be merely indicative of the many possibilities that exist of promoting greater cultural co-operation between

India and Japan. It was emphasized in the R-T Conference that the area of possible co-operation is almost limitless; so is the desire for international co-operation and understanding between the two countries. What is called for is the meeting of minds, recognition of mutual interest and pooling of the limited resources for the common good of both the countries.

After a long gap due to the hard efforts of our present Prime Minister Mr. Narendra Modi the Indo-Japan cultural relation and mutual understanding is going to take a new dimension and we hope in coming years this relation will be very fruitful to the both countries.

#### References:

- Conze, Edward. 1980. *A Short History of Buddha*, George Allen and Unwin.
- Das, Durga. 1969. *India from Curzon to Nehru and After*. Collins St. James Place. London.
- Hackmann, H. 1994. *Buddhism as a Religion*, N. Delhi.
- Information Bulletin*. 1968. Public information Bureau. Ministry of Foreign Affairs. Japan.
- Kosho, Yamamoto. 1960. *A History of Japanese Buddhism*. The CIIB. Tokyo.
- Lal, Chaman. 1867. *Japan Shows the Way*. Indian Council of World Affairs. New Delhi.
- Menon, Lakshmi N., Anil Kumar Chandra and Inam Rehman. 1968 in their paper *Cultural Collaboration between India and Japan*. R-T Conference. New Delhi.
- Nakamura, Hajime. 1961. *Japan and Indian Asia*. Farma K. L. Mukhopadhyaya. Calcutta.
- Nakamura, Hajime. 1964. *Indian Studies Abroad*. Indian Council for Cultural Relations. New Delhi.
- Singhal, D.P. 1984. *Buddhism in East Asia*, Delhi.
- Snelling, John. 1987. *The Buddhist Handbook*. London: Rider



## Role of Women in Ancient Indian Temples

Pravin Kumar Sharma\*



emple, in ancient India, was having a lot number of servants and considered as a biggest employment centre. In the beginning, the temple was a small unit with a single priest managing both the secular and religious matters of the temple.

Afterward, the activities of the temple covered all walks of life of man and society such as meditation, education, banking, commerce, agriculture, health, economic functions, social activities and arts. The all pervasive activities of the temple, generally, required the services of a large number of servants. Undoubtedly, the temple was a major source of employment for the people, next only to the state.

In a Hindu temple, generally, the worship of divinities was translated into practice by constructing temples and enshrining their images in them. The temple became recognised centres of public and individual worship that became important feature of Hinduism in early medieval India.

'The worship in the temple starts with waking up the deity with chants and music, followed by the first of the five or six main *pūjās* of the day. Twice the deity is given a sacred bath (*abhiṣeka*) and decorated with beautiful garments and ornaments. The offering of food (*naivedya* or *bhoga*) completes the morning *upcāra*. After the dawn *pūjā*, various objects such as a mirror, parasol, fan, flag, emblem,

fly-whisk, incense, lamps and camphor are offered to the sound of bells and temple music, accompanied or followed by chants of invocation, dedication and praise. Distribution of *vibhūti* (sacred ash) or *kumkuma* as well as *prasāda* is then carried out. Then follows the noon *pūjā*, sandhyā *pūjā* and in the night *ardha jama* (midnight) *pūjā* and putting the deity to sleep ceremonially.<sup>11</sup>

On the other hand, the temple played an important role in the socio-economic life as an institution providing ample employment opportunities. The activities of the temple covered all aspects of life of man and society like meditation, education, banking, commerce, agriculture, health and fine arts. Thus people were engaged to serve the temple in various capacities involving religious, administrative and other manual work. The various categories of servants engaged in a temple can be broadly be grouped into male and female.

Generally, all pervasive activities of the temple naturally demanded the services, of women, too. They also took active part in the various temple duties. Based on the profession, they can be classified into two categories— skilled and unskilled. Skilled female servants like temple administrators, *pujārins*, superintendents, dancing girls, singers, musicians, etc., were well versed in their professions. Temple also appointed various unskilled professional female servants like sweepers, cleaners, pounders of paddy, helpers and garland makers, etc. It is interesting to note that women were treated at par with men, and were allowed to hold responsible jobs like temple managers, *pujārins* and administrators.

\* Senior Research Fellow, Dept. of Ancient History, Archaeology & Culture, Deendayal Upadhyay Gorakhpur University, Gorakhpur (U.P.)

It is interesting to note that even women were entrusted with the management of the temples. Huliabbajike, a women disciple of Sirinandi-pandita, was appointed as an administrator of a Jaina Temple at the Agrahara of Soratavura in CE 1071.<sup>2</sup> Another, Kundanambi erected a *Śivālaya* in the Damodara Agrahara and granted lands for the offerings and worship.

The *pūjārī* is one who performs the *pūjā* in the temple. He is the only authorised and acceptable person to enter the premises of the *garbhagrha*. His appointment is normally made as soon as the temple was constructed and the deity consecrated with rituals by the king or village assembly. *Pūjārīs* (priests) are variously referred to as *Śiva-brāhmaṇas*,<sup>3</sup> *Śrīvaiṣṇava Brāhmaṇas*,<sup>4</sup> *ācāryas*,<sup>5</sup> *nambis*<sup>6</sup> and *mahantas*, etc. They were maintained either by the temple or the devotees through gifts of villages, lands, assignments of dues, etc. In ancient India, women also were appointed on the post of *pūjārī* in the temple. For instance, Revabbe was a *goravi* (priestess) of the Mūlasthāna Temple of Sirivur (Yalishirur) in CE 11th century.<sup>7</sup> *Gorava* and *goravi* were respectively the priest and priestess of the Kuruka (shepherd) caste.<sup>8</sup> Poona, an eminent Kannada poet of 10th century also refers to a *goravi*.<sup>9</sup>

There were several records which mention to dancing girls (*devadāsīs*) attached to temple. The institution of *devadāsīs* dated back to a much earlier period.<sup>10</sup> Second *maṇḍala* of the *R̥gveda* is ascribed to “Paruchchapa, the son of *devadāsī*. Children were generally named after the title of the father. But this exception to the rule indicates the existence of the *devadāsī* system—women dedicated to the service of gods, a system which can be traced to the Indo-European period.”<sup>11</sup>\* A Prakrit inscription<sup>12</sup> of 3rd century BCE, in a cave of Ramgarh in Vindhya hills, refers to Sutanuka, a *devadāsī* who loved a painter, Devadinna.

Kauṭilya refers to *devadāsīs* along with aged *gaṇikā* widows and young helpless women as suitable employees for the state factories for spinning yarn from cotton, jute, wool, etc. Kālidāsa's Meghadūta also mentions to the employment of

such *devadāsīs* at the temple of Mahākāla in Ujjayinī. Such *dāsīs* were also maintained in some temples of the Sun-god at Multan at the time of Hiuen-Tsiang's visit to India.

The big temples had establishment of *devadāsīs* engaged in performing dances on both daily and special occasions. They maintained their own pipers, drummers, conch-blowers, musicians, choristers and dancing girls for the daily routine as well as for the temple festivals.

The Manne (District Bangalore) plates<sup>13</sup> of the Rāṣṭrakūṭa king Prabhūtavarṣa records that the king granted a village, free from all imposts, for dances performed by dancing girls, singing and drums for the Jaina Temple at Mānyapura.

The presence of a large number of dancing girls,<sup>14</sup> dance masters<sup>15</sup> and superintendents<sup>16</sup> to supervise the activities of the dancing girls and musicians in the temple strongly suggests special interest taken in the development and refinement of these arts.

Music was provided by both male<sup>17</sup> and female<sup>18</sup> singers and reciters appointed in the temple service. The male singers used to recite the *Śāstras*,<sup>19</sup> *Prabandhas*,<sup>20</sup> *Vedas*,<sup>21</sup> *Mantras*,<sup>22</sup> sacred texts like the Purāṇas and the Bhagavadgītā,<sup>23</sup> etc.

There were a large number of dedicated girls in the temple complexes. So it was necessary to appoint dance masters to train them in the art of dance. In the absence of available data we cannot give an accurate number of dance masters and dancing girls in a temple. There was appointed a dance master to teach twenty-four dancing girls in the temple of Kolar District.<sup>24</sup> *Nāṭya-maṇḍapa* was constructed for the same purpose.<sup>25</sup>

Dance was performed by dancing girls specially trained by the temple through its dance masters. Dance performances were not confined to Hindu temples alone. They were patronised by Jaina temples also. They had separate hall for the dance performers. Thus find from an epigraph<sup>26</sup> that a certain Nāgadeva erected a stone pavement and a dancing hall in front of the Kāmanātha-Pārśvadeva-basadi.

It is observed that the temple, having become a centre of attraction for the devotees, used to entertain its patrons (deities and devotees) by arranging occasionally dramatic performances based on the Purāṇas and the Epics. Some of the

\* This apparently a wrong interpretation and a wrong reference. Paruchchhapa was the son of well-known Divodāsa. In *R̥gveda* I.127 the *ṛṣi* is Paruchchhapa Daivodāsi, which means son of Divodās [Ed.]

temples had separately built Nāṭaksalai (theatrical halls) within their premises.<sup>27</sup> Along with the professional actors appointed by the king<sup>28</sup> and local courtesans<sup>29</sup> dancing girls of the temple also might have taken part in the performances. The presence of stage managers<sup>30</sup> in the temple service indicates the importance given to theatrics by the temple. The stage manager must have been looking after the rehearsals by the actors, construction of stage and provision of accessories as well as comforts of the audience for successful performance of the dramas.

There were numerous records which provide us sufficient data about decorators in the temple. Women were given responsibility of decorating temples—interior and external portions—by using flowers with various designs and colours, etc. They were directly involved in these functions. Women were given gift for maintenance and decoration of floor with designs before the god of the temple at Simhāchalam.<sup>31</sup> Another gift was also made to Jannama in CE 1309 for decorating the floor before the same god.<sup>32</sup>

Numerous unskilled female servants were also appointed in temples mainly for sweeping, smearing of cow-dung in the temple, for pounding the paddy to remove husk from rice, for preparing food offerings, distribute the *prasādam*, bringing water, making garlands, looking after the lamps, carrying plates along with the deity during festival occasions, waving the flywhisks to the deity, etc. When the temple allotted a house for a particular family, it is but natural that it should engage in one way or the other all the adult members of that family in its service. Suppose the temple engaged a musician for the service of the temple what would the other members of the family do? It is expected of the musician that he would request the temple authorities to take his family members, including females, into the service of the temple, because this would automatically increase the income. Therefore, from the point of view of economy, the temple would engage the female members of family for sweeping, cleaning, etc., in the temple.

Thus, the services of the female members of the families of Sūdra attendants, watchmen, water carriers, messengers, etc., belonging to the unskilled professions, must have been utilized by the temples. Some inscriptions refer to several dancing girls doing such services as sweeping, cleaning, pounding the rice in the temple. Generally, after selecting

intelligent and beautiful girls for training them as dancing girls, the temple could use other female slaves for decoration, cleaning, washing, and pounding the paddy. In this way, temple was one of the biggest employers next only to the state during the medieval period which had numerous female employees also.

#### References:

1. Usha Kris and R. Champakalakshmi, *The Hindu Temple*, New Delhi, 2001, p.93
2. Jyotsana K. Kamata, *Social Life in Medieval Karnataka*, p.108
3. *Epigraphia Carnatica*, VI, Chikmagalur, 89 (AD 1265); *Epigraphia Carnatica*, X, Mulbagal, 187 (CE 1270); *Ibid.*, Kolar, 143 (CE 1284); *Ibid.*, Chintamani, 52 (CE 1297)
4. *Epigraphia Carnatica*, V, BI.58; *Ibid.*, BI, 71; *Epigraphia Carnatica*, V(1976) In. 88 (CE 1276)
5. *Epigraphia Carnatica*, X, Chintamani, 50 (CE 950); *Epigraphia Carnatica*, VI, Kadur, 143 (CE 1275)
6. *Epigraphia Carnatica*, XII, Chiknayakanahalli, 2; *Epigraphia Carnatica*, V (1976), Tn. 88 and 96.
7. *South Indian Inscription*, XI, no.50 (Yalisirur) CE 1005
8. *Indian Antiquary*, XI, p.126.
9. Jyotsana K. Kamat, 'Social life in Medieval Karnataka', p.108, *South Indian Inscription*, XI (i), III. Soratur (CE 1071)
10. K. Ismail, *Karnataka Temples: Their Role in Socio-economic Life*, p.121
11. Shakuntala Rao Shastri, *Women in the Vedic Age*, p.36
12. A. L. Basham, *The wonder that was India*, p.185
13. *Epigraphia Carnatica*, IX, NI.61 (CE 802)
14. *Epigraphia Indica*, XIII, no.14 (6 dancing girls); *Epigraphia Carnatica*, X, Kolar, 121 (CE 1225) (12 dancing girls); *Ibid.*, Bp.38 and Kolar 106 d (24 dancing girls); *South Indian Inscription*, no.66 (400 dancing girls).
15. *Epigraphia Indica*, XIII, no.14; HAS, no.18, Ins. no.13; *Epigraphia Carnatica*, X, Bp.380; *Ibid.*, Kolar, 106d
16. *South Indian Inscription*, II, no.66
17. *Epigraphia Carnatica*, IX, NI.61 (CE 802); MAR 1937, no.27 (CE 1100); *Epigraphia Carnatica*, VI, Chikmagalur, 137 (CE 1130); *Ibid.*, Kadur, 149 (CE 1205).
18. *South Indian Temple Inscriptions*, I, no.393; *Ibid.*, no.520
19. *Annual Report of Mysore Archaeological Department*, 1937, no.27
20. *Epigraphia Carnatica*, X, Malur, 17
21. *Epigraphia Carnatica*, V, BI.59 (A.D.1174)
22. *Ibid.*, BI.161 (1285)
23. *Ibid.*
24. *Epigraphia Carnatica*, X, Bp.38a; *Ibid.*, Kolar 106 d
25. *Epigraphia Carnatica*, II, Vindyanagri, no.335 (CE 1195)
26. *Epigraphia Carnatica*, II, Vindhya giri, 335 (CE 1195)
27. *South Indian Inscription*, no.124
28. Chandra Bhan Gupta, *Op. cit.*, p.7
29. Ajay Mitra Shastri, *India as seen in the Brihatsamhita of Varahamihira* (Delhi, 1969), p.87
30. *Epigraphia Carnatica*, X, Kolar, 106d; *Ibid.*, Bp.38a
31. *Tirumala Tiriupata Devasthanam Inscriptions*, V, 92, Tirupati
32. *South Indian Inscription*, VI, 1127, Simhachalam.

## Ancient Indian Women and their Activities

Babita Kumari \*



he theme of women and work in ancient Indian society can be perceived from a different angle. The ancient poets and writers were eloquent on women and beauty, women and chastity, women's interest for dress and ornaments and the glorified nature of wifehood and motherhood. The association of women with productive or creative work is an aspect on which most ancient texts have kept mum. Whenever the activity of women is described, it is usually related to household. In fact the main duties of women were to look after the children, husband and other family members, to attend the family budget, cooking, cleaning, drawing water from the well, churning, husking and other household work. In Brahman household, the wife had to be present at the altar because no sacred fire could be lit or offerings made without her cooperation. In traditional Indian society a housewife did a lot of work from dawn to dusk, but she could never be called a working woman. Hence in this paper only that kind of work has been considered which is productive either in the nature of actively participating in the family occupation or doing something independently for wages.

For a long time there was no *purdah* system prevailing in Hindu society and women used to receive education of a fairly advanced type. Here

the question arises whether women could follow any career, if urged by a natural inclination or forced by adverse circumstances?

In the Vedic society, Aryans were mostly engaged in military and semi-military activities, as they were engaged in subjugating the country. So they had to trust upon women for cooperation to a great extent. Their women used to take an active part in agriculture and also to manufacture bows, arrows and other war materials. Vedic saṁhitās also refer to female workers in dyeing, embroidery and basket-making. It is interesting to note that the Vedic saṁhitās have mentioned special word to denote female workers in the said crafts, which got disappeared in the subsequent literatures. The saṁhitās mentioned that women in higher circle were engaged in various crafts, but they gave up these professions subsequently. Although the women of the lower classes continued to do such jobs as before.

During the post-Vedic period, career in teaching was most common among the women of elite class. A separate word 'ācāryā' was made to distinguish the lady teacher from the wife of a teacher who was called 'ācāryānī'. Some of the lady teachers were specialized even in dry and difficult branches like theology and philosophy. About in the 4th century BCE a lady named Kāshkretsna had composed a work on 'mīmāṃsā' called Kaskritsni. Lady scholars, who used to specialize in that work designated as kahskritshan.<sup>1</sup> Similarly Maitreyī and Gārgi Vacaknai were the distinguished philosophers of their times. We come to know that most commonly lady teachers used to teach grammar,

\* C/o Er. Gangadhar Jha, (Om Colony), North to M.R.D. Girls High School, At+PO (BAZAR) Sitamarhi-843302, Dist. Sitamarhi (BIHAR), e-mail: kumaribabita91@yahoo.in, skjha513@gmail.com

poetry and literature. It seems, some male students also approached the lady teachers of eminence for guidance quite often.

Jainism and Buddhism opened a new and respectable career for talented and educated women established themselves as teachers and preachers. Among the nuns of Therīgathā, majority of women had renounced the world during their maidenhood and Aupama, Gutta and Sumedha became very famous preachers.<sup>2</sup> Jain traditions says about Jayanti, a daughter of Sahasranikā of Kuśāmbī, who had put off her royal robe and became devout nun after being influenced by Mahāvīra.<sup>3</sup> We have a reference of a Jain father having four daughters who used to tour all over the country and challenging all for sundry debates on philosophical matters. Saṃghamitrā, daughter of Aśoka, went to Ceylon and became there famous as a teacher of Holy Scriptures of Buddhism. Another veteran lady Dhammadinas established herself as a successful preacher.<sup>4</sup> Sukka<sup>5</sup> and Patacara<sup>6</sup> also selected the path to preach. Bhadda was described as a learned, fluent, wise and famed for her religious discourses.<sup>7</sup> Nanduttara, who was a renounced speaker and a great debater, converted from Jainism to Buddhism by Mahā Moggallāna.<sup>8</sup> Female teachers and preachers of Buddhist and Jain faiths have certainly given their valuable services to the mankind.

During the first century CE, we find the reference of famous female scholars and poetess. Gathasaptasati informs about even poetess named Revā, Rohā, Mādhavī, Anulakṣmī, Pahāī, Vadhavāhāī and Śaṣiprabhā. Śīlabhaṭṭarīkā, Morulā, Morikā, Subhadra and Vijayank were celebrated poetess of Sanskrit anthologies.<sup>9</sup>

In the cultured Hindu family fine arts like music, dance and painting were encouraged for girls since very early times. Veteran ladies in fine arts were appreciated in the society. But they could not have continued in music as their career because nowhere we come across references indicating that dancing female folk were respectable in the society. It may be further pointed out that when the tradition of early marriage came into prevalence, it was not possible for females of cultured family to get adequate proficiency in music before their marriage. It seems that music was not encouraged as a career for women because of the strong cultural and social decorum and seclusion. Fine arts of dance

and music became the exclusive qualities of courtesans.

Some females were attracted by medical career also. We have the examples of ladies who studied Medical Science and mostly specialized in curing the feminine diseases like modern lady doctors. A book on Gynaecology written by a lady doctor was translated in Arabic by the order of Khalifa Harun al-Rashid. This lady doctor's name appears as 'Rusa' in Arabic.<sup>10</sup> But it is difficult to figure out the exact number of lady doctors in the ancient Indian society. Definitely their numbers would have been on finger tips.

Some women adopted the career of courtesans in ancient Indian society. They were generally regarded libidinous but the society treated them with a certain amount of consideration as the custodians of fine arts. They were respected for their achievements in fine arts. By the later Vedic age, we have references to more regularized form of prostitution recognized as a social institution. Early Buddhist literature, especially the Jātakas mention the existence of different categories of courtesans. Every city had a chief courtesan who was the ornament of the city. She was called the Janapadakalyāṇī, literally meaning the benevolent woman of the country.<sup>11</sup> Chief courtesan of prosperous cities maintained their own trained group of singers and dancing girls and led a life of princess. Capitals like Vaiśālī and Rājagṛha had chief courtesans of their own, who were formally installed by the state with a great pomp and show. In the days of Buddha Ambapālī was the chief courtesan of Vaiśālī, whose life style was not less than that of a princess. She earned a considerable admiration in the society. Buddha with his hundred thousand followers accepted her invitation for lunch and received gift of a mango grove for the Buddhist order. Salvatī, the chief courtesan of Rājagṛha, was also accomplished and enjoyed the equally high status. Some courtesans were the persons of high character and constancy. Vasantasenā of Mṛcchakaṭīkam can be put in that category.

Courtesans or dancing girls in large number were employed in the royal court. They were engaged in numerous works. Kauṭilya assigns them the duties of common maidservant at the palace such as umbrella-bearers, in-charge of king's toilet, dress and ornaments, etc. They also accompanied the king in hunting and military expeditions and

cooked the food for him.<sup>12</sup> Besides these duties they were used to sing, dance and stage dramas in the royal courts. They could also be employed as spies by the secret services department.

Some women were employed as door-keepers, guards and body-guards in the royal courts. In the Arthaśāstra of Kauṭilya we have reference of female body-guards of the King Candragupta Maurya. The Lalitavistara mentions women who carried filled pitchers, jars full of perfumed water, garlands, jewellery and ornaments, etc. Kauṭilya laid down the rule that *gaṇikās*, '*veśyās*', *dāsīs*, *rūpajīvas*, etc. were to be given pension by the state during their old age.

Women were employed as *devadāsīs* in temples also, both as paid and unpaid workers. They were governed directly or indirectly by the state and enjoyed some degree of protection. Many inscriptional instances of South India confirm this fact.<sup>13</sup> Besides singing and dancing before the deity, it was the task of *devadāsīs* to clean the temple with cow dung apart from cleaning the rice.<sup>14</sup> Meghadūta of Kālidāsa refers to dancing girls present in Mahākāla Temple of Ujjayinī.<sup>15</sup> Several Purāṇas also confirm the presence of dancing and singing girls. Some of the Purāṇas even recommended the purchase of beautiful girl for temple. Although this custom was vehemently opposed by a group of Brahmanas, but the royal support eventually succeeded in making this custom continued. The associations of dancing girls to the temples were fairly common in other ancient civilizations like Egypt, Babylonia, and Corinth in Greece, etc.

It seems that some ladies were participating in the business activities too. Normally women of lower and middle class used to take an active part in the business of their families. They could even pledge their husband's credit and even into contracts on their behalf.<sup>16</sup>

Some women had contributed in the area of administration also. Girls, particularly of royal families generally received military training. Although ancient Indian thinkers, by and large, were not unanimous to allow the women to be the rulers of the state but a few of them had no objection to permit female to be the rulers. There was a proposal in the Rāmāyaṇa to offer the crown to Sītā, when Rāma was exiled to the forest,<sup>17</sup> but it could not be materialized because of Sītā's determination to accompany her husband to forest. In

Mahābhārata Bhīṣma advised Yudhiṣṭhira to allow the coronation of the daughters of those kings, who had died in the war and had no male successors.<sup>18</sup> But the general tendency of society did not digest the accession of women to the throne.

According to the general opinion of the society, women could not be efficient rulers because of their natural limitations; therefore, we have few examples of reigning queens independently. Though queens usually did not assume the reign of government when their husband were alive, but they did not hesitate to accept the responsibility to reign, if their husbands died or sons were minor or were taken captives (prisoners). During the imprisonment of king Udayana of Kauśāmbī, his mother had taken the full charge of administration and discharged her duties amicably.<sup>19</sup> Queen Nagnikā was the head of the administration of extensive Śātavāhana Empire of Deccan during the minority condition of her son and the death of her husband. Prabhāvatī Gupta had ruled the Vākātaka administration for more than ten year as the queen regent. Similarly Vijayabhaṭṭārika of Cālukya dynasty (7th century CE) and Diddā of Kāśmīra (10th century CE) successfully reigned during the minority status of their sons. Akkadevī and Mailādevī were famous governors of Cālukya dynasty. We find some references of women fighters and able commanders too. One such woman was Akkadevī, the sister of Cālukya king Jayasīṃha who defeated the rebel chief of Okak in Belgaum district.<sup>20</sup> The bravery of women in battle field is also referred to by some other inscriptions.<sup>21</sup> In the Rāmāyaṇa we find the reference of Queen Kaikeyī who accompanied Daśaratha to the battle-field and saved his life by her presence of mind. We come across the word *raṇa-bhairavī*, which means the most proficient woman in the battle. Certainly some women were there to show their bravery in battle-field.

In ordinary families also ladies used to receive a fairly good amount of military training. We have the references of lady guards and bodyguards. Women wearing and carrying weapons were employed as guards in the Rāmāyaṇa.<sup>22</sup> Women guards and bodyguards were also attached to the king Candragupta Maurya, and were expert in the use of bow and sword. Rajput and Maratha history is full of such instances.

A lot of women were engaged in the job of

spinning in ancient Indian society. Textile industry was very prosperous and it was considered mainly as cottage industry. It afforded a good opportunity especially during the time of distress. The Satapatha Brāhmaṇa mentioned that spinning was the work of women.<sup>23</sup> Women were also engaged in the job of dyeing cloth and Vedic texts refer them as *rajayitri*.<sup>24</sup> We get numerous instances of women undertaking the work of spinning in early Buddhist literature. The Arthaśāstra of Kauṭilya says that the state should provide special facilities of spinning to women as it continued to be the chief source of living for helpless widows during that time.<sup>26</sup>

The Saṅgama texts of South India state that there were various occupations where women played important role. There were a good number of women cultivators who were skilled in planting the seedling in the wet fields.<sup>27</sup> Besides, the planting of seedlings and weeding of plants, husking and winnowing of the paddy were also done by women. Among these women some were farmer's wife and some were working as labours for agricultural work.<sup>28</sup>

According to Tamil literature cattle breeding and dairy farming was a sector of economy in which women played a leading, possibly even a dominant role. They were mostly busy in making and selling of ghee, curd, butter, etc.

We may assume that women would have played an active part in the potter's craft also. They might have been involved in needing the clay, or baking the pots. Some women were engaged in basket-making. Weaving of basket by women is also referred to in Vedic texts.<sup>29</sup>

Tamil literature confirms that women were employed as cooks in private houses and in the temples. Poor women also are seen preparing and selling cow dung cakes for living. Some eatables were hawked by them in the streets also.

Women also appear to have been capable of functioning as keepers of the cremating grounds. We find two references of a lady Kālī, who was engaged in this occupation. A spirited description of a women acrobat occurs in the Dhammapada commentary that a son of rich merchant fell in love with a lady acrobat. But her father did not give his daughter for money and suggested that the youth should travel about with them, if he intends to marry.<sup>30</sup>

Numerous women were doing the job of domestic slaves. They could be sold, purchased and given away as gift frequently.<sup>31</sup> They could also be received as inheritance. The king and the people of rich class possessed a number of female slaves to attend upon them. They assisted their masters and mistresses in all kind of household jobs such as washing utensils, bringing water from well or river, drying corn in the sun, grinding and taking food to their master working on their field,<sup>32</sup> etc. They also served as waiting women. Kauṭilya was very concerned about the welfare of female slaves, so much so that he imposed many restrictions over their masters.<sup>33</sup>

We have references to the employment of women as nurses and foster mothers in Rāmāyaṇa<sup>34</sup> and Tamil literature.<sup>35</sup> Though, probably only indigent women took this profession but it seems that nurses were treated respectably and affectionately in the family they served.

Right from the Vedic times teaching was the favorite job of women and they earned a good amount of name and fame in this field. They played a key-role in agricultural activities as well as in spinning, weaving and basket-making. In the Mauryan times spinning and weaving were two industries where women worked in significant numbers.<sup>36</sup> They were also engaged as courtesan, dancer, musician, painter, cook, nurse, hawker, etc. No doubt, women of ancient India were very much professional and played vital role in Indian economy, though the opportunities were limited for them.

Thus in the light of above discussed facts it can be concluded that women were working in different spheres of ancient Indian society, although their number was not large. In the strict sense of employment, the opportunity for women as ruler did not exist commonly during that time. They were working as co-workers in the families; those employed in the royal courts and temples must have been receiving regular salary or something like that. During those days the conditions of work were different but in spite of that several avenues of employment or self-employment was open to them. However, despite of the fact that work-condition for women was not so conducive, in some areas they acquired higher and respective positions.

**References:**

1. *Mahābhāṣya*, IV, 1, 14; 3, 155.
2. *Therīgāthā*, 54, 56, 73.
3. Bhagavati Sūtra, Gujrati Edition, Vol. III p. 57.
4. *Therīgāthā*, XII.
5. *Ibid*, XXXIV.
6. *Ibid*, XI, VII.
7. *Ibid*, V, IV, 290, 292.
8. *Ibid*, XI, IV.
9. *Kāvya Mīmāṃsā*.
10. Nadvi, *Araba aur Bhārata ke Sambandha*, p.122.
11. Rahul Sankrityayana's Hindi Trans. Banaras, 1936, pp.63-88.
12. Strabo, VIII, 9.
13. ARE 86 of 1911-12, pt. 11, Para 29, ARE 80 of 1913.
14. ARE 200 of 1912-13; ARE 122 of 1912.
15. *Meghadūta*, 1, 35.
16. *Yājñavalkya Smṛti*, 11.47, *Viṣṇu Smṛti*, VI.31.
17. *Rāmāyaṇa*, 11, 37-38.
18. *Mahābhārata*, XII, 32-33.
19. *Pratijñāyogandharāyaṇa*, Act I.
20. *Epigraphia Indica*, Vol. XVII, p. 12-23, dated AD. 1047.
21. V.V. Krishna Shastry presented a paper on 'Position and Status of Women in ancient India' at a Seminar in Banaras in 1958, March, refers to women warriors.
22. *Rāmāyaṇa*, 5, 69; 5, 17, 9; 5, 22, 32-36.
23. *Śatapatha Brāhmaṇa*, 12, 72, 11.
24. *Taitīriya Brāhmaṇa*, 34, 7.
25. *Arthaśāstra*, 11, 23.
26. Medhatihī on *Manu*, V, 157.
27. Cited in K.R. Hanumanthan, *Untouchability, A Historical Study*, Madurai, 1979, p.100.
28. Nilakantha Shastri, *The Cholas*, Madras, 1975, pp. 568-69.
29. R.K. Mukherjee, *Ancient India*, Allahabad, 1956, p. 76.
30. Dhammapada Commentary on Verses, 348.
31. *Indica*, 2, XXVIII; *Arthaśāstra* (Kg.), 3, 13, 3-16, 25.
32. *Jātaka* (Fous) 11, p. 103, IV, p. 16.
33. *Arthaśāstra* (Ky.), 3.13.9.12; 3.20, 17; 4, 12, 28.
34. *Rāmāyaṇa*, 2, 7.10.
35. Romila Thapar, *Aśoka and Decline of Mauryas*, New Delhi, Oxford University Press, 2000, p.86.



## झालावाड़ के ऐतिहासिक एवं दर्शनीय स्थल

ललित शर्मा \*

ब्रिटिशयुगीन भारत के अन्तिम राज्य के रूप में चर्चित तत्कालीन राजपुताने (अब राजस्थान) के झालावाड़ राज्य की स्थापना, कोटा राज्य के दो राजपूत वंशों के मध्य राजनैतिक विवाद का परिणाम रही। जिस प्रकार बूँदी से कोटा राज्य का उद्भव हुआ, उसी प्रकार कोटा राज्य से झालावाड़ राज्य का उद्भव हुआ और इस राज्य की स्थापना 08 अप्रैल, 1838 ई० को हुई।<sup>1</sup> झालावाड़ राज्य के निर्माण की पृष्ठभूमि के मुख्य सूत्रधार कोटा राज्य के प्रधानमंत्री झाला जालिम सिंह (1740-1824) थे। भारत के राजाओं की आपसी वैमनस्यता एवं कोटा राज्य में उनकी अनबन महसूसकर उन्होंने अपनी आन्तरिक नीति से तत्कालीन ब्रिटिश सरकार को जो सहयोग दिया, उसी के फलस्वरूप उन्हें झालावाड़ राज्य की स्थापना के सूत्रधार के रूप में माना गया।

झाला जालिम सिंह के पौत्र झाला मदन सिंह 1838 ई० में झालावाड़ राज्य के प्रथम 'महाराज राणा' बनाए गये। उनके समय इस राज्य में 15 लाख रुपये की आय के 17 परगने क्रमशः चेचट, सुकेत, चौमहला (पचपहाड़, डग, आवर, गंगधार) झालरापाटन, रीछवा, बकानी, दहलनपुर, कोटड़ा-भालता, सरड़ा, रटलाई, मनोहरथाना, फूलबडौद, चाचोरनी, काकूनी, छीपाबडौद, शेरगढ़ की परवन नदी से पूर्व का भाग एवं शाहबाद थे।<sup>2</sup> झाला मदन सिंह के बाद झालावाड़ राज्य के शासक उनके वंशज पुत्र क्रमशः महाराज राणा पृथ्वीसिंह (1845-1875), महाराज राणा जालिम सिंह (द्वितीय) (1876-1896), महाराज राणा भवानी सिंह (1899-1929) व महाराज राणा राजेन्द्र सिंह देव बहादुर (1929-1943) हुए। राजेन्द्र सिंह के पुत्र महाराज राणा

हरिश्चन्द्र सिंह (1943-1967) इस राज्य के अन्तिम नरेश थे, जिन्होंने इस राज्य को स्वाधीनता बाद भारत संघ में मिलाने का प्रथम सफल प्रयास कर अपने वंश की लोकतान्त्रिक परम्परा को जीवित बनाए रखा।

स्वाधीनता के बाद यह भू-भाग कोटा-बारां आदि में चला गया और कुछ अन्य भू-भागों से समन्वितकर इसे झालावाड़ जिले के रूप में गठित किया गया जो आज तक कायम है। राजस्थान के दक्षिण-पूर्व में स्थित झालावाड़ जिला और इसके भू-भाग में बसे अनेक ऐतिहासिक स्मारक आज भी प्राचीन, मध्यकालीन भारतीय स्थापत्य के साथ-साथ यूरोपीय स्थापत्य के समन्वय के भी दर्शन कराते हैं। यह जिला उत्तरी अक्षांश में 23°45.20 से 24°52.17 व पूर्वी अक्षांश में 75°27.35 से 76°56.48 पर मालवा के प्राचीन पठार पर स्थित होकर आज हाड़ौती सम्भाग का एक जिला है।<sup>3</sup> प्रदेश के सिंहद्वार और मालवा की गौरवशाली धरा के रूप में चर्चित इस जिले में जहाँ एक ओर गागरोन, नौलखा, गंगधार, मनोहरथाना में अनेक दुर्जेयी दुर्ग हैं, वहीं दूसरी ओर चन्द्रावती, झालरापाटन, उन्हैल, खानपुर व कोल्वी आदि में ऐसे देवालय और प्रतिमाएँ व गुफाएँ हैं जो भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि हैं। इन निधियों का मूल और महत्त्व आज भी अनछुआ और अचर्चित है। इस प्रकार आज इस भू-भाग की वादी में जो विविधता विभिन्न रूपों व परिवेशों में परिलक्षित है तो वह इसकी सुदीर्घ सांस्कृतिक और ऐतिहासिक यात्रा की अनवरतता ही कही जायेगी।

वर्तमान झालावाड़ जिला समुद्रतल से 900 से 1,880 फीट की ऊँचाई पर स्थित है जिसका क्षेत्रफल 6,219 वर्ग किलोमीटर है।<sup>4</sup> इसमें 1468 ग्राम, 5 उपखण्ड, 7 तहसीलें, 6 विकासखण्ड, 8 नगर-कस्बे एवं 5 नगरपालिकाएँ हैं। सन् 2011 की जनगणना के आधार पर इस जिले की कुल जनसंख्या 14,11,327 है।<sup>5</sup> इस जिले की

\* द्वारा, मेसर्स जैकी स्टूडियो, 13 मंगलपुरा स्ट्रीट, झालावाड़-326 001 (राजस्थान); संचलभाष : 09829896368

जलवायु सामान्य शुष्क है तथा यहाँ के स्थलों के अवलोकन का सुन्दर समय अक्टूबर से फरवरी तक उचित रहता है। जिले का मुख्यालय 'झालावाड़' राष्ट्रीय राजमार्ग 12 पर स्थित है जहाँ से इस जिले के सभी पर्यटन व ऐतिहासिक स्थलों पर सुगमता से आया-जाया जा सकता है। कोटा महानगर से जिला मुख्यालय सीधी बस सेवा द्वारा जुड़ा है जो 85 किलोमीटर दूर दक्षिण में है। जिले के प्रमुख पुरातात्विक और ऐतिहासिक स्थलों का परिचय इस प्रकार है :

**झालावाड़ गढ़ पैलेस**— झालावाड़ मुख्यालय के मध्य स्थित गढ़-पैलेस यूरोपीय स्थापत्य का ऐसा सुन्दर उदाहरण है जिसमें अनेक नयनाभिराम कलात्मक कक्ष और सर्वांग सुन्दर भवन हैं। इस पैलेस का निर्माण झालावाड़ राज्य के प्रथम नरेश महाराज राणा मदन सिंह के काल में सन् 1840 से आरम्भ हुआ था<sup>6</sup> जो उनके पुत्र महाराज राणा पृथ्वी सिंह के काल में 1854 ई० के लगभग बनकर तैयार हुआ था। पूरा महल सुदृढ़ चट्टानों के परकोटे से घिरा हुआ है।

यद्यपि यह पैलेस चौकोर है, तथापि इसके तीनों ओर (पूर्व, उत्तर तथा दक्षिण में) बड़े प्रवेश-द्वार हैं। मुख्य द्वार पूर्वाभिमुखी है जिसपर नक्काखाना है। वर्तमान में पूरा पैलेस सरकारी कार्यालयों में परिवर्तित हो चुका है। गढ़ भवन के पृष्ठभाग में रंगमंच के ठीक सामने एक प्राचीन शिकारमाला (दोतल्ला) बना हुआ है। यह तल इस पैलेस का सर्वाधिक प्राचीन स्थल है और इसी पर बैठकर झाला जालिम सिंह अपने अंग्रेज़ मित्रों के साथ शिकार का आनन्द लिया करते थे। तब इस तल के आसपास सघन वन व जंगली जानवरों का बाहुल्य था। यहीं पर 1791 ई० में उन्होंने एक सैनिक छावनी स्थापित की थी।<sup>7</sup> बाद में यहाँ झोपड़ियाँ और फिर भवन बने तथा वही छावनी कालान्तर में शहर झालावाड़ के रूप में आज प्रत्यक्ष है।

आज भी इस गढ़ पैलेस के आन्तरिक कक्षों में भव्य रंगशालाएँ, कलात्मक झरोखे, झ्योढ़ियाँ द्वार, दरीखाना, इज़लास, सभागार व शीशमहल दर्शनीय है। रंगशाला के भवनों में पाषाण के सुन्दर गवाक्ष, अष्टदल कमलाकृतियों में उकेरे गए पुष्पों के अलावा अष्टकोण, वर्गाकृति तथा आयताकार कक्ष व बड़े हॉल बने हुए हैं। इन कक्षों में झालावाड़ के नरेशों के स्वर्णयुगों की चित्रकला-शैली की सुन्दर व सतत साधना नाथद्वारा के सिद्धहस्त कलाकारों द्वारा की गई है। स्वर्णमिश्रित सप्तरंगों से यहाँ के कक्षों की दीवारों को चित्रित करने में चतुर चित्तेरों ने अपनी कला को जिस मनोयोग से तूलिका द्वारा उतारा है, उसे देखकर शोधार्थी और पर्यटक आज भी दौंतोतले अंगुली दबा लेते हैं। इन अनुपमेय चित्रों में राजपुताने के अनेक राजाओं-नवाबों के आदमकद चित्र, राजराणा झाला जालिम सिंह की मंत्रीपरिषद्, राजराणाओं की शाही सवारियों के दृश्य, तीज-त्योहारों की मनोहारी शोभा, इन्द्रविमान (शाही रथ) की शाही-सवारी, नृत्य-नाटिका, रासरंग,

बत्तीस भोग, वाराहावतार, श्रीरामदरबार, श्रीकृष्ण-महारास, श्रीनाथजी, रामायण-कथांकन तथा छावनी (मुख्यालय) की प्राचीन वैभवशाली हवेलियों व प्राकृतिक स्थलों के चित्र आज भी अपनी आभा से आकृष्ट करने की क्षमता रखते हैं।

पूरा गढ़ पैलेस ही इस आशय से देखने योग्य है। इस पैलेस के दोनो कोनों पर बुर्ज रूप में अर्द्धचन्द्राकार, वृत्ताकार कक्ष मज़बूती से बने हैं। महल के आधार स्तम्भों पर टिकी व्यवस्था से इसमें फतेहपुर सीकरी के पञ्चमहल की झलक परिलक्षित होती है। महल के दोनों कोनों पर दो सुन्दर अष्टकोणीय छतरियाँ बनी हुई हैं, जिनमें बैठकर वर्षा ऋतु में घुमड़े बादलों का आनन्द व सुन्दर फैली वन-प्रान्तर की प्राकृतिक शोभा का मनोहारी आनन्द लिया जा सकता है।

**भवानी नाट्यशाला**— गढ़ पैलेस के पृष्ठभाग में बनी यह नाट्यशाला सम्पूर्ण उत्तरी भारत में एकमात्र ऐसी नाट्यशाला है जो पूरी ही पारसी-औपेरा शैली का उत्कृष्ट नमूना है। यह नाट्यशाला भारतीय नाटक, संगीत व देशी-विदेशी नाट्य-प्रस्तुतियों के लिए वर्षों से देश-विदेश में प्रख्यात रही है। इसका निर्माण कलाप्रिय झालावाड़ नरेश महाराज राणा भवानी सिंह ने 1921 ई० करवाया था।<sup>8</sup>

इस नाट्यशाला में कवि कालिदासविरचित *अभिज्ञानशाकुन्तलम्* नाटक प्रथम बार 16 जुलाई, 1921 ई० को स्वयं महाराज राणा भवानी सिंह की अध्यक्षता में मंचित किया गया था।<sup>9</sup> उस नाटक में निम्न कलाकारों ने निम्न भूमिकाएँ अभिनीत की थीं— शकुन्तला-नन्हे खाँ, कण्व ऋषि-छोटे खाँ, मेनका-पन्नालाल, दासी-श्यामलाल पासवान और राजा दुष्यन्त-मिर्ज़ा नज़ीर बेग 'नाज़ीर'<sup>10</sup>। इस नाटक के बाद लगभग दो दशकों तक यहाँ नाटकों का यह क्रम इन्हीं जैसे नायाब फ़नकारों और आवाज़ बहादुरों द्वारा चलता रहा। नाटक और नाट्यशाला आबाद रहने लगी। उक्त दिवस के बाद प्रति शनिवार यहाँ नाटकों का मंचन होने लगा। वह ज़माना ही कुछ ऐसा था कि उस समय झालावाड़ (छावनी) के कोतवाल का वेतन 4 रु० था तो इस नाट्यशाला के इंचार्ज का 96 रुपये था।<sup>11</sup> बाद के वर्षों में यहाँ जो अन्य नाटक खेले गए, उनके नाम हैं— 'राणा प्रताप', 'शहीद-ए-नवाज़', 'खूबसूरत बला', 'सफेद खून', 'सुदामा-चरित', 'पंजाब मेल', 'क़त्ल-ए-नज़ीर', 'खुदा-दोस्त', 'भूलभुलैया', 'सद्वाद', 'राजा हरिश्चन्द्र', 'इन्द्रसभा', 'शहीदुर-ए-नूर-ए-वतन', 'महाभारत', 'वीर अभिमन्यु', 'सुल्ताना डाकू', 'श्रीमती मंजरी', 'गोरखधन्धा' आदि।<sup>12</sup>

सन् 1939 ई० में यहाँ बने 'मित्र मण्डल' नामक नाट्य-दल द्वारा 1946 ई० तक इस नाट्यशाला में देशभक्ति से ओतप्रोत अनेक नाटक मंचित किए गये।<sup>13</sup> इस मण्डल ने यहाँ अपना पहला नाटक

‘कृष्ण-जन्म’ जन्माष्टमी पर्व पर प्रस्तुत किया था। इसके बाद निरन्तर 12 वर्षों तक यह प्रथा चल पड़ी जिसमें प्रतिवर्ष प्रत्येक जन्माष्टमी पर यहाँ नाटकों का मंचन होने लगा। इस नाट्यशाला में अनेक ऐसे नाटकों का भी मंचन हुआ जिसमें हाथी, घोड़े गाय-बैल जैसे पशुधन को असली पात्र के ही रूप में ही नाटकों में उतारा गया था। इसी क्रम में झालावाड़ के पुरुषोत्तम मेहता, मित्र मण्डल के उन शौर्यवान् कलाकारों में से थे जिन्होंने ‘राणा प्रताप’ के वीरोचित-चरित्राभिनय में इसी नाट्यशाला में भारी भरकम जिरह-बख्तर और भाले के रूप में तीन मण लोहे का भार अपने शरीर पर ढोया था, जिसके परिणामस्वरूप वे महीनों तक उन्मादग्रस्त रहे। बाद में इंग्लैण्ड के कई नाट्य कलाकारों को भी यहाँ आमन्त्रित किया गया जिनमें एक कलाकार चार्ल्स डोरेन (Charles Doran : 1877-1964) तो इसी भवानी नाट्यशाला का ही होकर रह गया था। उसने इस नाट्यशाला में नाट्य दिशा-निर्देशों के साथ-साथ कई श्रेष्ठ रंगकर्म भी तैयार किए थे। इसी क्रम में न केवल पारसी-शैली में अभिनीत नाटक वरन् शेक्सपीयर (William Shakespeare : 1564-1616) द्वारा रचित ट्रेजडी ‘हैमलेट’ (Hamlet) का भी सफल मंचन इसी नाट्यशाला में हुआ था। इस नाटक के मंचन में सर्वाधिक महत्त्व की बात यह रही कि झालावाड़ राज्य के तत्कालीन महाराज कुमार राजेन्द्र सिंह ने इस नाटक में खलनायक की भूमिका बड़े ही सफलतम ढंग में अभिनीत की थी।<sup>14</sup> यहाँ यह भी उल्लेखनीय होगा कि विश्वविश्रुत नृत्यकार पं० उदयशंकर (1900-1977) ने भी अपनी नृत्यकला का प्रदर्शन सर्वप्रथम अल्पायु में इसी नाट्यशाला में प्रस्तुत किया था, उस समय उनके पिता पं० श्याम शंकर चौधरी (बार-एट-लॉ) झालावाड़ राज्य के दीवान थे। उक्त रेखांकित नाटकों में श्रीकृष्णलीला से संबंधित नाटकों में ‘सखी’ का चरित्राभिनय झालावाड़ राज्य के नामी पहलवान पं० चन्दालाल शर्मा (इस लेख के लेखक के स्व० पिता) ने अनेक बार किया जिन्हें आज भी कई बुजुर्ग स्मरण करते हैं।

इस नाट्यशाला में तब नाटकों को देखनेवालों के स्तर के अनुसार ही बैठने के स्थान भी चयनित रूप में थे जिनमें राजपरिवार व उनके साथ आए विशिष्ट लोग, जैसे— अलवर, टोंक, किशनगढ़, बूढ़ा, बकवाण, पटियाला और घागंघरा (गुजरात) राजपरिवार अपने लम्बे लवाजमों के साथ यहाँ इन नाटकों के मंचन देखने आते थे। इस प्रकार देश की आज़ादी के बाद नाट्यशाला की ऐसी सुदीर्घ परम्परा राज्य-समाप्ति के कारण यहाँ अवरुद्ध हो गयी और इसी क्रम में 1950 ई० में ‘देश की आवाज़’ यहाँ मंचित किया गया अन्तिम नाटक था। वह भी उस नाट्य परम्परा का कि जिस ‘भवानी नाट्यशाला’ की श्रेष्ठतम ‘ओपेरा शैली’ विश्व-थियेटर के इतिहास की एक स्मरणीय घटना रही।

इस बेमिसाल नाट्यशाला के स्वरूप को गहराई से देखने, परखने तथा महसूस करने से ज्ञात होता है कि इस नाट्यशाला व इसके मुख्य मंच का भव्य निर्माण उस युग में इतने वैज्ञानिक ढंग से किया गया था कि पर्यटक और शोधार्थी आज भी इसके निर्माण की परिकल्पना करनेवाले व्यक्ति के दिमाग पर आश्चर्य व्यक्त करते हैं। इस नाट्यशाला में तीनतल्ला प्रेक्षागृह है तथा इसमें मंच की दिशा को छोड़कर सभी ओर मेहराबदार सुन्दर 36 बालकनियाँ बनी हुई हैं। ठण्डी और शुद्ध वायु के प्रवेशार्थ निचले तल पर कई द्वार हैं जबकि दूषित वायु के निकास के लिए ऊपरी तल पर कई खिड़कियाँ एवं रोशनदान इतने वैज्ञानिक ढंग से बने हुए हैं कि पूरी नाट्यशाला खचाखच भरी होने पर भी जरा भी घुटन महसूस नहीं होती है। नाट्य विधा की तकनीकी शब्दावली से परिचित जानकारों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस नाट्यशाला में ‘एप्रेन’ से प्रवेश-द्वार की दूरी ‘बैक स्क्रीन’ की दीवार की दूरी के बराबर है। मुख्य मंच के पृष्ठभाग में लगभग 900 वर्ग फीट का ‘प्लेशील्ड’ था जबकि ‘बैक-स्क्रीन’ वाली दीवार से बायीं तथा दायीं ओर नीचे से ऊपर की ओर जानेवाली सीढ़ियाँ बनी हैं जिनका आशय वियेना थियेटर का आधार था। वहाँ जिस प्रकार कभी मुजाई की धुनों पर हाथी, घोड़े और नर्तकियाँ थिरकती थीं, ठीक उसी तर्ज पर इस नाट्यशाला के मंच की बैक स्क्रीन की सीढ़ियों का निर्माण करवाया गया था जिनपर सुन्दर श्वेत परियाँ देवराज इन्द्र के दरबार (इन्द्रसभा) में उतरती थीं, तब दर्शकों को ऐसा प्रतीत होता था मानो गगनपरियाँ आकाश में पंख फैलाये हौले-हौले इन्द्र के दरबार में उतर रही हों।

यह नाट्यशाला 33 फुट लम्बे, 28 फुट चौड़े एवं 23 फुट ऊँचे मंच के सामने बनी 87 विशाल और कलात्मक खम्भों पर खड़ी हुई है जिसकी 61 फुट लम्बी व 48 फुट चौड़ी दर्शक दीर्घा में राजपरिवार व खास लोगों के बैठने हेतु 36 बालकनियों के अलावा सामान्य जनो के बैठने का भी समुचित स्थान है। नाट्यशाला के मुख्य मंच को ऊपर-नीचे ले जाने की व्यवस्था के अलावा हाथी, घोड़े तथा विशाल रथों को सीधे स्टेज पर उतारने, ध्वनि एवं प्रकाश के माध्यम से सधे कलाकारों को अधर में तैरता दिखाने और नाट्यानुरूप पात्रों को स्टेज पर प्रकट अथवा अदृश्य कर देने के विशेष उपकरणों, कक्षों की भी सुन्दर व्यवस्था थी। नाट्यशाला के खोखले परन्तु स्थाई काष्ठ मंच के नीचे तलघर के आठ कक्षों में संगीत देनेवाले साज़िन्दों के बैठने, कलाकार के ज़मीन में समाने व संगीत-उपकरण रखने की व्यवस्था थी, ठीक वैसी ही जैसे विदेशी ओपेरा हाउस में होती थी। मुख्य मंच पर सरकनेवाले और उस युग में दस-दस हजार रुपये की कीमतवाले 15 बड़े, ऊँचे एवं अतिभव्य पर्दों की भी यहाँ बेमिसाल व्यवस्था थी। दोनों ओर से खुले इस विशाल मंच पर असली पशुधन को लक्षकारों की

सवारी और रथों के काफ़िले के साथ आसानी से प्रवेश कराने की व्यवस्था जिन बाहरी प्रवेश द्वारों से थी, वह आज भी है। आवाज-बहादुर नाट्य पात्रों की आवाजों और खोखले मंच के तलधर से प्रसारित धुनों का मिश्रण इस नाट्यशाला में 'इको' ध्वनि के रूप में प्रसारित होता था, जिसे देख-सुनकर दर्शक आश्चर्यचकित रह जाते थे।

सारतः इस नाट्यशाला के निर्माण की पूर्ण लागत उस समय 1 लाख 50 हजार बताई जाती है<sup>15</sup> जो स्वयं महाराज राणा भवानी सिंह ने अपने जेबखर्च से दी थी। यह तथ्य उनके शासकीय व्यक्तित्व में साहित्यिक व कलात्मक अनुराग का सर्वोत्तम प्रमाण है जो उस युग के भारतीय रजवाड़ों के अनेक शासकों से भिन्न पाई जानेवाली दुर्लभ अभिवृत्ति का परिचायक है।<sup>16</sup> यह नाट्यशाला आज भी शोधार्थी, पर्यटकों के शोध व अवलोकन की नायाब इमारत है।

**पुरा-संग्रहालय**— गढ़-भवन के मुख्य द्वार के निकट स्थित इस राजकीय पुरा संग्रहालय की स्थापना 01 जून, 1915 को राजराणा भवानी सिंह ने की थी।<sup>17</sup> यहाँ पर विपुल पुरा-सामग्री एकत्रित करने का श्रेय पं० गोपाललाल व्यास को है जो इस संग्रहालय के प्रथम क्यूरेटर रहे। इस संग्रहालय में अनेक पुरा-वस्तुओं का नायाब संग्रह है। इसके प्रतिमा-कक्ष में अनेक दुर्लभ और 8वीं से 18वीं शती की सुन्दर प्रतिमाएँ संग्रहीत हैं। यहाँ शैव, शाक्त, वैष्णव और जैन सम्प्रदाय की पुरा-वस्तुओं का सुन्दर संग्रह है। इनमें सूर्यनारायण,<sup>18</sup> अष्टभुजाधारी विष्णु,<sup>19</sup> चामुण्डा,<sup>20</sup> महिषासुरमर्दिनी,<sup>21</sup> शालभञ्जिका,<sup>22</sup> लकुलिश,<sup>23</sup> अद्वितीय अर्द्धनारीश्वर,<sup>24</sup> हरिहर, नटराज आदि की प्राचीन प्रतिमाएँ भारतीय मूर्तिकला की अनुपम थाती हैं। यहां संग्रहीत अर्द्धनारीश्वर का शिल्प-सौन्दर्य तो इतना अनुपम है कि इस प्रतिमा को 1982 में लन्दन में आयोजित भारतीय मूर्तिकला खण्ड में द्वितीय स्थान प्राप्त हुआ था।<sup>25</sup>

इस संग्रहालय के शिलालेख-कक्ष में 5वीं से 19वीं शती के शिलालेखों का भी सुन्दर संग्रह है। भारतीय पुरातत्त्ववेत्ताओं में चर्चित गंगधार का संवत् 480 का,<sup>26</sup> चन्द्रावती के देव मन्दिर का संवत् 746 का,<sup>27</sup> परमार राजा उदयादित्य का वि०सं० 1143 का,<sup>28</sup> यशोवर्मनदेव का वि०सं० 1199 का, वि०सं० 1872 का कोटा राज्य से संबंधित शिलालेख यहाँ संग्रहीत है।<sup>29</sup> इन अभिलेखों से तत्कालीन धर्म, संस्कृति के अतिरिक्त राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक स्थिति का भी प्रामाणिक ज्ञान होता है।

संग्रहालय के मुद्रा-कक्ष में कनिष्क से मुग़लों तथा झालावाड़ राज्य तक की मुद्राओं का सुन्दर संग्रह है। जिले के झालरापाटन से अवाप्त चाँदी की आहत मुद्राएँ (पञ्चमावर्डी),<sup>30</sup> कनिष्क, हुविष्क, कुषाण, सातवाहन सहित गुप्तयुगीन स्वर्णमुद्राएँ, जो गुप्त-सम्राटों के

काल की हैं व इण्डोसीसानियन, ताम्र व गदैया के अलावा आदिवाराह व मुग़लों तथा झालावाड़ राज्य की झाड़शाही मुद्राएँ संग्रहीत हैं। एक रपट के अनुसार इनमें कुल स्वर्णमुद्राएँ 55, मिश्रित मुद्राएँ 1143, जिनमें गदैया की 200, मुग़लकालीन 96, गोलाकार 476, वतुर्लाकार 1 अतिरिक्त खम्भाव के वि०सं० 1086 व रविवर्मायुगीन मुद्राएँ हैं। ताम्र-मुद्राएँ 490 हैं जिनमें कनिष्क से लेकर खिलजी, बलबन व हुमायूँकालीन मुद्राएँ प्रमुख हैं।<sup>31</sup>

इस संग्रहालय के चित्रकला-कक्ष में हाड़ौती क्षेत्र के लघु चित्रशैली में निर्मित कागज़ पर चित्रित लघुचित्र प्रदर्शित हैं, जो नायक-नायिका चित्रण, बारहमासा लघु चित्रण, राजस्थान और हाड़ौती लघु चित्रशैलियों के चित्रों के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।<sup>32</sup> इसी क्रम में यहाँ महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थ भी हैं जिनमें चित्रशैली व पोथी-चित्रण की दृष्टि से शालिहोत्र, बारहठ, नरहरिदासकृत *भाषावतारचरित* आदि ग्रन्थ संग्रहीत हैं। इनमें प्रत्येक श्लोक का चित्रानुवाद है तथा ये चित्र हस्तनिर्मित हैं जो आज भी अपनी आभा लिए हुए हैं।<sup>33</sup>

**भवानी परमानन्द पुस्तकालय**— झालावाड़ मुख्यालय के राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय का यह पुस्तकालय देश में दुर्लभ पुस्तकों के संग्रह के कारण प्रसिद्ध है। इसे 1911 ई० में झालावाड़ नरेश भवानी सिंह ने अपने प्रिय दीवान रायबहादुर पं० परमानन्द चतुर्वेदी के नाम से निर्मित करवाया था।<sup>34</sup> राजा भवानी सिंह के पौत्र राजा हरिश्चन्द्र ने 1946 ई० में विश्व के अनेक देशों व भाषाओं की लगभग 14,000 पुस्तकें यहाँ मंगवाई थीं जिनकी जिल्दें लन्दन में तैयार हुई थीं। इस पुस्तकालय में विश्व की कई ऐसी पुस्तकों का संग्रह है जिनका प्रकाशन प्रथम व अन्तिम बार हुआ था। नेपोलियन के दुर्लभ साहित्य के लिए यह पुस्तकालय आज भी प्रसिद्ध है।

**क्लॉक टावर**— नगर के हृदय-स्थल मंगलपुरा में झालावाड़ नरेश राजेन्द्र सिंह द्वारा पेरिस के क्लॉक टावर की तर्ज पर बनवाया<sup>35</sup> हुआ 45 फीट लम्बा क्लॉक टावर (घंटाघर) त्रिकोणीय होकर भी चौकार होने का आभास देता है। इस विशेष निर्माण-शैली को परखने के लिए देशी-विदेशी पर्यटक इसके अनेक चक्कर लगाते हैं। स्वाधीनता-पूर्व यहाँ से नगर में लाउडस्पीकर द्वारा समाचार प्रसारित किए जाते थे।<sup>36</sup> राजस्थान प्रदेश का यह अकेला त्रिकोणीय क्लॉक टावर है। यह टावर मूलतः तीनतल्ला व त्रिकोणीय है। 1986 ई० में यह स्थल विश्व जनसंख्या का केन्द्र-बिन्दु प्रमाणित हो चुका है।<sup>37</sup>

**सुरम्य रैन-बसेरा**— मुख्यालय झालावाड़ से 7 किलोमीटर पश्चिम की ओर कोटा राजमार्ग पर कृष्णसागर जलाशय के उत्तरी तट पर काश्मीर की हसीन वादियों की यादों को ताजा करता काष्ट का

विशाल आवास 'रैन बसेरा' प्रदेशभर में काष्ठ का एकमात्र पैवेलियन है। काष्ठ का यह दो तल्ला भवन 1936 में अखिल भारतीय औद्योगिक संघ, लखनऊ में आयोजित भव्य प्रदर्शनी में वन अनुसंधान संस्थान, देहरादून द्वारा पहली बार प्रदर्शित किया गया था।<sup>38</sup> इस प्रदर्शनी का अवलोकन करने झालावाड़ नरेश राजेन्द्र सिंह सुधाकर भी गए थे, वहीं उन्हें यह रैन-बसेरा पसन्द आ गया। उन्होंने हाथोंहाथ इसे खरीद लिया। वे इसे खुलवाकर झालावाड़ ले आये और इसे उक्त कृष्ण सागर जलाशय के किनारे 29 अगस्त, 1937 को स्थापित किया।<sup>39</sup>

यह काष्ठ भवन देवदार की लकड़ी से 'एस्क्यू' विधि द्वारा उपचारितकर बनाया गया था जिससे यह आज तक दीमक से सुरक्षित रहा है। इस भवन का पूर्व का क्षेत्रफल 3,500 वर्ग फुट था, जिसमें तीन शयन कक्ष, एक अतिथि-गृह व एक भोजनालय था, परन्तु नरेश की आवश्यकतानुसार बाद में इससे स्नानघर, शौचालय, बरामदा व भण्डारघर बनवाए गये और इसे पाँच काष्ठ-स्तम्भों पर भूकम्परहित तरीके से यहाँ स्थापित किया गया।<sup>40</sup> इस विस्तारित योजना का कुल खर्च 7,000 रु० रहा। नरेश राजेन्द्र सिंह का सपना था कि वे जीवन का सन्ध्याकाल इसी आवास में बितायें। आज भी यह रैन बसेरा पर्यटकों व शोधार्थियों के आकर्षण की सुन्दर निधि है। इसके आस-पास सघन वन, सुन्दर जलाशय, बाग-बगीचे अपनी आभा से हर किसी को आह्लादित किए रहते हैं।

**झालरापाटन**— मुख्यालय झालावाड़ से सात किलोमीटर दक्षिण में स्थित झालरापाटन ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और व्यापारिक नगर है। इस नगर की स्थापना झालावाड़ राज्य के निर्माण के सूत्रधार और कोटा राज्य के तत्कालीन प्रधानमंत्री झाला जालिम सिंह ने संवत् 1849 (सन् 1792 ई०) में की थी।<sup>41</sup> उन्होंने झालरापाटन के बसने पर यहाँ 1796 ई० में स्वायत्त शासन प्रदा कर जनता में लोकतंत्र के प्राण फूँककर इसे जीवन्त बना दिया था।<sup>42</sup> झाला जालिम सिंह द्वारा बसाए झालरापाटन नगर के नामकरण के मूलतः दो आधार हैं। प्रथम, वह झालरों (घंटियों) की झनकारें, जो यहाँ के क्षेत्र में बने 108 देवालयों में प्रतिदिन प्रातः-सन्ध्या देवार्चन के समय होती थीं। प्रसिद्ध इतिहासविद् जेम्स टॉड (Lieutenant-Colonel James Tod: 1782-1835) ने इसी कारण इस नगर को 'सिटी ऑफ बैल्स' कहा था।<sup>43</sup> दूसरा 'झाला' राजपूत शासकों द्वारा इस नगर की स्थापना तथा इसका विविध आयामों में विकास करवाना। सारतः झालरों की झनकार और झाला राजपरिवार— दोनों ही यहाँ आज तक कायम हैं तथा इसके नाम को सार्थक किए हुए हैं।

**प्राचीन नगरपालिका**— जेम्स टॉड ने अपनी यात्रा के दौरान यहाँ आकर 12 दिसम्बर, 1821 ई० को अपने वृत्तांत विवरण<sup>44</sup> में यह लिखा कि 'समस्त भारतवर्ष के बीच मैंने केवल झालरापाटन में

इस समय नगरपालिका की स्वायत्त शासन की रीति-नीति को प्रचलित होते देखा।'<sup>45</sup> झाला ने इस नगरपालिका के स्वायत्त शासन का भार वहाँ की जनता को ही दे दिया था और यहाँ की जातीय पंचायत सभा ने उसका प्रणयन करके वर्षों तक उसे संचालित किया। एक प्रमाण के अनुसार इस नगरपालिका के प्रधान मजिस्ट्रेट शाह मनीराम थे, उनके बाद के कालों में यहाँ क्रमशः 1919 तक बड़े काबिल व्यक्ति अध्यक्ष रहे। इन्हीं के साथ मेम्बर पालिका का चुनाव भी यहाँ की जनता करती थी। 1919 में इस नगर को 4 भागों में बाँटकर यहाँ 4 सदस्यों— क्रमशः सेठ माणिक चन्द्रसेठी रायबहादुर, सेठ पूरनचन्द, मुनीम तेजमल और मुंशी इश्तियाक अली थे। उस समय पालिका के उपाध्यक्ष झालरापाटन की प्रसिद्ध फर्म विनोदीराम बालचन्द के वंशज सेठ लालचन्द सेठी थे।<sup>46</sup> उनके बाद देश की स्वाधीनता के समय तक सभापति सेठ नेमीचन्द सेठी रहे जिन्होंने इस नगर को सजाया-सँवारा।

**झालावाड़ के मन्दिर**— इस नगर के हृदय स्थल पर भव्य, कलात्मक एवं विशाल एक पद्मनाभ मन्दिर है। इसे 'सूर्य मन्दिर' के नाम से जाना जाता है। इस मन्दिर का स्थापत्य दसवीं शती का है।<sup>47</sup> इस मन्दिर में प्रागीव शैली का सभामण्डप है जिसके तीनों ओर प्रवेश द्वार हैं। सभी द्वार स्थापत्य कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। सभामण्डप में 52 विशाल और कलात्मक अष्टकोणीय स्तम्भ हैं। मन्दिर के पृष्ठ में भगवान् सूर्य की घुटनों तक जूते पहने प्रतिमा स्थापित है जबकि मूल गर्भगृह में भगवान् पद्मनाभ (विष्णु) की प्रतिमा है। मन्दिर का 97 फीट ऊँचा गर्वोन्नत शिखर कमल के समान खुलनेवाला है। मन्दिर के गर्भगृह की उतरांग पट्टिका पर नटराज की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। मूल गर्भगृह का भाग काफी सुन्दर व कलात्मक है। मन्दिर का गर्भगृह रथिका, शिखर, मण्डोवर, अन्तराल आदि सभी में कलात्मक देवपरिवार की सुन्दर मूर्तियाँ पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र हैं।

इसी देवालय के निकट 11वीं शती का एक भव्य और विशाल श्रीशान्तिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर भी है।<sup>48</sup> इसके गर्भगृह में 11 फुट लम्बी काले पाषाण की कायोत्सर्ग मुद्रा में शान्तिनाथ स्वामी की सुन्दर प्रतिमा दर्शनीय है। इस मन्दिर में काली मण्डप व गूढ़ मण्डप बने हैं। इस मन्दिर में अनेक शैव और वैष्णव प्रतिमाएँ हैं। मन्दिर का सभामण्डप व बाह्यावरण प्राचीन वास्तुकला व मूर्तिकला का सुन्दर उदाहरण है। इस मन्दिर में चीनी व कोड़ीमिश्रित लेप से पाषाण के दो विशाल सुन्दर और प्राचीन हाथी अपनी सूण्ड उठाये स्थापित हैं। इस मन्दिर को श्रेष्ठीशाह पापा हुमड़ ने सन् 1046 में बनवाया था तब इसकी प्रतिष्ठा (प्रतिमा की) भवदेव सूरी ने की थी।<sup>49</sup> इस मन्दिर में सेठों की चाँदी की वेदी व यहाँ स्थापित जैन-प्रतिमाएँ भी दर्शनीय हैं। चाँदी की इस सुन्दर वेदी की प्रतिष्ठा सेठ नेमीचन्द द्वारा कराई गई थी।

यहाँ का एक अन्य प्रसिद्ध मन्दिर वल्लभ सम्प्रदाय के भगवान्

द्वारकाधीश का है जिसे झाला जालिम सिंह ने झालरापाटन की स्थापना के समय बनवाया था।<sup>50</sup> यह झाला राजपरिवार का मन्दिर है। यहाँ 2 देव-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं जिनसे द्वारकाधीश की काले पाषाण की प्रतिमा झालरापाटन के स्थल से खुदाई में प्राप्त हुई थी।<sup>51</sup> दूसरी प्रतिमा नवनीत प्रिया जी की है जिसे झालावाड़ के प्रथम नरेश महाराज राणा मदन सिंह द्वारा यहाँ प्रतिष्ठित किया गया था। मन्दिर में पुष्टिमार्गीय पद्धति से पूजा होती है। इसी क्रम में नगर के उत्तर में पहाड़ी पर एक अधूरा किला 'नौलखा' बना हुआ है जिसे झालावाड़ नरेश पृथ्वी सिंह ने 1860 ई० में नौ लाख रु० की लागत से बनवाया था।<sup>52</sup> इसका निर्माण गागरोन गढ़ के प्रतिरोधस्वरूप करवाया गया था। दुर्ग का द्वार पूर्वाभिमुखी है जिस पर दो सुन्दर छतरियाँ बनी हुई हैं। तेल की दो बड़ी टंकियाँ और सिंहद्वार पर दो हाथियों की सूण्ड में पाइप व छत में छिद्र बने हैं जो शत्रु पर गरम तेल डालने के काम आते थे।<sup>53</sup> झालरापाटन की बनी फीणियाँ (मिठाई) और अतिथि-सत्कार के लिए गुलकंद काफी प्रसिद्ध हैं। यहाँ बनी पाषाण की देव-प्रतिमाएँ भी दूर-दूर तक जाती हैं। इस नगर को व्यापारिक और साहित्यिक क्षेत्र में देशभर में प्रसिद्ध बनाने में यहाँ के सेठ विनोदीराम बालचन्द एवं उनके वंशज लालचन्द सेठी, नेमीचन्द सेठी का उल्लेखनीय योगदान रहा है, जिनकी चर्चा आज भी यहाँ के लोगों की जुबान पर जीवित है।

**कला-नगरी चन्द्रावती**— झालरापाटन से एक किमी० पूर्व की ओर चन्द्रभागा नदी के उत्तरी तट पर झालरापाटन की जातक नगरी चन्द्रावती के अवशेष व सुन्दर और प्राचीन देवालय हैं। इस नगरी से कनिंघम को प्रद्योत से मौर्य काल की अवधि के सिक्के मिले थे,<sup>54</sup> जिससे इसकी प्राचीनता का बोध होता है। मध्य युग में यह नगरी उत्तर से पूर्व की ओर जानेवाले मार्ग में तिजारत का बड़ा केन्द्र थी।<sup>55</sup> अबुल फज़ल के अनुसार इसकी स्थापना मालवा के प्राचीन राजा चन्द्रसेन ने की थी।<sup>56</sup> इस नगरी में कई देवालय थे, जिनमें अभी चन्द्रमौलीश्वर शिव, नवदुर्गा, विष्णु आदि के मन्दिर व उनका प्रतिमा तथा स्थापत्य शिल्प प्राचीन भारतीय संस्कृति की अनुपमेय निधि है।

यहाँ का चन्द्रमौलीश्वर शिव मन्दिर शिल्पकला की दृष्टि से समूचे उत्तर भारत में सबसे अनोखा और सुन्दर प्रमाणित<sup>57</sup> होकर राजस्थान के समस्त तिथियुक्त प्राचीन मन्दिरों में सर्वाधिक प्राचीन है।<sup>58</sup> इस देवालय का निर्माण संवत् 746 में इस नगरी के राजा दुर्गण के काल में यहाँ के एक श्रेष्ठी बोप्पक ने करवाया था।<sup>59</sup> कार्तिक पूर्णिमा पर यहाँ की पवित्र चन्द्रभागा नदी में स्नान का महत्त्व प्राचीन काल से चला आ रहा है। यहाँ एक विशाल कार्तिक मेला भी आयोजित होता है।

**गागरोन दुर्ग**— झालावाड़ नगर से 4 किमी० उत्तर की ओर आहू और कालीसिंह नदी के संगम पर बना गागरोन दुर्ग भारत के प्राचीन और विकट दुर्गों में से एक है। यह दुर्ग तीन ओर नदियों से घिरा

होने के कारण प्राचीन शास्त्रों में वर्णित जलदुर्ग की श्रेणी में आता है। ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार गागरोन पर पहले डोड (परमार) राजपूतों का अधिकार था, जिन्होंने इस दुर्ग का निर्माण करवाया।<sup>60</sup> बाद में यह दुर्ग खींची चौहानों के अधिकार में आया। इस वंश के देवन सिंह ने बीजलदेव डोड़ को मारकर इस दुर्ग पर 12वीं शती के उत्तरार्द्ध में अधिकारकर इसका नाम 'गागरोन' रखा।<sup>61</sup> खींची-नरेशों ने लगभग यहाँ 300 वर्षों तक राज्य किया।

सन् 1303 में गागरोन नरेश जैत सिंह के काल में अलाउद्दीन खिलजी (1290-1316) ने इस दुर्ग पर आक्रमण किया लेकिन जैत सिंह ने उसका सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया था।<sup>62</sup> उसके तीन पीढ़ी बाद यहाँ के शासक पीपाराव (14वीं-15वीं शताब्दी) एक भक्तिपरायण नरेश हुए जो बाद में काशी जाकर रामानन्दाचार्य के शिष्यत्व में सन्त बने। उनका मठ व समाधि आज भी उक्त नदियों के संगम पर बनी हुई है। जैत सिंह के काल में यहाँ सूफी सन्त हमीदुद्दीन चिश्ती भी आये जिनकी दुर्ग में विशाल दरगाह है।

गागरोन का सर्वाधिक ख्यातनाम शासक अचलदास खिंची (15वीं शताब्दी) हुआ। वह मेवाड़ के महाराणा मोकल (1420-1433) का दामाद था। सन् 1423 में माण्डू के सुल्तान होशंगशाह ने अचलदास पर विशाल सेना के साथ आक्रमण किया। भीषण संग्राम में अचलदास वीरगति को प्राप्त हुआ और उसकी रानियों व दुर्ग की सहस्रों ललनाओं (*अचलदास खिंची की वचानिका* के अनुसार चालीस सहस्र) ने अपने को जौहर की ज्वाला में होम कर दिया था।<sup>63</sup>

बाद में इस दुर्ग पर अनेक आक्रमण हुए और यह युद्धों और मध्ययुगीन राजनीति का केन्द्र बिंदु रहा। मेवाड़-मालवा और हाड़ौती के संगम पर स्थित होने से इस दुर्ग पर कई शासकों की दृष्टि रही। 1444 ई० में महमूद खिलजी, 1519 ई० में महमूद खिलजी द्वितीय, 1532 ई० में बहादुरशाह (1526-1537), 1540-42 ई० में शेरशाह (1540-1545), 1561 व 1567 ई० में अकबर (1556-1605) ने इस दुर्ग पर अपना कब्ज़ा बरकरार रखा।<sup>64</sup> मुगल काल में गागरोन दुर्ग का उल्लेख 'मालवा सूबे की सरकार' के रूप में आता है। इस दुर्ग की नैसर्गिक सुरक्षा-व्यवस्था अत्युत्तम है। ऐसी प्राकृतिक स्थिति के मध्य इसकी निर्मिती ही इसे भारत के अन्य दुर्गों में सबसे अलग स्थान प्रदान करती है।

इस दुर्ग में पर्यटन की दृष्टि से आज भी कई ऐतिहासिक निधियाँ दर्शनीय हैं। दुर्ग में रनवास, दरबार-महल, रंगमहल, नक्कारखाना, बारूदखाना, टकसाल, जौहर कुण्ड, शाही कक्ष, मधुसूदन मन्दिर दर्शनीय है। दुर्ग की रामबुर्ज से प्रकृति की सुरम्यता का अवलोकन काफी सुन्दर होता है। गागरोन के 'राय तोते' मनुष्य की

आवाज में हू-ब-हू बोलने के लिए प्रसिद्ध हैं।

**चाँदखेड़ी जैन मन्दिर**— मुख्यालय से 35 किलोमीटर पूर्व की ओर खानपुर कस्बे के चाँदखेड़ी में आदिनाथ स्वामी का भव्य जैन मन्दिर इतिहास और पर्यटन का सुन्दर समन्वय है। इस मन्दिर का निर्माण संवत् 1746 में कोटा राज्य के दीवान किशनदास बधेरवाल ने करवाया था।<sup>65</sup> मन्दिर के गर्भगृह में भगवान् आदिनाथ की सुन्दर और मनोज्ञ प्रतिमा स्थापित है। इस मन्दिर को विचित्र और मस्जिदाकार शैली में बनवाया गया था, जो औरंगजेब के कोप से बचने का प्रयास था। मन्दिर में वर्द्धमान महावीर सहित कई तीर्थंकरों की प्राचीन और सुन्दर प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं। मन्दिर में आवास-भोजन की पूरी व्यवस्था है।

**दलहनपुर**— मुख्यालय से 50 किमी० पूर्व की ओर अकलेरा मार्ग पर स्थित बोरखेड़ी ग्राम से 10 किमी० दूर स्थित दलहनपुर प्राचीन शैव मत व तंत्र-साधकों का विशाल साधना-स्थल रहा है। राजस्थान में यह वह स्थल है जहाँ शैव संस्कृति के विविध आयामों के पग-पग पर दर्शन होते हैं। यहाँ का उत्कृष्ट स्थापत्य और शिल्प तथा कई संवत्तों के शिलालेख प्राचीन इतिहास के अनछुए पृष्ठ संजोए हुए हैं। दलहनपुर को देलाशाह नामक एक श्रेष्ठि ने बसाया था। यहाँ से मिले शिलालेख इस स्थल की प्राचीनता को दर्शाते हैं।<sup>66</sup> यहाँ 100 कक्षोंवाला तंत्र साधना मठ, दो अन्य कलात्मक मण्डप, शैव व वैष्णव मन्दिर हैं। इन सभी के स्तम्भों पर प्राचीन और सुन्दर देव-मूर्तियाँ व तंत्र-साधकों की मूर्तियाँ दर्शनीय हैं।

**कोल्वी की बौद्ध गुफाएँ**— मुख्यालय से 80 किमी० दूर दक्षिण में डग (उप तहसील) में स्थित ग्राम कोल्वी, हथियागौड़, बिनायगा और गुनाई में प्राचीन बौद्ध गुफाओं का विशाल समूह पुरातत्त्व और पर्यटन के हिसाब से देखने योग्य है। इन ग्रामों में क्रमशः कोल्वी में 100, हथियागौड़ में 7, गुनाई में 8 और बिनायगा ग्राम में 21 बौद्ध गुफाएँ हैं। इन सभी गुफाओं में जहाँ पाषाणों पर बौद्ध सम्प्रदाय के हीनयान मत के चक्र, घण्टिका, स्तूप-जैसे प्रतीकात्मक बौद्ध चिह्न हैं, वहीं कोल्वी और गुनाई में भगवान् बुद्ध के महायान मत की खड़ी और पद्मासन-प्रतिमाएँ भी हैं। अतः इन गुफाओं को उक्त दोनों मतों का समन्वय माना जा सकता है। कोल्वी की गुफाओं की खोज प्रथम बार 1853 ई० में इम्पे<sup>67</sup> ने की थी जबकि बिनायगा-गुफाओं की खोज 1922-23 ई० में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के तकनीकी सहायक मौलवी ज़फर ने की थी।<sup>68</sup>

कोल्वी में अनेक गुफाएँ दोतल्ला व अग्निकुण्डयुक्त हैं। यहाँ बिम्ब चैत्य, दण्डाकार विहार, स्तूपों के साथ तथागत की खड़ी और पद्मासन-प्रतिमाएँ हैं। हथियागौड़ की गुफाओं में सभागृह, स्तूप व

स्तम्भों पर सुन्दर अलंकरण है। गुनाई-गुफाओं में गवाक्षों की सुन्दरता देखने योग्य है। बिनायगा गुफाओं में चैत्य, विशाल स्तूप व सभागृह हैं। कोल्वी की गुफाओं में भिक्षुओं के शयनार्थ आसन्दी एवं उनके शीर्ष पर तकिये कलात्मकता से बने हुए हैं। कनिंघम<sup>69</sup> ने इन गुफाओं के निर्माण का समय 7वीं से 9वीं शती बताया है।

**गंगधार**— मुख्यालय से 120 किमी० पश्चिम में स्थित गंगधार कस्बा पुरातात्विक महत्त्व का स्थल है। यहाँ से अवाप्त मालव संवत् 480 का अभिलेख<sup>70</sup> इस स्थल की सर्वसम्पन्नता का प्रमाण है। यह अभिलेख औलिकरवंशी दशपुरीय नरेश नरवर्मा के पुत्र विश्ववर्मा का है। वह गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम का समकालीन था। विश्ववर्मा के मंत्री मयूराक्षक ने गंगधार में वैष्णवों के लिए विष्णु मन्दिर, तान्त्रिकों के लिए डाकिनी सप्रकीर्ण सप्तमातृका मन्दिर तथा प्रजाहितार्थ तालाब व कूपों का निर्माण करवाया था। गंगधार के उत्खनन से अनेक युगों के अवशेष मिले हैं जिससे इस स्थल की प्राचीनता का बोध होता है। 16वीं शती में यह स्थल झाला राजपूतों की राजधानी के रूप में चर्चित था।<sup>71</sup> उन्होंने यहाँ क़िला, महल व सुन्दर भवन निर्मित करवाए जो आज भी पर्यटन के रूप में देखने योग्य हैं।

**मनोहारी मनोहरथाना**— मुख्यालय से 92 किमी० पूर्व में परवन और कालीखाड़ नदियों के संगम पर बसा मनोहरथाना मध्ययुगीन इतिहास और प्रकृति की सुन्दर दृश्यावली का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करता है। पहले इसे 'खाताखेड़ी' कहते थे। दिल्ली के मुगल बादशाहों ने इसे नवाब मुनवर ख़ाँ (मनोहर ख़ाँ) को दिया जिसने इसे अपने नाम पर बसाया।<sup>72</sup> बाद में यह भीलों के हाथ लगा और उन्होंने यहाँ नदियों के संगम पर एक सृष्टि क़िला बनवाया।<sup>73</sup> इस क़िले में आज भी कई मन्दिर और अंतर्गर्भ कक्ष हैं। क़िला पर्यटन की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है। इस क़िले को 24 दिसम्बर, 1632 को गन्नूर के ज़ागीरदार नसीरी ख़ाँ ने भागीरथ भील से जीता था।<sup>74</sup>

बाद में यह कस्बा पुनः भीलों के अधिकार में आया। कोटा के महाराव भीम सिंह (प्रथम) के समय (1707-1720) यहाँ का भील राजा चक्रसेन था। उसके पास 500 घुड़सवार व 800 तीरंदाज सदैव रक्षार्थ तैयार रहते थे। भीम सिंह ने एक युद्ध में चक्रसेन को हराकर मनोहरथाना पर अधिकार जमाया।<sup>75</sup> मनोहरथाना से चक्रसेन भागकर मालवा में ओंकारेश्वर गया जहाँ आज भी उसके वंशज रहते हैं। मनोहरथाना एक सृष्टि शहर पनाह से घिरा है जिसे झाला जालिम सिंह ने बनवाया था।<sup>76</sup> यहाँ पर सागवान की लकड़ी और गोंद के विशेष पापड़ अतिथि-सत्कार के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध हैं। बरसात में यह कस्बा तीन ओर से नदियों से घिर जाता है तब यहाँ से प्रकृति और पर्यटन का भरपूर आनन्द लिया जा सकता है। यहाँ की नदी के मध्य बना थानेश्वर महादेव मन्दिर व कस्बे में बने रामटेक व राणी सती

मन्दिर भी कला-दृष्टि से देखने योग्य है।

**सन्दर्भ :**

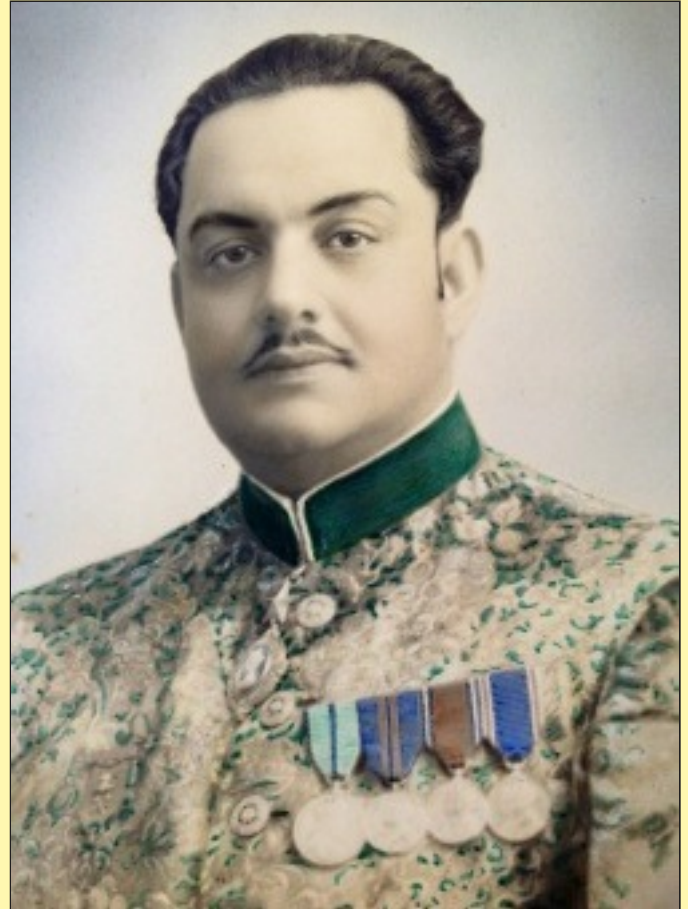
1. एचीसन, सी०यू०, *ए कलेक्शन ऑफ ट्रिटीज एन्जोमेन्ट्स एण्ड सनद्स रिलेटिंग टू इण्डिया एण्ड नेबरिंग कन्ट्रीज*, भाग 3 (राजपुताना), मित्तल पब्लिकेशन, दिल्ली, 1929, पृ० 265 (पुनर्प्रकाशन)
2. *वही*, पृ० 265-67.
3. जिला प्रशासन झालावाड़ द्वारा प्रकाशित *प्राविधिक जनगणना प्रतिवेदन*, 2001 (राजस्थान), पृ० 1.
4. *वही*, पृ० 8.
5. *झालावाड़ जिले की जनगणना, 2011*
6. मंगलानी एच०जे०, *हिस्ट्री, कल्चर एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ झालावाड़ स्टेट*, जयपुर पब्लिशिंग हाउस, 1988, पृ० 24.
7. *द इम्पीरियल गज़ेटियर ऑफ इण्डिया*, भाग 14, टूडे एण्ड टुमोरोस पब्लिकेशन, फरीदाबाद, (हरियाणा), 1908, पृ० 122.
8. दीपक माधो सिंह, *महाराज राणा भवानी सिंह : जीवन और कृतित्व*, भारतीय साहित्यकार संघ, करोलबाग, दिल्ली, 1973, पृ० 5.
9. (1) भवानी नाट्यशाला के प्रवेश-द्वार पर लगे अभिलेख से साभार।  
(2) दत्त, सर्वेश्वर, *झालावाड़ के झरोखे से झाँकती भवानी नाट्यशाला*, कविराज हवेली, बड़ाबाजार, झालावाड़, 1991, पृ० 5.
10. *चिदम्बरा*, वर्ष 1984, जुलाई-सितम्बर, अंक 6-9, भारतेंदु साहित्य समिति, लाडपुरा, कोटा, 1984, पृ० 57.
11. निर्विरोध, डॉ० तारादत्त, *राजस्थान का पारसी थियेटर*, एम०आर० इंटरनेशनल, जयपुर, 2002, पृ० 53
12. दत्त, सर्वेश्वर, पूर्वोद्धृत, पृ० 3.
13. निर्विरोध, डॉ० तारादत्त, पूर्वोद्धृत, पृ० 52-53.
14. दत्त सर्वेश्वर, पूर्वोद्धृत, पृ० 5.
15. *वही*, पृ० 3.
16. *वही*, पृ० 4.
17. *सुजस* (सूचना एवं जनसम्पर्क निदेशालय राजस्थान, जयपुर की पत्रिका) सूचना एवं जनसम्पर्क निदेशालय, जयपुर, फरवरी-मार्च 1998, पृ० 44.
18. (1) *ज़र्नल ऑफ इण्डियन म्यूज़ियम*, अंक 11, फलक 7, चित्र 3, बम्बई, 1955.  
(2) *मरु भारती* (शोध-पत्रिका), वर्ष 8, अंक 1, बिड़ला एजुकेशन ट्रस्ट, पिलानी, पृ० 67.  
(3) ओझा, गोरीशंकर हीराचन्द, *मध्यकालीन भारतीय संस्कृति*, प्रकाशक नाम मुद्रित नहीं, 1944, पृ० 25.  
(4) *ज़र्नल ऑफ इण्डियन सोसायटी ऑफ ओरियंटल आर्ट*, अंक 16, कलकत्ता, 1948, पृ० 86.
19. (1) *मरु भारती*, वर्ष 5, अंक 3, पृ० 34-37.  
(2) *विद्या भवन विद्यापीठ, उदयपुर की शोध पत्रिका*, भाग 7, अंक 1, पृ० 9-13.
20. *वही*
21. *वही*
22. कनिंघम, अलेक्जेंडर, *आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट : 1862-65*, भाग 2, इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, दिल्ली, पृ० 267.
23. *विद्या भवन विद्यापीठ, उदयपुर की शोध पत्रिका*, भाग 7, अंक 2-3, पृ० 6-9.
24. (1) *वही*, अंक 2-3, भाग 7, पृ० 31-32.  
(2) *वही*, अंक 2-3, भाग-अज्ञात, वर्ष 25, पृ० 42-43.
25. *मरु भारती*, वर्ष 38, अंक 1, अप्रैल, 1990, पृ० 22.
26. फ्लीट, जॉन फेथफुल, *कार्पस इन्सक्रिप्शनम इण्डीकेरम*, भाग 3, इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, वाराणसी, 1962, पृ० 72-78.
27. *इण्डियन ऐंटीक्वेरी*, भाग 5, पृ० 181-182, मूल प्रति की छायाप्रति प्रेषण हेतु लेखक डॉ० श्याम सुन्दर निगम, निदेशक, श्री कावेरी शोध संस्थान, 34, केशव नगर, गौघाट, उज्जैन (म०प्र०) का आभारी है।
28. जनरल एण्ड प्रोसीडिंग्स आफ दी एशियाटिक सोसायटी, बंगाल, वर्ष 10, अंक 6, 1914, पृ० 241-243.
29. खान एस०आर०, *हाड़ौती के प्रमुख शिलालेख*, हाड़ौती शोध संस्थान, कोटा, 1998, पृ० 25 व 216.
30. सुजस, पूर्वोद्धृत, पृ० 44.
31. *झालावाड़ की कला संस्कृति : एक सर्वेक्षण (स्मारिका)*, अखिल राजस्थान लेखक सम्मेलन, भारतेन्दु समिति, कोटा, नवम्बर, 1972, पृ० 16.
32. पुरातत्त्व संग्रहालय, झालावाड़ से प्राप्त जानकारी के आधार पर
33. *वही*।
34. दीपक माधोसिंह, पूर्वोद्धृत, पृ० 4.
35. मनोहर डॉ० राघवेन्द्र सिंह (सं०), राजस्थान के प्रमुख नगर और कस्बे, राजस्थान पत्रिका, केसरगढ़, जयपुर, 2000, पृ० 194.
36. व्यक्तिगत सर्वेक्षण (बुजुर्गों से साक्षात्कार)।
37. मनोहर, डॉ०, राघवेन्द्र सिंह (सं०) पूर्वोद्धृत, पृ० 194.
38. गुप्ता, मोहनलाल, *राजस्थान जिलेवार ऐतिहासिक अध्ययन* (प्रथम खण्ड), झालावाड़ जिला, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, प्रथम संस्करण, 2004, पृ० 83.
39. रैन बसेरा परिसर में स्थापित शिलालेख से साभार।
40. रैन बसेरा के प्रथम कक्ष में स्थापित झालावाड़ स्टेट का बोर्ड से साभार।
41. जिंदाणी, इन्द्रमल अमोलक चन्द, तवारीख-ए-झालावाड़, सेन्ट्रल जेल प्रेस, छावनी, झालावाड़, 1912, पृ० 18.
42. निगम, डॉ० श्यामसुन्दर (सं०), *शोध समवेत* (शोध-पत्रिका), वर्ष 12, अंक 3-4, श्री कावेरी शोध संस्थान, उज्जैन, पृ० 102.
43. टॉड, कर्नल जेम्स, *राजस्थान का इतिहास*, बलदेव प्रसाद मिश्र (अनु०), भाग 2, श्री व्यंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, संवत् 1982, पृ० 1073-75.
44. *वही*
45. *वही*
46. झालरापाटन की प्रसिद्ध व्यापारिक फर्म बिनोदीराम बालचन्द (बिनोद भवन, झालरापाटन) के वंशज निखिलेश सेठी (कैलाश भवन, रामपुरा कोटा) से प्राप्त सन् 1919 के महत्वपूर्ण दस्तावेज से साभार।
47. सोमानी, राम बल्लभ, *वरदा* (शोध-पत्रिका), वर्ष 17, अंक 1, राजस्थान साहित्य समिति, बिसाऊ, जनवरी-मार्च 1974, पृ० 8.
48. ठोठियाल बी०एन०, *राजस्थान स्टेट गज़ेटियर, झालावाड़*, गवर्नमेन्ट प्रेस, जयपुर, 1964, पृ० 289.
49. *अनेकान्त* (जैन इतिहास शोध-पत्रिका) भाग 13, वीर सेवा सदन, दरियागंज 21, दिल्ली, पृ० 125.
50. कविराजा श्यामलदास, *वीर विनोद* (द्वितीय भाग, द्वितीय खण्ड), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनर्प्रकाशन, 1986, पृ० 1468.

51. वही
52. ठोठियाल, बी०एन०, पूर्वोद्धृत
53. जिंदाणी, इन्द्रमल अमोलक चन्द, पूर्वोद्धृत, पृ० 49.
54. कनिंघम, ए०, पूर्वोद्धृत, पृ० 263-64.
55. भारद्वाज डॉ० शान्तिलाल (सं०), हाड़ौती का पुरातत्त्व, हाड़ौती शोध संस्थान, कोटा, 1989, पृ० 63-64.
56. कनिंघम, ए०, पूर्वोद्धृत
57. शाह, रतन (संयोजक), *सांस्कृतिक राजस्थान*, खण्ड 1, अखिल भारतीय मारवाड़ी समाज, कलकत्ता, 1982, पृ० 127.
58. वही
59. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द, *प्राचीन लिपिमाला*, लिपिपत्रक संख्या 12, सज्जन यंत्रालय, उदयपुर, 1894, पृ० 62-65.
60. मनोहर, डॉ० राघवेन्द्र सिंह, *राजस्थान के प्रमुख दुर्ग*, राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1997, पृ० 44.
61. देसाई, लक्ष्मीबाई, भीमभाई, *चौहान कुल कल्पद्रुम*, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, द्वितीय संस्करण, 2002, पृ० 91, 97.
62. मनोहर, डॉ० राघवेन्द्र सिंह, पूर्वोद्धृत, पृ० 45.
63. मनोहर, डॉ० शम्भु सिंह (सं०), *अचलदास खींची री वचनिका*, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1991, पृ० 263.
64. डे, उपेन्द्रनाथ, *मेडिएवल मालवा*, देहली, प्रकाशक अज्ञात, 1965, पृ० 323.
65. शर्मा, मथुरालाल, *कोटा राज्य का इतिहास* (प्रथम भाग), कोटा प्रिन्टिंग प्रेस, कोटा 1939, पृ० 219-20, परिशिष्ट संख्या 11.
66. ऐबट, एच०बी०, *रिपोर्ट ऑन दी रेवेन्यू सेटलमेन्ट ऑफ़ झालावाड़ स्टेट*, गवर्नमेन्ट प्रेस, कलकत्ता, 1885, पृ० 11.
67. *द जर्नल ऑफ़ द बॉम्बे ब्रांच ऑफ़ रॉयल एशियाटिक सोसायटी*, भाग 5, 1857, पृ० 338.
68. (1) कनिंघम, ए०, *आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया रिपोर्ट*, इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, दिल्ली-वाराणसी, 1922-'23, पृ० 124.  
(2) पहाड़िया, एस०एम०, *बुद्धिज्म इन मालवा*, के०बी० पब्लिशिंग हाउस, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली, 1976, पृ० 18 पर पाद-टिप्पणी
69. कनिंघम, ए०, *आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया फोर रिपोर्ट्स ड्यूरिंग द ईयर 1862, 63, 64 एण्ड 65*, इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, दिल्ली, पृ० 287.
70. मिश्र, गिरिजाशंकर (अनु०), *भारतीय अभिलेख संग्रह*, मूल लेखक : जॉन फेथफुल फ्लीट, खण्ड 3, राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1974, क्रमांक 17, फलक 10.
71. राणावत, डॉ० मनोहर सिंह, *शाहजहाँ के हिंदू मनसबदार*, हिंदी साहित्य मन्दिर, जोधपुर, 1973, पृ० 323-25.
72. कविराजा, श्यामलदास, पूर्वोद्धृत, पृ० 1464.
73. गहलोत, जगदीश सिंह, *राजपुताने का इतिहास*, द्वितीय भाग, (कोटा राज्य), हिन्दी साहित्य मन्दिर, जोधपुर, मई 1960, पृ० 32.
74. (1) सक्सेना, बनारसीदास, *मुगल सम्राट् शाहजहाँ*, पृ० 115.  
(2) लाहौरी, अब्दुल हमीद, *बादशाहनामा*, भाग 1, पृ० 449.
75. शर्मा, मथुरालाल, पूर्वोद्धृत, पृ० 300.
76. गहलोत, जगदीश सिंह, पूर्वोद्धृत, पृ० 32.





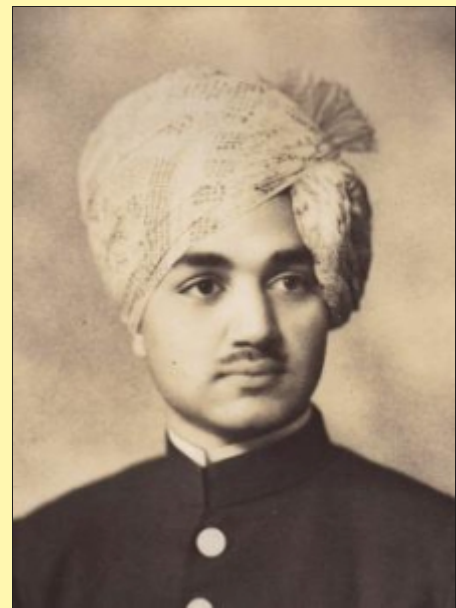
राजराणा जालिम सिंह प्रथम ( 1740-1824 )



महाराज राणा सर श्री राजेन्द्र सिंहजी देव बहादुर ( 1929-1943 )



महाराज राणा जालिम सिंह द्वितीय बहादुर ( 1876-1896 )



महाराज राणा श्री हरिश्चन्द्र सिंह देव बहादुर ( 1943-1967 )



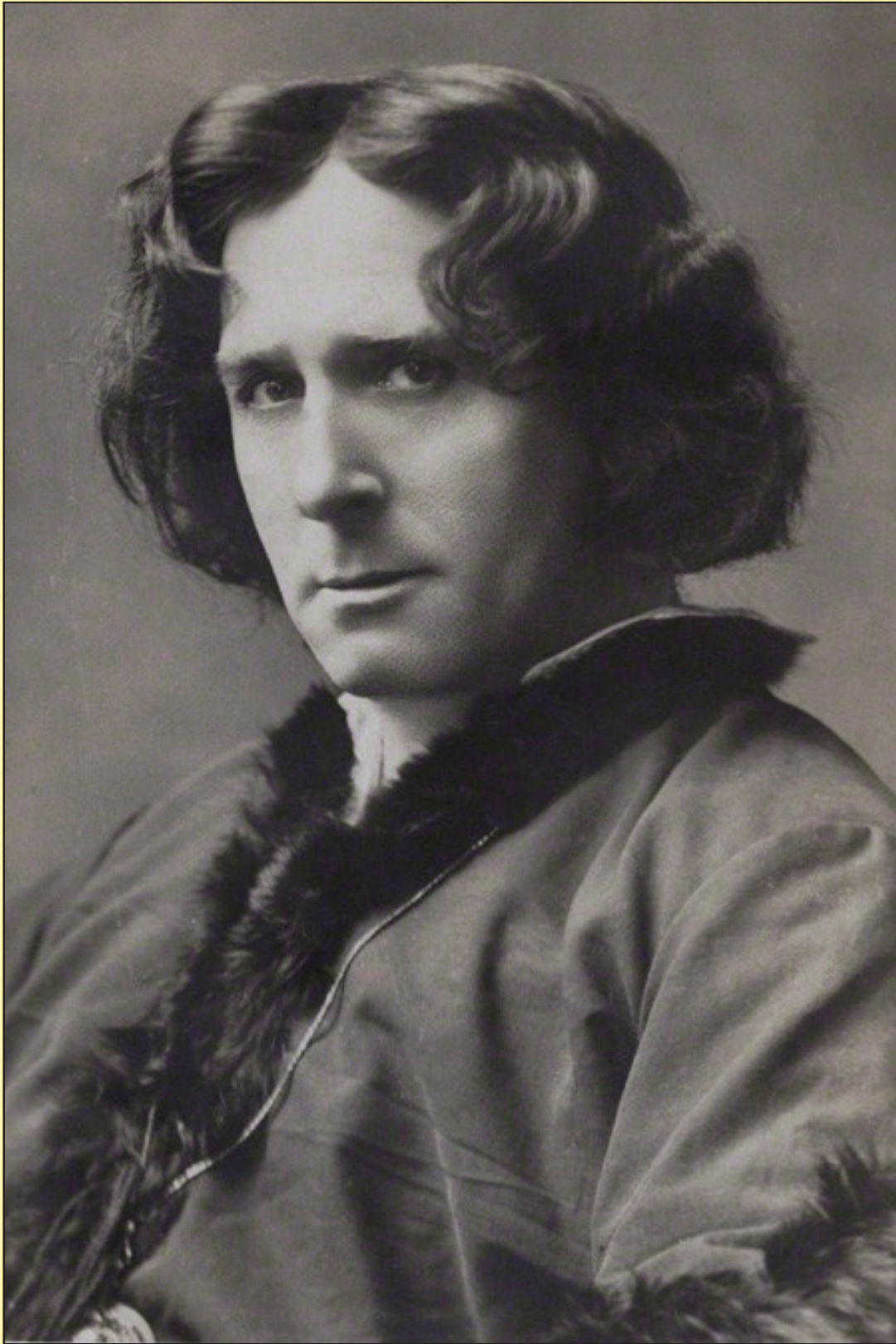
महाराज राणा सर श्री भवानी सिंह बहादुर ( 1899-1929 )



राजकीय संग्रहालय गढ़ पैलेस



भवानी नाट्यशाला



‘हेमलेट’ में हेमलेट के रूप में चार्ल्स डोरेन

by (Henry Donald) Halksworth Wheeler

bromide postcard print, circa 1910s; Given by Newark District Council, 1984



रैन बसेरा



सूर्य मन्दिर श्री पद्मनाभ जी, झालावाड़



जैन मन्दिर, झालावाड़



जैन मन्दिर, झालावाड़



चन्द्रखेरी जैन मन्दिर



चन्द्रखेरी जैन मन्दिर का आन्तरिक दृश्य



विश्व प्रसिद्ध गागरोन दुर्ग



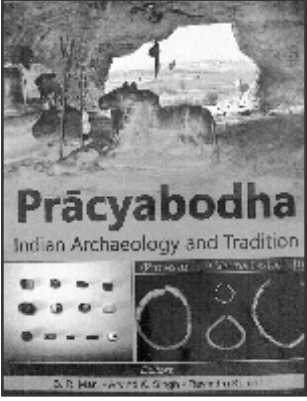
कौल्वी बौद्ध गुफाएँ



कौल्वी बौद्ध गुफाएँ

## पुस्तक-समीक्षा

### ‘प्राच्यबोध’ : एक समर्पित पुरातत्त्वाचार्य का अभिनन्दन-ग्रन्थ



पुस्तक - नाम :  
'*Prācyabodha : Indian Archaeology and Tradition (Professor T.P. Verma Festschrift)*'  
(2 खण्ड); संपादकत्रय :  
बी०आर० मणि, अरविन्द के० सिंह एवं रवीन्द्र कुमार;  
प्रकाशक : बी०आर० पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन, 425, निम्नी

कॉलोनी, अशोक विहार, फेज 4, दिल्ली-110 052; प्रथम संस्करण :  
2014 ईसवी; आई०एस०बी०एन०: 9789350501450 (सेट);  
मूल्य : ₹ 10,000/- (सेट) (सजिल्द)



श्रेष्ठ आचार्य  
ठाकुर प्रसाद  
वर्मा अपनी  
पुरातत्त्व -  
गवेषणा, शोध-निबन्ध और  
इतिहास को नयी दिशा देने के  
कारण न केवल भारत, अपितु  
विश्व के प्राच्यविदों के मध्य  
अत्यन्त प्रतिष्ठित विद्वान् हैं।  
बहुमुखी प्रतिभा के धनी प्रो०

वर्मा एक साथ इतिहासकार, पुरातत्त्वविद्, प्राच्यविद्, वैयाकरण,  
साहित्याचार्य, संपादकाचार्य, कोशकार, लोकप्रिय प्राध्यापक, शिक्षाविद्  
और विचारक के रूप में केवल उत्तरप्रदेश के ही नहीं, अपितु समस्त

भारतवर्ष के गौरव हैं। जीवन के चौरासी वसन्त देखने के बाद भी  
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति, पुरातत्त्व, प्राच्यविद्या,  
संस्कृत-वाङ्मय और भारत के प्राचीन गौरव के प्रति इनकी आस्था  
और अध्ययन की ओर रुचि कम नहीं हुई है। इतिहास एवं पुरातत्त्व के  
विविध उपविषयों के बड़े-छोटे अनेक ग्रन्थों के परिश्रमपूर्वक गहन  
अध्ययन, संपादन, समालोचना और प्रकाशन के द्वारा इन्होंने एक ओर  
देश-विदेश के विद्वानों की ज्ञान-पिपासा पूर्ति का और दूसरी ओर  
भारतीय वाङ्मय-निधि को समृद्ध करने का व पुराने इतिहास की  
कड़ियों को जोड़ने का श्लाघनीय कार्य किया है। इनके 82वें जन्मदिवस  
पर इन्हें ‘अभिनन्दन-ग्रन्थ’ समर्पण का निर्णय लिया गया।

प्राच्यविद्या के महामनीषी, पुरातत्त्वाचार्य श्री ठाकुर प्रसाद  
वर्मा (‘टी०पी० वर्मा’ के नाम से लोकप्रिय) दिनांक 20 जनवरी, 1931  
ई० को ग्राम गोनहा ताल (तहसील बांसी, जिला बस्ती, सम्प्रति  
सिद्धार्थनगर, उ०प्र०) में जन्मे। 13 वर्ष की आयु में ये राष्ट्रीय  
स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक बने। सन् 1949 में गाँधी-हत्याकाण्ड के  
बाद संघ पर प्रतिबन्ध लगने से इन्होंने स्वयंसेवकों के साथ सत्याग्रह में  
भाग लिया और जेलयात्रा भी की। सन् 1954 में इन्होंने गोरखपुर के  
सेंट एण्ड्रयूज़ कॉलेज (आगरा विश्वविद्यालय से सम्बद्ध) से स्नातक  
तथा 1958 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास,  
संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग से प्रथम श्रेणी में स्नातकोत्तर की उपाधि  
प्राप्त की। जुलाई, 1959 में इनकी नियुक्ति छत्तीसगढ़ डिग्री कॉलेज में  
व्याख्याता के पद पर हुई। किन्तु वहाँ कुछ ही समय अध्यापन-कार्य  
करने के बाद ये वापस अपने पैतृक गाँव आ गए और रतन सिंह डिग्री  
कॉलेज में व्याख्याता हुए। इसी समय इन्होंने काशी हिंदू विश्वविद्यालय  
के विश्वविख्यात पुरातत्त्वाचार्य श्री अवध किशोर नारायण के निर्देशन  
में ‘पीएच० डी०’ के लिए पंजीकरण कराया और सन् 1968 में  
‘पैलियोग्राफी इन पोस्ट-अशोकन ब्राह्मी स्क्रिप्ट’ विषय पर  
शोध-कार्य (पीएच० डी०) पूर्ण किया।

डॉ० ठाकुर प्रसाद वर्मा सन् 1966 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में व्याख्याता के पद पर नियुक्त होकर 1993 में उपाचार्य के पद से सेवानिवृत्त हुए। इस दौरान इन्होंने कुछ समय के लिए गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग में प्रोफेसर (आचार्य) एवं अध्यक्ष पद को भी सुशोभित किया और लगभग पाँच महीने वाराणसी के डी०ए०वी० डिग्री कॉलेज के प्राचार्य भी रहे। एक सहज, स्नेही गुरु के रूप में इन्होंने अपने शिष्यों पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ी है। इनके कुशल शोध-निर्देशन में प्राचीन इतिहास, मुद्राशास्त्र, अभिलेखशास्त्र, लिपिशास्त्र, मूर्तिकला, स्थापत्यकला, संगीतशास्त्र, प्रतीकशास्त्र, क्षेत्रीय इतिहास आदि विषयों में दो दर्जन से अधिक शोध-कार्य संपन्न हुए हैं।

आचार्य ठाकुर प्रसाद वर्मा लिपिशास्त्र, अभिलेखशास्त्र, मुद्राशास्त्र एवं प्राचीन इतिहास के अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विशेषज्ञ हैं। इनकी लगभग डेढ़ दर्जन से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हैं एवं शताधिक शोध-पत्र प्रतिष्ठित ऐतिहासिक पत्रिकाओं की शोभा बढ़ा रहे हैं। इसके अतिरिक्त लगभग एक दर्जन इतिहास-ग्रन्थों का इन्होंने संपादन किया है, जिनमें बृहदाकार 'श्रीराम विश्वकोश' (1992), 'डेटिंग इन इण्डियन आर्कियोलॉजी : प्रॉब्लम्स एण्ड पर्सपेक्टिव्स' (1998), 'लोकायतनम्' (2012) और 'विभूतिम्' (2012) प्रमुख हैं। आचार्य वर्मा आलोचक-दृष्टिसंपन्न हैं और इनके द्वारा शताधिक इतिहास-ग्रन्थों की समीक्षा-समालोचना की गई है। इनकी टिप्पणियों से यह स्पष्ट होता है कि इनका इतिहास का समस्त लेखन मौलिक स्रोतों और ऐतिहासिक सामग्री-संकलन पर ही आधारित है। श्री वर्मा विभिन्न संगठनों से प्रकाशित अनेक शोध-पत्रिकाओं के संपादन-कार्य से सम्बद्ध रहे हैं। नब्बे के दशक में इन्होंने काशी हिंदू विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग की शोध-पत्रिका 'भारती' का भी संपादन किया। मुद्राशास्त्र की प्रतिष्ठित शोध-पत्रिका 'ज़र्नल ऑफ़ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ़ इण्डिया' के 18 अंकों के संपादन का गौरव भी इन्हें प्राप्त है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वरिष्ठ प्रचारक माननीय मोरोपन्त जी पिंगळे (1919-2003) की योजना से इतिहास के कार्य हेतु देशभर में 'बाबा साहेब आपटे स्मारक समिति' की नींव पड़ी (उस समय 'अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना' अस्तित्व में नहीं थी, 'योजना' का विधिवत् पंजीकरण 1994 में हुआ)। अस्सी के दशक में, उन दिनों देशभर के प्रांतों में 'भारतीय इतिहास संकलन समिति' के नाम से इतिहास के पुनर्लेखन आदि का कार्य राष्ट्रवादी इतिहासकारों द्वारा किया जाता था। उस काल में काशी हिंदू विश्वविद्यालय के प्रतिभाशाली विद्वान् श्री ठाकुर प्रसाद वर्मा के संपादकत्व में 'भारतीय इतिहास संकलन समिति पत्रिका' के अनेक अंक प्रकाशित हुए जिनमें

'अवध का क्षेत्रीय इतिहास' (1985), 'युगयुगीन सरयूपार' (1987), 'युगयुगीन काशी' (1987), 'युगयुगीन व्रज' (1988)-जैसे विशेषांक भी शामिल हैं।

आचार्य वर्मा इतिहास एवं पुरातत्त्व की अनेक संस्थाओं से सम्बद्ध हैं और कई के संस्थापक-सदस्य, आजीवन सदस्य, संरक्षक और मार्गदर्शक भी हैं। इनमें वाराणसी की 'द न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ़ इण्डिया' और 'इण्डियन एकेडमी ऑफ़ कल्चरल रिसर्च' (1982); मैसूर की 'इपिग्राफ़िकल सोसायटी ऑफ़ इण्डिया'; कोलकाता की 'एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल'; पुणे की 'इण्डियन सोसायटी फ़ॉर प्रीहिस्टॉरिक एण्ड क्वार्टरनरी स्टडीज़'; दिल्ली की 'अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना', 'भारतीय पुरातत्त्व परिषद्' और 'इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर सोसायटी' आदि प्रमुख हैं।

'अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना' की स्थापना में इनकी महती भूमिका थी। दिल्ली में 'योजना' का पंजीकरण होने पर दिनांक 24 मई, 1994 को जो प्रथम राष्ट्रीय कार्यकारिणी गठित हुई, उसमें प्रो० ठाकुर प्रसाद वर्मा प्रथम राष्ट्रीय उपाध्यक्ष बनाए गए थे। सन् 1999 से 2006 तक उन्होंने 'योजना' के राष्ट्रीय अध्यक्ष पद को गौरवान्वित किया। 'योजना' के स्थापना-काल से लेकर अद्यावधि सभी गतिविधियों में प्रो० वर्मा निरन्तर सक्रिय रहे और उनका पल-पल 'योजना' को प्राप्त होता रहा। विगत 2008 से श्री वर्मा 'योजना' की अर्धवार्षिक शोध-पत्रिका 'इतिहास दर्पण' के प्रधान संपादक के रूप में 'योजना' को अपनी सेवाएँ दे रहे हैं।

स्वभाव से अत्यन्त मृदुभाषी, निरभिमानी, विनम्र और प्रसिद्धि-पराङ्मुख आचार्य ठाकुर प्रसाद वर्मा ने भारतीय विद्या और पुरातत्त्व की प्राचीन सामग्री के संग्रहण, अध्ययन, शोध और प्रकाशन का जो विशाल, मौलिक और ऐतिहासिक कार्य किया है, वह सर्वदा ही अभिनन्दनीय और अनुकरणीय है। सन् 1975 में आसाम साहित्य सभा ने इन्हें 'अन्नोनदोराम बरुआ फेलो' से सम्मानित किया। 1978 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय ने इन्हें शोध और प्रकाशन के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए सम्मानित किया। सन् 2007 में मध्यप्रदेश शासन ने इन्हें पुरातत्त्व के क्षेत्र में संवर्धन, संरक्षण तथा शोध के व्यापक आयामों में किए गए जीवनपर्यंत योगदान एवं सक्रियता के लिए 'डॉ० विष्णु श्रीधर वाकणकर राष्ट्रीय सम्मान : 2007-'08' से अलंकृत किया। 'न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ़ इण्डिया' ने मुद्राशास्त्र के क्षेत्र में अतिविशिष्ट शोध-कार्य के लिए इन्हें रजत और कांस्य पदक देकर सम्मानित किया। 'वर्ल्ड बुद्धिस्ट कल्चरल फाउंडेशन' (दिल्ली) ने भी इन्हें रजत पदक प्रदान किया। 'इण्डियन

इंस्टीट्यूट ऑफ़ रिसर्च इन न्यूमिस्मेटिक स्टडीज़' (नासिक) ने इन्हें कांस्य पदक से विभूषित किया। सन् 2012 में इन्हें इतिहास-सेवा साधना हेतु बीकानेर की 'रातीघाटी राष्ट्रीय शोध एवं विकास समिति' द्वारा 'रातीघाटी राष्ट्रीय इतिहास पुरस्कार : 2012' प्रदान किया गया।

इन पंक्तियों के लेखक की जानकारी में इस मनीषी का सार्वजनिक सम्मान व अभिनन्दन करने का विचार कुछ वर्षों पूर्व किया गया। वस्तुतः परम्परागत रूप में ज्ञानभूमि काशी की पाण्डित्य परम्परा तो विश्वविश्रुत है और यहाँ सदा विद्वानों का समादर होता रहा है। इस प्रसंग में 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' समर्पण के पीछे यह भावना रही कि उत्तरप्रदेश में जन्मी, लेकिन फिर सारे भारतवर्ष में ख्यातिप्राप्त, इस विभूति की जीवन-सेवाएँ प्रकाश में लाई जायें, और आचार्य वर्मा से सुपरिचित लेखकों का जो विशाल समुदाय है, उससे आचार्य जी के प्रिय विषय 'भारतीय पुरातत्त्व एवं परम्परा' पर लेख-सामग्री प्राप्तकर, इसमें दिया जाये। फलस्वरूप प्रो० वर्मा के शिष्यद्वय— डॉ० बी०आर० मणि (अतिरिक्त महानिदेशक, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण) एवं डॉ० अरविन्द कुमार सिंह (प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर) तथा डॉ० रवीन्द्र कुमार (एसोसिएट प्रोफेसर, इंस्टीट्यूट ऑफ़ हेरिटेज रिसर्च एण्ड मैनेजमेंट, दिल्ली), ने अभिनन्दन-ग्रन्थ के संपादन का भार उठाया। ग्रन्थ की सामग्री के चयन, संपादन और प्रकाशन में इन्हीं संपादकत्रय की भूमिका रही। सामग्री (संस्मरण, लेखादि) संकलन हेतु संपादकत्रय द्वारा आचार्य वर्मा के देशभर में फैले शिष्यों और शुभेच्छुओं से पत्राचार, विचार-विमर्श, आदान-प्रदान और बौद्धिक परिश्रम की साकार परिणति 'प्राच्यबोध : इण्डियन आर्कियोलॉजी एण्ड ट्रेडिशन' (प्रो० टी०पी० वर्मा फेस्ट्सचिफ्ट)' शीर्षक ग्रंथ के रूप में हुई है, जो डॉ० ठाकुर प्रसाद वर्मा के शिष्यों और शुभेच्छुओं की ओर से उनको भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व के क्षेत्र में उनके अतिविशिष्ट योगदान के लिए कृतज्ञता-ज्ञापन है।

मेसर्स बी०आर० पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन, दिल्ली द्वारा डबल-डिमाई आकार में, दो जिल्दों में प्रकाशित इस ग्रन्थ की प्रथम जिल्द में lli + 240 पृष्ठ हैं जिनमें 56 पृष्ठ बहुरंगी हैं। इस जिल्द में प्रो० वर्मा के जीवन की चित्रमय झाँकी, उनका जीवन-परिचय और उनके शिष्यों, पुत्री आदि के संस्मरण, प्रो० वर्मा के कार्यों का कालक्रमानुसार विवरण (बिब्लियोग्राफी) के अतिरिक्त इतिहास एवं पुरातत्त्व पर कुल 20 शोध-लेख संगृहीत हैं। इनमें 16 लेख अंग्रेजी में एवं 4 हिंदी में हैं। ग्रन्थ की दूसरी जिल्द में llii + 315 पृष्ठ हैं जिनमें 34 पृष्ठ बहुरंगी हैं। इस जिल्द में भी प्रो० वर्मा का जीवन-परिचय, उनके

शिष्यों के संस्मरण, प्रो० वर्मा के कार्यों का कालक्रमानुसार विवरण के अतिरिक्त इतिहास एवं पुरातत्त्व पर 33 शोध-लेख संगृहीत हैं। इनमें 27 लेख अंग्रेजी में एवं 6 हिंदी में हैं। इस प्रकार इस द्विखण्डीय अभिनन्दन-ग्रन्थ में कुल 53 शोध-लेख संगृहीत हैं, जिनमें 43 लेख अंग्रेजी में एवं 10 हिंदी में हैं।

ग्रन्थ में संकलित रचनाकार हैं— डॉ० ए०के० नारायण, डॉ० अनिल कुमार पोखरिया, डॉ० अनुपमा श्रीवास्तव, सुश्री अपूर्वा श्रीवास्तव, श्री अप्पू सिंह, डॉ० अरविन्द कुमार सिंह, डॉ० अरुण कुमार, डॉ० अशोक कुमार सिंह, डॉ० बी०आर० मणि, डॉ० भुवन विक्रम, डॉ० दलजीत सिंह, डॉ० डी०एन० त्रिपाठी, श्री गुंजन अग्रवाल, डॉ० जी०के० लामा, डॉ० हर्षवर्धन सिंह तोमर, डॉ० झिनकू यादव, श्री जीतेन्द्र नाथ, डॉ० के०एल० अग्रवाल, डॉ० के० कृष्णन, डॉ० कृष्ण कुमार, डॉ० के०एम० सुरेश, डॉ० के०एस० शुक्ल, श्री एल०एम० वहल, डॉ० मीना लाल, डॉ० मीरा शर्मा, डॉ० मेघना गोयल, डॉ० नरेन्द्र परमार, डॉ० नरेश कुमार पाठक, डॉ० नवनीत कुमार जैन, डॉ० ओमप्रकाश लाल श्रीवास्तव, डॉ० पी०सी० पंत, डॉ० पी०के० अग्रवाल, डॉ० परशुराम पाण्डेय, डॉ० पी०एस० ठक्कर, श्री प्रवीण सिंह, डॉ० पुष्पा प्रसाद, डॉ० राजीव रंजन उपाध्याय, डॉ० राजेश कुमार मीणा, डॉ० राजेश एस०वी०, डॉ० राकेश कुमार, डॉ० राकेश तिवारी, डॉ० रत्नेश कुमार त्रिपाठी, डॉ० रवीन्द्र कुमार, डॉ० रेनु बाला, श्री रुसव कुमार साहू, डॉ० सन्तोष कुमार सिंह, डॉ० सतीश चन्द्र मित्तल, डॉ० एस० रामकृष्ण पिसिपती, डॉ० सच्चिदानन्द सहाय, डॉ० सचिन कुमार तिवारी, डॉ० शंकर गोयल, श्री शंकर शर्मा, डॉ० शीतला प्रसाद सिंह, डॉ० एस०आर० गोयल, डॉ० शिवाजी सिंह, डॉ० सुब्रत कुमार आचार्य, डॉ० सुषमा मणि, डॉ० सुचिन्द्र घोष, श्रीमती उषा नारायण, डॉ० विभा उपाध्याय, डॉ० विनय कुमार एवं डॉ० विशि उपाध्याय।

किसी असाधारण व्यक्तित्व की समाज एवं राष्ट्र को विशिष्ट देन के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए कृतज्ञ समाज और राष्ट्र उस व्यक्तित्व के जीते-जी उसको 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' और मरणोपरांत 'स्मृति-ग्रन्थ' समर्पित करता है। व्यक्ति समाजसेवा का कार्य निस्पृह और निःस्वार्थ होकर करे, पर समाज उस सेवा को कृतज्ञता के साथ मान्यता दे, इसी में व्यक्ति का विकास और समाज की समृद्धि है। बीसवीं शती में अनेक जीवित साहित्यकारों, लेखकों, राजनीतिज्ञों, पत्रकारों, राजा-महाराजाओं, महान् व्यक्तियों को 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' समर्पित किए गए हैं। प्रायः ये सभी 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' किसी एक विषय पर केन्द्रित रहे हैं अर्थात् ग्रन्थ में 'विषय-केन्द्रित' लेखों की ही प्रधानता रही है। विषय-केन्द्रित होने से ये 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' विश्वकोशीय महत्त्व के हैं और आज भी उपादेय हैं। 'प्राच्यबोध : इण्डियन आर्कियोलॉजी एण्ड ट्रेडिशन' (प्रो०

टी०पी० वर्मा फेस्टसचिफ्ट) 'अभिनन्दन-ग्रन्थों की शृंखला में एक अनूठा ग्रन्थ है, जिसमें पुरातन परम्परा का निर्वाह किया गया है और ग्रन्थ को विषय-केन्द्रित रखने का प्रयास किया है। किन्तु इतिहास अपने में अनेक विषयों को समेटे हुए है और इसमें अभिलेखशास्त्र, मुद्राशास्त्र, लिपिशास्त्र, स्थापत्य, ज्योतिष, पाण्डुलिपि, कालानुक्रमादि अनेक उपविषय समाविष्ट हो जाते हैं। इस ग्रन्थ में संकलित शोध-लेख अत्यन्त उच्चस्तरीय और बहुमूल्य हैं और भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व पर यथोचित प्रकाश डालते हैं।

ग्रन्थ का आवरण-पृष्ठ आकर्षक है और मुद्रण तथा कागज़ भी प्रशंसनीय है; किन्तु ग्रन्थ का अधिकतम खुदरा मूल्य ₹ 10,000 रुपये रखा गया है, जिससे यह ग्रन्थ केवल पुस्तकालय की ही शोभा बढ़ा सकता है अथवा किसी दुर्लभ पुस्तक-प्रेमी के संग्रह की।

मेरी कामना है कि आचार्य जी शतायु हों और भविष्य में भी वह भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व को अपनी खोजों से समृद्ध करते रहें तथा भारत के प्राचीन इतिहास, संस्कृति, कला एवं पुरातत्त्व को आमजन के सम्मुख लाने में अहम् भूमिका निभाते रहें।

—बालमुकुन्द पाण्डेय \*



**मनु का दण्ड-विधान;**  
लेखक : डॉ० हर्षवर्धन सिंह  
तोमर, संपादक : अभिषेक  
कुमार मिश्र; प्रकाशक :  
अखिल भारतीय इतिहास  
संकलन योजना, बाबा साहेब  
आपटे स्मृति भवन, केशव  
कुञ्ज, देशबन्धु गुप्त मार्ग,  
झण्डेवाला, नयी दिल्ली-110  
055, प्रकाशन-वर्ष : 2014;  
पृष्ठ : 294; आई०एस०  
बी०एन० : 978-93-  
82424-09-3; मूल्य : ₹

700/- (सजिल्द), 300/- (अजिल्द)

सनातन भारतीय परम्परा में मनुस्मृति को प्राचीनतम स्मृति एवं प्रमाणभूत शास्त्र के रूप में मान्यता प्राप्त है। परम्परानुसार यह स्मृति मानवजाति के प्रथम प्रजापति स्वायम्भुव मनु द्वारा रचित है। ब्रह्मा के एक कल्प में 14 मनु पृथिवी पर शासन करते हैं और वर्तमान में सातवें मनु वैवस्वत का काल चल रहा है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चार पुरुषार्थ; देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण-रूपी तीन आवश्यक कर्तव्य, षोडश संस्कार, पञ्च महायज्ञ, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासरूपी चार आश्रम, और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र— इनका चातुर्वर्ण्य संगठन— यही संक्षेप में मनु के धर्म हैं। माता-पिता, पिता-पुत्र, भाई-बहन, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा, मित्र-शत्रु, भाई-भाई, पति-पत्नी, ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य-शूद्र, अन्त्यज, ब्रह्मचारी-गृहस्थ-वानप्रस्थी-संन्यासी— सभी के वेदोक्त धर्म का निरूपण इसमें प्राप्त होता है। इसलिए दीर्घ काल तक आस्तिक हिंदुओं के कार्य-व्यवहार का आधार मनुस्मृति रही है। इसी कारण इसका प्रभाव न्याय-प्रणाली पर भी पड़ा।

प्रस्तुत ग्रन्थ मनुस्मृति पर आधारित है। यह ऐतिहासिक सत्य है कि जब-जब भारत पर सांस्कृतिक आक्रमण हुए हैं, तब-तब सनातन संस्कृति ने अपने धर्ममूलक सिद्धान्तों के बल पर इन प्रहारों के प्रभाव को आत्मसात करते हुए उन्हें अपनी जीवनधारा में समाहित कर लिया। रूढ़ होती परम्पराओं और मान्यताओं को पुनर्व्याख्या के द्वारा धर्म-साहित्य के माध्यम से समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। वर्तमान युग भी सांस्कृतिक संक्रमण का है, जिसमें हमारी सांस्कृतिक विरासत की उपेक्षा की जा रही है जो राष्ट्ररूपी अवधारणा के लिए विनाशकारी है। इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य मनुस्मृति में वर्णित विधि-विधानों के आलोक

\* संगठन-सचिव, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना, बाबा साहेब आपटे स्मृति भवन, 'केशव कुञ्ज', देशबन्धु गुप्त मार्ग, झण्डेवाला, नयी दिल्ली-110 055; ई-मेल : balmukund23@gmail.com

में संशोधन-परिवर्धन के साथ वैभवसंपन्न प्राचीन भारतीय व्यवस्थाओं का युगानुरूप पुनर्निर्माण करना है। प्रस्तुत ग्रन्थ को सात अध्याय में समेकित कर इस विषय को पूर्णता प्रदान करने का प्रयत्न किया गया। वस्तुतः यह ग्रन्थ मनु-वचनों के संकलित अभिधानों पर अपनी तर्कसंगत व्याख्या है, साथ ही मनु के वचनों के आलोक में सांस्कृतिक प्रतिमानों की सुरक्षा के साथ-साथ समय एवं समाज की मांग के अनुरूप प्रगति एवं समृद्धि हेतु प्रचलित अव्यवस्थित भौतिकवादी व्यवस्थाओं और नैतिक विशृंखलन ने प्रादुर्भूत हुई समस्याओं का निराकरण साथ ही वैचारिक वैविध्य के वर्तमान समय में उन वैदिक परम्पराओं व मान्यताओं के सूक्ष्म विश्लेषण का प्रयास है, जिसकी समसामयिक परिवेश में महती आवश्यकता है। इसके अन्यत्र विशेषकर उन विवादित विषयों को, जैसे— नारीविरोधी वचन, शूद्रविरोधी और कठोर दण्ड-विधान को और उसके साथ ही वर्तमान विधिक व्यवस्थाओं के दोषों के निराकरण की विवेचना का प्रयास किया गया है।

वर्तमान समय में भारतीय विधि तथा न्याय-प्रणाली के अत्यधिक जटिल, व्ययसाध्य तथा विलम्बशील होने के कारण अनेक बार यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या कोई ऐसी प्रणाली या प्रक्रिया हो सकती है जो जनसाधारण को समुचित तथा सरल रूप से विधि का ज्ञान करा सके तथा शीघ्र एवं स्वल्प व्यय के साथ न्याय दिला सके? इसके लिए हमें प्राचीन संविधान तथा न्याय-व्यवस्था का ज्ञान होना आवश्यक है। आज के लोकतान्त्रिक युग में पारम्परिक अर्थ में राजा नहीं रहे। उनका स्थान शासक वर्ग ने ले लिया। एक से अधिक व्यक्तियों को समूह राजा का स्थान ले चुका है। सिद्धान्ततः राजा के अधिकार उन्हें मिल चुके हैं और राजा के कर्तव्यों का निर्वाह भी उन्हीं के जिम्मे है। अधिकारों के मामले में तो वह काफी आगे हैं, किन्तु दायित्वों के क्षेत्र में उनका कार्य चिन्ताजनक है। उन्होंने दण्ड की प्रक्रिया को पेचीदा, समयसाध्य, अपराधी के प्रति नरमीवाला बना डाला है, इसलिए प्रतिदिन अपराध बढ़ रहे हैं।

मनुस्मृति के आधार पर प्राचीन समय में विधि-निर्माण की प्रक्रिया का बोध होता है और भारतीय न्याय-व्यवस्था का व्यावहारिक रूप भी उपलब्ध होता है। मनुस्मृति का पर्यायलोचन करके उसके गुणों को समझा जा सकता है तथा वर्तमान न्याय-व्यवस्था में इसका लाभ उठाया जा सकता है। प्राचीन न्याय-व्यवस्था में राजकीय कानूनों का बारीकी से ज्ञान होना अनिवार्य नहीं था। उस समय का न्याय एक प्रकार से प्राकृतिक तथा स्वाभाविक था, वादी तथा प्रतिवादी स्वयं ही अपने पक्ष को प्रस्तुत करते थे। इससे वस्तुस्थिति का आकलन अधिक सही होता था। इस प्रक्रिया में बिचौलिये (वकील) प्रायः नहीं रहते थे, भ्रष्टाचार की सम्भावना न्यूनतम थी, मुकदमों में व्यय भी कम होता था।

वादों का निर्णय बहुत कुछ स्वाभाविक था, जिसके लिए एक मानक अवधि को महत्त्व दिया गया है।

वर्तमान समय में कानूनों के बहुत जटिल होने, सामान्यजन की समझ से बाहर होने और बिचौलियों के मध्य में होने के कारण मुकदमों में निर्णयों में बहुत विलम्ब होता है। इससे भ्रष्टाचार की सम्भावना में भी वृद्धि होती है, अनेक बार तो मुकदमों में इतना समय लग जाता है कि वादी अपने जीवन में न्याय नहीं प्राप्त कर पाता। इस प्रकार वर्तमान समय के विधि-कानूनों के अत्यधिक जटिल और पेचीदा होने से, न्याय-प्रणाली के अत्यधिक व्ययसाध्य और विलम्बशील होने के कारण सीधा-सच्चा व्यक्ति अपनी सत्य बात को कहने के लिए न्यायालय में जाने का साहस नहीं जुटा पाता। न्यायालय की यह समस्या कुव्यवस्था ब्रितानी शासन की देन है।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'मनु का दण्ड-विधान' मनुस्मृति में प्रतिपादित दण्ड-विधानों पर विद्वान् लेखक डॉ० हर्षवर्धन सिंह तोमर द्वारा किया गया शोध-कार्य है। डॉ० तोमर प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के शोधकर्ता होने के साथ-साथ विधि के भी विद्यार्थी हैं, जिससे कानून की पेचीदगियों को भली प्रकार से समझते हैं। इन्होंने सुगम और बोधगम्य भाषा में अपराध और दण्ड के सन्दर्भ में मनुस्मृति से संबंधित विवादों, प्रश्नों पर पक्षपातरहित नवीन दृष्टिकोण से सप्रमाण और युक्तियुक्त विवेचन किया है; वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों से मनु के भावों को उद्घाटित एवं पुष्ट किया है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ न केवल विधि के विद्यार्थियों और विद्वानों के लिए अपितु राजनीति, समाजशास्त्र और इतिहास के विद्यार्थियों के लिए भी लाभकारी है, विशेषकर उनके लिए जिन्हें संस्कृत-भाषा का पर्याप्त ज्ञान नहीं है।

—रत्नेश कुमार त्रिपाठी \*

\* कार्यालय-सचिव, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना; शोध-सहायक, भारतीय पुराण अध्ययन संस्थान, बाबा साहेब आपटे स्मृति भवन, केशव-कुञ्ज, झण्डेवाला, नयी दिल्ली-110 055; दूरभाष : 011-23675667, 45075911; सचलभाष : 09210312911; ई-मेल : ratneshgkp@gmail.com

# अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना

दशम राष्ट्रीय अधिवेशन

AKHILA BHĀRATĪYA ITIHĀSA SAṅKALANA YOJANĀ  
10th National Conference

मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्दशी-पौष शुक्ल प्रतिपदा, कलियुगाब्द 5116

दिनांक 24-26 दिसम्बर, 2015

मैसूर (कर्नाटक)

## प्रथम सूचना परिपत्र

अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना का दशम राष्ट्रीय अधिवेशन अ०भा० इतिहास संकलन योजना एवं डॉ० गंगूबाई हंगल म्यूज़िक एण्ड परफॉर्मिंग आर्ट्स यूनिवर्सिटी, मैसूर के संयुक्त तत्वावधान में मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्दशी-पौष शुक्ल प्रतिपदा, कलियुगाब्द 5116, तदनुसार दिनांक 24-26 दिसम्बर, 2015 को मैसूर (कर्नाटक) में होना सुनिश्चित हुआ है। सुरम्य प्राकृतिक वातावरण में स्थित प्राचीन ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक नगर मैसूर, भारतीय संस्कृति का पुनीत क्षेत्र रहा है। इस राष्ट्रीय अधिवेशन में पूर्व की भाँति 'योजना' से सम्बद्ध सभी प्रान्तीय इतिहास संकलन समितियों के सदस्य प्रतिभाग करेंगे। इनके अतिरिक्त योजना से सम्बद्ध विविध प्रकल्पों के सदस्य एवं विद्वान् भी इसमें सादर आमन्त्रित हैं।

इस राष्ट्रीय अधिवेशन का केन्द्रीय विषय 'भारतीय संस्कृति में नारी : अतीत से वर्तमान तक' प्रस्तावित है जिस पर शोध-पत्र आमन्त्रित हैं। इस विषय के अतिरिक्त निम्नलिखित विषयों पर भी शोध-पत्र आमन्त्रित हैं जो इस प्रकार हैं : 1. इतिहास लेखन, 2. पुराणांतर्गत इतिहास, 3. जनजातीय इतिहास, 4. जनपदीय इतिहास, 5. विविध (पुरातत्त्व, अभिलेख, मुद्राशास्त्र, कला एवं स्थापत्य, भारत का विश्व में सांस्कृतिक प्रसार इत्यादि)।

अतः आपसे अनुरोध है कि उर्पयुक्त विषयों में से किसी एक का चयनकर अपना शोध-पत्र दिनांक 30 सितम्बर, 2015 तक तथा अपनी स्वीकृति एवं सारांश यथाशीघ्र निम्नलिखित पते पर प्रेषित करें—

डॉ० रत्नेश कुमार त्रिपाठी

कार्यालय-सचिव, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना

बाबा साहेब आपटे स्मृति भवन, केशव-कुञ्ज', झण्डेवाला, नयी दिल्ली-110 055

दूरभाष : 011-23675667, 45075911; सचलभाष : 09210312911

ई-मेल : abisy84@gmail.com

भवदीय

( डॉ० शरद हेबाळकर )

महासचिव, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना

॥ नामूलं लिख्यते किञ्चित् ॥

# इतिहास दर्पण ITIHAS DARPAN

ISSN 0974-3065

(Biannual Research Journal of Akhila Bhāratīya Itihāsa Saṅkalana Yojanā)

Please send my copy through

COURIER ☐ REGISTERED BOOK POST ☐ on this address :

Name : .....  
Date of Birth : .....  
Designation : .....  
Address : .....  
..... PIN 

--	--	--	--	--	--

  
Tel./Mob. No. : .....  
e-mail : .....

Life Membership (15 Years) Personal ₹ 3,000 ☐ Institutional ₹ 5,000/- ☐

Payment : Money order ☐ Cheque ☐ D.D. ☐

Cheque/D.D. No. : ..... Bank .....

Cheque/D.D. in favur of 'इतिहास दर्पण' ('Itihas Darpan') send to the following address :

**Akhil Bhartiya Itihas Sankalan Yojana**

**Baba Sahib Apte Smriti Bhawan, 'Keshav Kunj'**

**Desh Bandhu Gupta Marg, Jhandewalan, New Delhi-110 055**

**Date** :.....

**Member's Signature**.....

